श्री हित हरिवंश गोस्वामी:
संप्रदाय और साहित्य

लेखक :

ललिताचरण गोस्वामी

बी. ए., एल-एल. बी.



भूमिका-लेखक :

डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी



प्रकाशक :

वेणु प्रकाशन, वृंदावन ।

मूल्य ६।।)

प्रकाशक :
वेणु प्रकाशन,
वृंदावन (उ. प्र.)

सं० २०१४ वि०

मुद्रक :
त्रिलोकीनाथ मीतल
भारत प्रिन्टर्स, मथुरा.

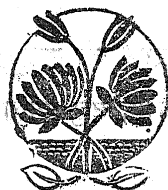
निकुञ्जगत पं० मथुराप्रसाद (भजन सहायक दास)

को

सस्नेह

भजन सहायक दास, जो कछु तुम संग्रह कियौ ।
ताही कौ विन्यास, लघु प्रयास, अर्पित तुमहिं ॥

—लेखक



आभार-दर्शन

इस ग्रन्थ के संकल्प से लेकर प्रूफ-संशोधन तक मित्रवर पं० रामकृष्णदेव गर्ग शास्त्री, एम. ए. ने स्वयं मेरे ही समान कार्य किया है और इसके लिये उन्हें धन्यवाद देकर मैं स्वयं को धन्यवाद देना नहीं चाहता। इनके अतिरिक्त मेरे गोस्वामि-बन्धुओं के वाणी-संग्रहों और परामर्शों का पूर्ण लाभ मुझे प्राप्त होता रहा है। गोस्वामिगण में सर्वश्री ब्रजभूषणलाल गोस्वामी, रूपलाल गोस्वामी, वृन्दावन वल्लभ गोस्वामी, ब्रजवल्लभलाल गोस्वामी, ब्रजजीवनलाल गोस्वामी, मनोहरलाल गो०, देवकीनन्दनलाल गोस्वामी और नवललाल गोस्वामी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्री हितानन्द गोस्वामी और श्री मुकुटवल्लभ गोस्वामी के सुरुचिपूर्ण सुझावों से भी मैंने बहुत लाभ उठाया है। संप्रदाय के विरक्त और गृहस्थ अनुयायिओं का पूर्ण सहयोग मुझको प्राप्त हुआ है और मैं सब लोगों का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखकर मुझको अत्यन्त अनुगृहीत किया है। श्री द्विवेदी जी को भूमिका के लिये दो बार प्रयास करना पड़ा है। कई मास पूर्व उन्होंने वर्तमान भूमिका से लगभग दुगुनी बड़ी भूमिका लिखकर मेरे पास भेजी थीं, किन्तु वह डाक-विभाग की लापरवाही के भेंट हो गई और वर्तमान भूमिका उनको पुनः लिखनी पड़ी। मुझ जैसे व्यक्ति के प्रति श्री द्विवेदी जी ने जो आत्मीयता दिखलाई है, उसका समुचित उत्तर औपचारिक कृतज्ञता-ज्ञापन से नहीं हो सकता।

अग्रवाल प्रेस के मालिक बाबू प्रभुदयाल जी मीतल धैर्य पूर्वक मेरे अनेक संशोधनों और परिवर्धनों को सहन करते रहे। उनके अनन्य साधारण स्नेह के कारण ही यह संभव हुआ है।

बसंत पंचमी,
सं० २०१४

—ललिताचरण गोस्वामी

प्रकाशक का निवेदन

यह ग्रन्थ १४ अक्टूबर सन् १९५६ को प्रेस में दे दिया गया था। नवम्बर के अन्त में लेखक महोदय ने प्रेस-पांडुलिपि वापस मँगाली और ग्रन्थ के एक बड़े भाग को पुनः लिखना आरम्भ कर दिया। चालू वर्ष के अगस्त मास में ग्रन्थ का मुद्रण पुनः आरम्भ हुआ, किन्तु लेखक ग्रंथ के लिए नया मैटर तैयार करते ही रहे और यह क्रम छपाई समाप्त होने तक चलता रहा है।

हमारी संस्था के प्रथम प्रकाशन के रूप में यह ग्रंथ आपके हाथ में है। इसके लिए हम आदरणीय गोस्वामी जी के अत्यन्त कृतज्ञ हैं। इस ग्रन्थ का एक अंश नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६१ संवत २०१३ अङ्क १ में 'उज्ज्वल प्रेमरस-संबंधी राधावल्लभीय दृष्टिकोण' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है। यह अंश इस ग्रन्थ में 'हित की रस-रूपता' (पृ० ९४) नाम से ग्रथित है।

'वेणु प्रकाशन' की स्थापना ब्रज-साहित्य से संबंधित पुस्तकों के प्रकाशन को यथा संभव सरल और सस्ता बनाने के उद्देश्य से की गई है। किसी संप्रदाय विशेष से इसका सम्बन्ध नहीं है और न यह साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को प्रोत्साहन ही देना चाहता है। अधिकारी विद्वानों द्वारा तटस्थ वृत्ति से लिखे हुए इस साहित्य के ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक विवेचनों के प्रकाशन को ही इसमें प्रधानता दी जायगी। आशा है, व्रज-साहित्य के प्रेमी इस पुनीत कार्य में हमें सहयोग प्रदान करेंगे।

—प्रकाशक

विषयानुक्रमणिका

चरित्र

श्री हरिवंश-चरित्र के उपादान

सिद्धान्त

प्रमाण ग्रन्थ

प्रमेय

उपासना–मार्ग

साहित्य

संप्रदाय का साहित्य

श्रीहित हरिवंश काल

श्री ध्रुवदास काल

अर्वाचीन काल

ब्रजभाषा गद्य

संस्कृत साहित्य

भूमिका

(१)

सन् ईसवी की पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी भारतीय इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है। इस काल में यद्यपि विजातीय संस्कृति के संघर्ष से भारतीय संस्कृति के विकास की स्वाभाविक गति कुंठित हो गई थी, तथापि उसमें प्राणशक्ति बची हुई थी। अवसर पाते ही उसने अत्यन्त शक्तिशाली मनीषियों को जन्म दिया। प्रधान रूप से भक्ति और धर्म के क्षेत्र में ही यह नव जागरण दिखाई दिया। इस काल में स्वामी रामानंद, महाप्रभु बल्लभाचार्य, महाप्रभु चैतन्यदेव, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, गोस्वामी हितहरिवंश, सूरदास, कबीरदास, नामदेव, नानक आदि एक से एक शक्तिशाली महापुरुष पैदा हुए और उन्होंने मूर्छित भारतीय संस्कृति को नया जीवन प्रदान किया। यह सब कैसे हुआ, यह कहना बड़ा कठिन है। इतिहास बताता है कि जब-जब भारतीय संस्कृति संकटापन्न हुई, तब-तब कोई अज्ञात शक्ति उसे एक दम मृत हो जाने से बचा लेती है। सन् ईसवी की १६ वीं शताब्दी में फिर एक बार यह प्रक्रिया देखी गई। इस काल में उसे केवल धर्ममूलक संस्कृति से ही नहीं निबटना पड़ा, परन्तु नवीन विज्ञान से उत्पन्न अज्ञातपूर्व परिस्थियों से भी टकराना पड़ा। इस समय इसके पुरातन प्राणबल ने साथ दिया। एक से एक बढ़कर महात्मा, समाज-सुधारक, कवि नेता और राजपुरुष पैदा होते गये और उसे कालकवलित होने से बचा लिया। निस्सन्देह भारतीय संस्कृति के भीतर कोई अदम्य प्राण-शक्ति है, जो विषम परिस्थियों में पूरी शक्ति से जाग उठती है और उसे नया जीवन और नई ताक। देती रहती है।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में मनुष्य जीवन को चालित और प्रेरित करने वाली मुख्य शक्ति धर्म-साधना थी। समूचे संसार में यह काल कुंठित और उबटी हुई मनोवृत्ति का काल माना जाता है। सारे संसार के मनुष्य उन दिनों यह विश्वास करने लगे थे कि संसार अब क्रमशः ह्रास की ओर जा रहा है। जो कुछ भी उत्तम था वह पूर्ववर्ती काल में समाप्त हो चुका है। अब कुछ नया करने को रह नहीं गया है, इसीलिए सर्वत्र प्राचीन ऋषियों, पैगम्बरों और देवदूतों की वाणियों पर श्रद्धा और आस्था पाई जाती है। जो कुछ नया कहा जाता था, उसके लिये पुराने शास्त्रों से प्रमाण ढूँढा जाता था। भारतवर्ष में उन दिनों शास्त्रों की टीकाओं का युग चल रहा था। किसी को कुछ कहना होता था तो एक बार पीछे मुड़ कर प्राचीन शास्त्र-वाक्यों को अवश्य देख लेता था। भारतवर्ष में इस काल में ज्ञान के क्षेत्र में नई उद्भावनाएँ हुई ही नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता; परन्तु नवीन उद्भावनाओं के लिए प्राचीन ग्रन्थों का सहारा अवश्य लिया जाता था। थोड़े से मनीषी अवश्य थे, जो 'अनभै साँचपन्थ' या अनुभवगम्य सत्य मार्ग पर चलने का प्रयास करते थे; परन्तु वे लोग साधारणतः विद्रोही माने जाते थे और विद्वानों की दृष्टि में अक्षर-ज्ञान से वंचित होने के कारण भ्रान्त मार्ग पर चलने वाले थे। 'स्वसंवेद्य ज्ञान' की महिमा अस्वीकृत नहीं हुई थी। सभी मानते थे कि एक ऐसी अवस्था आती है जब मनुष्य के लिए विधि-निषेध-परक शास्त्र-ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती, वह निस्त्रैगुण्य मार्ग में विचरण करने लगता है, उसकी अन्तरसत्ता इतनी शुद्ध और निर्मल हो जाती है कि सामाजिक विधि-निषेध की मर्यादा उसके लिये बहुत महत्व की नहीं रह जाती, परन्तु ऐसे बड़भागी जीव कम ही होते हैं और सर्व-सम्मति से स्वीकृत तो कदाचित् कभी नहीं होते। इसीलिये व्यवहार में निरन्तर शास्त्र-निर्दिष्ट मर्यादा पर जोर दिया जाता था।

ऐसे ही समय में भक्तों का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने भगवत्प्राप्ति के लिये जहाँ चित्तशुद्धि और पवित्र आचार पर जोर दिया, वहीं दृप्त कंठ से यह भी घोषणा की कि भगवान् भाव के भूखे हैं। 'भाव' अर्थात् 'होना'। प्रत्येक व्यक्ति का अपना कुछ भाव है। उसी के लिये वह जीता है और उसी को सच्चिदानन्दघन भगवान् को समर्पण करके उसका जीवन चरितार्थ होता है। भाव सैंकड़ों हैं। परमात्मा से मनुष्य के नाते अनेक हैं, परन्तु वह जो है अर्थात् उसका जो भाव है, उसे अनेक प्रयत्न और साधना के बाद वह ठीक-ठीक अनुभव कर पाता है। इसी भाव को पाने के लिये साधना की आवश्यकता होती है। प्रिया-भाव से, पत्नी-भाव से, सखी-भाव से, सखा-भाव से, पुत्र-भाव से, पितृ-भाव से, भ्रातृ-भाव से मनुष्य भगवान् को प्राप्त कर सकता है, क्यों कि वे ही समस्त भावों के आश्रय और लक्ष्य हैं। इस काल के अनेक सन्तों ने भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने के लिये अनेक भावों से साधन करने का मार्ग ग्रहण किया। मधुर-भाव की उपासना इस काल की मुख्य देन है। जिन सन्तों ने इस माधुर्य साधना पर बल दिया उनमें महाप्रभु चैतन्यदेव और गोस्वामी हितहरिवंश का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। चैतन्य सम्प्रदाय के भक्तों ने जहाँ एक ओर भाव गद्‌गद् भजन और अन्य प्रकार के साहित्य का निर्माण किया, वहाँ अपनी विशेष दृष्टि को स्पष्ट करने वाले शास्त्र-जातीय ग्रन्थों की भी रचना की। परवर्ती काल में इन शास्त्रीय ग्रन्थों ने भक्तिक्षेत्र में बड़ा प्रभाव विस्तार किया, परन्तु गोस्वामी हित-हरिवंश के शिष्य-प्रशिष्यों ने केवल भावभरी वाणियों की ही रचना की। उन्हें जो कुछ कहना था, उसे वे वाणियों में ही सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते रहे। इसीलिये यद्यपि उनकी दृष्टि चैतन्य महाप्रभु के भक्तों की अपेक्षा भिन्न और कई बातों में स्वतन्त्र थी, तथापि शास्त्रीय ग्रन्थों के रूप में उसका परिष्करण नहीं हो पाया। इस परिष्करण की ओर इधर विद्वानों का ध्यान गया है।

आदरणीय गोस्वामी ललिताचरण जी हित-सम्प्रदाय के मर्मज्ञ पण्डित और भक्त हैं। उन्होंने सम्प्रदाय के सन्तों की वाणियों का पूर्ण अध्ययन और मनन किया है। साथ ही वे अन्य सम्प्रदायों के शास्त्रीय ग्रन्थों से पूर्णतया परिचित हैं। उन्होंने बड़े परिश्रम से गोस्वामी हित-हरिवंश और उनके भक्तों की लिखी वाणियों से शास्त्रीय-सिद्धान्त खोज निकाले हैं और इस ग्रन्थ में प्रमाण पुरस्सर प्रतिपादन किया है। गोस्वामी जी इस विषय के अधिकारी विद्वान हैं। उन्होंने आग्रह किया मैं इस पुस्तक की भूमिका लिखूँ, परन्तु मैं अनुभव करता हूँ कि मैं उस विषय को स्पर्श करने का भी अधिकारी नहीं हूँ। कुछ ऐतिहासिक तथ्यों की छानबीन कर लेना और बात है और आत्माराम भगवद्भक्तों के विचार-क्षेत्र के वास्तविक जगत में प्रवेश करना और बात है। पुस्तक पढ़कर मुझे सन्तोष हुआ। गोस्वामी जी ने बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया है।

इधर विश्वविद्यालयों में जब से शोध-कार्य आरम्भ हुआ है तब से यह अनुभव किया जाने लगा है कि भिन्न-भिन्न वैष्णव सम्प्रदायों के विशिष्ट दृष्टिकोणों का ठीक-ठीक ज्ञान कराने वाले ग्रन्थ लिखे-लिखाए जाँय। गोस्वामी हितहरिवंश और उनके सम्प्रदाय के सम्बन्ध में भी शोध हो रहे हैं। एक-आध अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, फिर भी गोस्वामी जी के इस प्रयत्न का विशेष महत्व है। गोस्वामी जी प्राचीन शास्त्रों के पण्डित हैं और स्वयं इस मार्ग के साधक हैं। उनके हाथों से जो ग्रन्थ लिखा गया है, वह निस्संदेह महत्वपूर्ण होगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मध्यकालीन भक्ति-साहित्य के अनुरागी इस ग्रन्थ का समादर करेंगे।

दीपावली,
सं० २०१४ वि०

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रस्तावना

श्री राधावल्लभीय सम्प्रदाय की स्थापना विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में श्री हित हरिवंश गोस्वामी के द्वारा हुई थी। इसी शताब्दी में श्रीमद्वल्लभाचार्य एवं श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने सम्प्रदायों की स्थापना की थी। श्रीमद्बल्लभाचार्य ने अपने सम्प्रदाय का केन्द्र गोवर्धन एवं गोकुल को बनाया और चैतन्य सम्प्रदाय एवं राधावल्लभीय सम्प्रदाय का केन्द्र वृन्दावन बना। लगभग एक ही काल में दो भक्ति-आन्दोलन दो विभिन्न दिशाओं से आकर वृन्दावन में केन्द्रित हुए। चैतन्य-संप्रदाय का आगमन पूर्व दिशा से हुआ। यह प्रेम-प्रधान भक्ति-आन्दोलन था जो सम्पूर्ण तया पुराणों पर—विशेषतया श्रीमद्भागवत पुराण पर—आश्रित था। श्रीमद्-भागवत में वर्णित श्रीकृष्ण-लीला ही इस सम्प्रदाय में ऐकान्तिक प्रेम का आलंबन है। राधावल्लभीय संप्रदाय का आगमन पश्चिम से हुआ। यह भी प्रेम-प्रधान भक्ति-आंदोलन था। पूर्व से आनेवाले आन्दोलन से इसका सब से बड़ा भेद यह था कि यह पौराणिक परम्पराओं के बन्धन में भी पूर्णतया नहीं रहना चाहता था और अपने प्रवर्त्तक के प्रेम-दर्शन पर ही प्रधानतया आधारित था।

वैष्णव-उपासना के विकास-क्रम को देखने से मालूम होता है कि इस उपासना में साधन के रूप में सदैव प्रेम का

विशिष्ट स्थान रहा है । पांच-रात्र की चतुर्व्यूह उपासना में निर्भर प्रेम ही भगवत्-प्राप्ति का मुख्य साधन है ।

प्रेम के अद्भुत गुणों पर उपासकों की दृष्टि ज्यों-ज्यों पड़ती गई, त्यों-त्यों वह साधन के साथ साध्य भी बनता गया। वैष्णव-उपासना में साध्य किंवा उपास्य भगवान थे । अतः प्रेम को साध्य मानने के लिये उसको भगवान का समकक्ष स्वीकार किया गया । अनुभवियों ने देखा कि भगवान भी प्रेम के वश में हो जाते हैं और वह उनसे भी अधिक सामर्थ्यशाली हैं, अतः भगवान को प्रेमाधीन स्वीकृत किया गया । यहाँ तक का कार्य श्रीमद्भागवत में हो चुका था और भगवान की प्रेमवश्यता सम्पूर्णतया स्थापित हो चुकी थी । "गीत-गोविन्द" ने इस प्रेमाधीनता को और भी अधिक स्पष्ट एवं पूर्ण बनाया ।

सोलहवीं शताब्दी में प्रेमोपासना की जो उद्दाम लहर उठी उसमें प्रेम के स्वतंत्र स्वरूप पर भी सूक्ष्म विचार किया गया। प्रेम एक सर्वथा स्वतंत्र तत्त्व है, इस बात को हमारा नित्य का अनुभव प्रमाणित करता है। हम देखते हैं कि न तो यह स्वेच्छानुसार उत्पन्न किया जा सकता है और न नष्ट ही किया जा सकता है। वास्तव में एक परम मधुर विवशता का नाम ही प्रेम है। आश्चर्य तो यह है कि स्वयं प्रेमी को भी इसकी गति-विधि का पूरा पता नहीं चलता। जिसका सुदूर स्पर्श पाकर साधारण जीव से लेकर भगवान तक प्रमत्त हो जाते हैं और अपनी सुध-बुध खो बैठते हैं, उस प्रेम-सागर की थाह का अवगाहन कौन कर सकता है ?

साधारणतया प्रेमी भक्तों ने इसको भगवान का अभिन्न गुण किंवा उनकी स्वरूपभूता शक्ति माना है और भगवान को इसके परवश माना है। भगवान और भगवान के गुण किंवा शक्ति में से वास्तविक स्वतंत्रता किसी एक की ही हो सकती है। यदि हम शक्ति को स्वतंत्र मानें तब तो वैष्णव-सिद्धान्त एवं शाक्त-मत में बहुत थोड़ा अंतर रह जाता है, जो अभीष्ट नहीं हो सकता; और यदि भगवान को वास्तविक रीति से स्वतंत्र मानते हैं, तो प्रेम की सहज स्वतंत्रता बाधित होती है और भगवान की प्रेम-परवशता औपचारिक रह जाती है, और यह बात भी प्रेमी उपासक को रुचिकर नहीं होती। इस द्विविध कठिनाई से बचने के लिये एवं प्रेम की परम साध्यता को निर्विवाद स्वीकार करने के लिये यह आवश्यक था कि प्रेम को ही भगवान किंवा परम तत्त्व माना जाय और भगवत्ता को उसका अन्यतम गुण माना जाय। इस प्रकार प्रेम की परमाराध्यता स्पष्ट रूप में स्थापित हो जाती है और भगवत्ता नित्य रूप से उसके आधीन हो जाती है।

प्रेम एक सम्बन्ध-विशेष का नाम है, या यों कहिये कि वह एक सम्बन्धात्मक तत्त्व है। सम्बन्धात्मक तत्त्व को हम शुद्ध अद्वय तत्त्व नहीं कह सकते, क्यों कि सम्बन्ध सदैव दो या दो से अधिक के बीच रहता है। यह बात अन्य सम्बन्धों के बारे में सत्य हो सकती है, किन्तु प्रेम-सम्बन्ध दो के बीच रह कर दो को सर्वथा एक किये रहता है। इस सम्बन्ध के द्वारा

निष्पन्न एकता नितान्त सहज एवं सत्य होती है। प्रेम में जितने सत्य "दो" हैं, उतना ही सत्य "एक" है; अतः नित्य-सम्बन्धात्मक रहते हुए भी प्रेम नित्य-अद्वय तत्त्व है। विचार करने पर मालूम होता है कि वैष्णव किंवा भागवत तत्त्व ही सम्बन्धात्मक तत्त्व है, चाहे उसमें शक्ति-शक्तिमान का सम्बन्ध हो, चाहे गुण और गुणी का, और चाहे विशेषण और विशेष्य का, उसमें सम्बन्ध की सत्ता अवश्य है और सम्बन्ध के रहते हुए भी वह अद्वय तत्त्व है। प्रेम भी भागवत तत्त्व है। इसके सम्बन्धात्मक सम्पूर्ण स्वरूप का परिचय श्वेताश्वतर उपनिषद् की इस प्रसिद्ध श्रुति से प्राप्त होता है कि "इस ब्रह्म को भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता के त्रिविध रूप में मान कर सम्पूर्ण बतलाया गया है। "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्" (श्वेता० १–१२) इसका अर्थ यह हुआ कि अद्वय ब्रह्म-तत्व भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता के रूप में त्रिविध समझना चाहिये। प्रेम में प्रेमी "भोक्ता" है, प्रेम-पात्र 'भोग्य' है और इन दोनों की परस्पर की रति का स्वरूप "प्रेरिता" प्रेम है जो इन दोनों के भीतर-बाहर स्थित रह कर इनका पोषक, नियामक एवं प्रेरक होता है। प्रेम के एकत्व-विधायक—दो को एक बनाने वाले—स्वभाव के कारण भोक्ता और भोग्य एक दूसरे में डूब जाने के लिये सदैव उन्मुख रहते हैं, किन्तु प्रेरक प्रेम उन दोनों को अपने भिन्न स्वरूपों में स्थित रख कर प्रेम की लीला को अक्षुण्ण बनाये रखता है। रति एवं उसके भोक्ता—भोग्य-स्वरूप उभय कारणों के योग से

प्रेम का नित्य लीलामय सम्पूर्ण स्वरूप निष्पन्न होता है। विलक्षणता यह है कि प्रेम में रति अपने कारणों से आसक्त है। अतः ईश्वर के समान नहीं, सहचरी किंवा दासी के समान वह उनकी प्रेरक होती है। भगवत्-स्वरूप प्रेम के तीनों अंग प्रेम-स्वरूप हैं एवं तीनों अंगों में रति एवं उसके कारण का योग होने से तीनों ही रस स्वरूप हैं। भोक्ता की रति का कारण भोग्य है और वह भी उससे नित्य-संयुक्त है। इसी प्रकार भोक्ता–भोग्य की पारस्परिक रति के कारण वे दोनों हैं और वे भी उस रति से नित्य-संयुक्त हैं। यह तीनों सहज रूप से परस्पर आश्रित हैं; रति अपने कारणों के आश्रित है और रति के कारण रति के आश्रित हैं।

अनन्य प्रेमियों के भजन-रस की निष्पत्ति के लिये यह नित्य-लीलामय प्रेम श्री नंदनंदन, श्री वृषभानु-नंदिनी, सहचरी गण एवं श्री वृन्दावन के रूप में नित्य प्रगट है। श्रीनंदनंदन भोक्ता हैं, श्री वृषभानुनंदिनी भोग्य हैं एवं सहचरी-गण और वृन्दावन प्रेरिता प्रेम के स्वरूप हैं। नित्य-लीला-परायण होने के कारण यह प्रेम लोक और वेद में 'रस' नाम से प्रसिद्ध है। तैत्तिरीय उपनिषद् की "रसो वै सः" श्रुति में, 'सः' से तात्पर्य प्रेमा से है, जो निश्चित रूप से रस-स्वरूप है। रस-स्वरूप होते हुए भी यह रस की ही नित्य नूतन उपलब्धि करके आनंदित होता है, 'रस एवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति'।

लोक में प्रेम का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है वह भी कारण का योग पाकर ही व्यक्त होता है, किन्तु लोक के

संपूर्ण कारण विकार-युक्त हैं। अतः उनके योग से निष्पन्न होने वाला प्रेम-स्वरूप विकार-युक्त होता है। प्रेम के उपासकों ने सर्व-विकार-शून्य एवं सर्व दिव्य गुणों के आश्रय श्रीभगवान को प्रेम का कारण बनाकर प्रेम के शुद्धतम रूप को प्रत्यक्ष करना चाहा है, किन्तु भगवान के साथ उनका अनंत ऐश्वर्य भी है जो प्रेम की सहज आधीनता के साथ नहीं खपता। प्रेमोपासक को उनके ऐश्वर्य अंग को प्रेम के राज्य से बाहर रखने के लिये सदैव जागरूक रहना पड़ता है, और इतने पर भी वह अपने प्रेमानुभव को भगवदैश्वर्य के हस्तक्षेप से बचाने में समर्थ नहीं होता। उधर भक्ति के पोषण के लिये उपास्य तत्व में किसी प्रकार का ऐश्वर्य आवश्यक होता है। भगवद्-स्वरूप प्रेम को ही उपासक के प्रेम का कारण मानने पर प्रेम का अमित माधुर्य ही उपासक के चित्त में प्रेम-भक्ति का उदय कर लेता है। प्रेम का सहज माधुर्य अमित वैभवशाली है और वही इसकी भगवत्ता का आधार है। राधावल्लभीय सिद्धान्त में माधुर्य-विहीन ऐश्वर्य की पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। सम्पूर्ण भगवद्-स्वरूप एवं उनके उपासक, सम्पूर्ण दृश्य–अदृश्य प्रपंच एवं उसके अभिमानी देवगण तथा संपूर्ण जीव-सृष्टि भगवद्-स्वरूप प्रेम की मधुर लीला की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं और प्रेम दृष्टि के द्वारा ही उनके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है। जिन आँखों में प्रेम बस गया है वही जीव, जगत एवं ब्रह्म के वास्तविक प्रेम-स्वरूप का दर्शन करती हैं, और वह स्वरूप इन तीनों के लौकिक अथ च वैदिक स्वरूपों

से सर्वथा विलक्षण होता है। जीव, जगत और ब्रह्म के स्वरूपों के संबंध मैं वैदिक ऋषियों में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है और उसी के आधार पर वेदान्त के सारे संप्रदाय टिके हैं। किन्तु इनको प्रेमांजनच्छुरित नेत्रों से देखने पर सभी प्रेमियों को यह एक-मात्र प्रेम-स्वरूप दिखलाई देते हैं।

परम तत्व को ज्ञान-स्वरूप मानने वाली श्रुतियों ने द्रष्टा और दृश्य की एकता को परम ज्ञान का लक्षण बतलाया है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य इस तथ्य का सूचन करता है और अनेक श्रुतियों ने नानात्व का निषेध किया है। प्रेम दृश्य का द्रष्टा सदैव प्रेम ही होता है। अतः द्रष्टा-दृश्य की अभिन्नता प्रेम को सहज सिद्ध है और इसीलिये हम प्रेम की दृष्टि को मिथ्या नहीं कह सकते। प्रेम की दृष्टि को पक्षपातपूर्ण समझा जाता है और यह सत्य भी है। भवभूति ने प्रेम को ही एक "अहैतुक पक्षपात" बतलाया है, किन्तु प्रेम का यह पक्षपात अपने प्रति पक्षपात है—आत्म-पक्षपात है और यह उसका दोष न होकर भूषण है। प्रेम की दृष्टि अपने प्रति पक्ष-पातिनी होकर केवल प्रेमको ही ग्रहण करती है। ज्ञान भी आत्म-पक्षपाती है और सदैव अपने को ही—ज्ञान को ही—लक्षित करता है।

प्रेम-दृष्टि की यथार्थता एवं द्रष्टा-दृश्य की पारमार्थिक अभिन्नता का प्रतिपादन करने के बाद राधावल्लभीय विचारकों के लिये दृश्यमान प्रपंच की तात्विक गवेषणा का कोई मूल्य नहीं था और उनके द्वारा की गई इस सम्बन्ध की कोई ऊहापोह प्राप्त नहीं है। इसके विरुद्ध इन प्रेमी संतों के ऐसे

अनेक वाक्य मिलते हैं जिनमें उन्होंने उपासकों को इस झमेले में न पड़ कर केवल अपनी प्रेमोपासना में रत रहने का परामर्श दिया है।

इस सिद्धान्त में उपासना का स्वरूप भी अन्य उपासनाओं से कुछ विलक्षण है। उपासना का आधार माहात्म्य-ज्ञान है और साधारणतया वह भगवदैश्वर्य के द्वारा प्रेरित होता है। भगवत्-स्वरूप प्रेम की उपासना में, जैसा हम अभी देख चुके हैं, प्रेम का अमित माधुर्य ही इस ज्ञान का प्रयोजक होता है। उपासक का हृदय ही नहीं, उसका संपूर्ण अस्तित्व प्रेम के अद्भुत माधुर्य की एक झलक पाकर सदैव के लिये उसके सामते नत हो जाता है। प्रेम के स्वरूप-गत भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता उपासना के क्षेत्र में क्रमशः उपासक, उपास्य और गुरु कहलाते हैं और इन तीनों को एक ही तत्व का त्रिविध रूप मान कर प्रेम की उपासना प्रवृत्त होती है। इस उपासना में उपास्य और गुरु की उपासना के समान ही उपासक की उपासना को महत्व दिया गया है। उपास्य और गुरु तो उपासनीय हैं ही, किन्तु उपासक भी प्रेम का स्वरूप-गत तत्व होने के कारण इन दोनों के समान ही उपासनीय है। श्री हित प्रभु ने प्रेमोपासना को पूर्ण बनाने वाले इस "भक्त-भजन" पर कई स्थलों पर बल दिया है और सेवकजी की वाणी में इस नाम का एक स्वतंत्र एवं समृद्ध प्रकरण ही लगा हुआ है। प्रेम का उपासक प्रेम-स्वरूप है, अतः उसकी उपासना का प्रकार समुद्र में उठने वाली उन तरंगों

के समान बतलाया है जो नित्य नये रूपों में उठ कर समुद्र में ही समाती रहती हैं। इस प्रकार की उपासना में भगवदैश्वर्य-जनित माहात्म्य ज्ञान एवं लौकिक और वैदिक क्रिया-कलापों के लिये अवकाश नहीं रहता। इन दोनों बातों का परित्याग इस उपासना मार्ग में बिलकुल प्रारंभ में ही कर दिया गया है।

सहज लीलामय प्रेम की शाश्वत प्रेम-लीला का नाम "नित्य विहार" है। इस परमानंदमयी लीला में अपने प्रेम-स्वरूप की उपलब्धि करना ही इस उपासना का चरम लक्ष्य है। परम प्रेम की हेतु-रहित आनंदमयी क्रिया का नाम 'लीला' है। इस लीला में प्रकाशित होनेवाले प्रेमानंदमय क्रिया-कलापों की एक अत्यन्त शिथिल एवं टूटी-फूटी झलक लोक की उन सुख-दुख मयी चेष्टाओं में दिखलाई देती है जो शृङ्गार-चेष्टायें कहलाती हैं। इस समानता के आधार पर ही नित्य विहार को शृङ्गारमयी लीला कहा जाता है। किन्तु इन दोनों क्रियाओं के प्रयोजक प्रेम के स्वरूप में बड़ा भारी अंतर है। एक नित्य-निमित्त-रहित एवं सदैव एक-रस रहने वाला है, और दूसरा अनित्य, सहैतुक एवं विषय-विकार-पूर्ण है, किन्तु तत्वतः दोनों उसी प्रकार अभिन्न हैं जिस प्रकार नित्य-शुद्ध-मुक्त श्री भगवान एवं उनका अंश-स्वरूप विषय-विकार-ग्रस्त जीव। तात्विक अभिन्नता के कारण ही नित्य-विहारी भगवत्-स्वरूप प्रेम एवं लोक का विषय-वासनामय शृङ्गारी प्रेम कुछ-कुछ मिलती-जुलती

आकृतियों में प्रकाशित होते हैं। नित्य-विहारी प्रेम के स्वरूप में रस का चरम उत्कर्ष एवं आनंद की परावधि होती है। इस अद्‌भुत प्रेम-स्वरूप की ओर संकेत करने वाला शृङ्गारी प्रेम ही लोक में 'रसराज' की पदवी को प्राप्त होता है और इसमें से प्रगट होने वाले सुख की समता संसार का अन्य कोई सुख नहीं कर पाता। नित्य-विहार-रस एक परम मांगलिक एवं सर्वथा अद्‌भुत रस है। इसकी पवित्र उज्ज्वलता एवं सघन श्यामता को एक साथ व्यञ्जित करने के लिये इस रस के रसिक संतों ने इसको 'वृन्दावन-रस' नाम दिया है और इसी रस में प्रेम के सर्व-स्वतंत्र एवं शुद्धतम रूप की अभिव्यक्ति मानी है।

इस रस से निष्पन्न होने वाले प्रेमानंद का रूप भी अद्‌भुत होता है। विज्ञानानंद के साथ इसकी तुलना करके इस आनंद को कुछ स्पष्ट किया जा सकता है। विज्ञानानंद में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी का लय होकर एकमात्र आत्मानंद किंवा स्वरूपानंद शेष रह जाता है। प्रेम भी परम आनंदमय तत्व है। इसके आदि, मध्य एवं उत्कर्ष में आनंद ही आनंद स्थित है किन्तु विज्ञानानंद से प्रेमानंद दो बातों में विलक्षण होता है। प्रेमानंद में, एक तो, भोक्ता, भोग्य और प्रेरक प्रेम का कभी लय नहीं होता; यह तीनों प्रेमानंद की प्रत्येक अभिव्यक्ति में प्रकाशित रहते हैं। दूसरी विलक्षणता यह है कि प्रेमानंद में परम तृप्ति के साथ परम अतृप्ति की अनुभूति सदैव विद्यमान रहती है, जो इस आनंद को नित्य

नूतन रख कर नित्य वर्धमान बनाये रखती है। प्रेम को आत्मा का स्वरूप मानने वाले राधावल्लभीय संतों ने प्रेमानंद को ही स्वरूपानंद कहा है।

प्रेम एक सहज रूप से नित्य प्रकट तत्व है। यह जहाँ कहीं भी रहता है, प्रगट हुए विना नहीं रहता। राधावल्लभीय सिद्धान्त में इसके 'प्राकटच' की चार भूमिकाओं का वर्णन किया गया है। प्रथम प्रगट भूमिका श्री वृन्दावन है जहाँ यह अपनी भोक्ता, भोग्य एवं प्रेरिता प्रेम की सहज स्थिति में अभिव्यक्त रहता है। इस भूमिका के भोक्ता-भोग्य के नामों का परिचय प्रेमीजनों को उनके रूप के द्वारा प्राप्त हुआ है। भोक्ता प्रेम सहज रूप से अभिलाषामय है। अतृप्त अभिलाषा ही उसका रूप है, अतएव वह श्याम-वर्ण है। यह अभिलाष परम शुद्ध प्रेम की अभिलाषा है, इसलिये इसकी उज्ज्वल श्यामलता के आगे करोड़ों राकाचन्द्र फीके लगते हैं। भोग्य-प्रेम सहज रूप से उदार है, निरवधि उदारता ही उसका रूप है, अतएव वह गौर है। इन दोनों के स्वरूपों में शुद्ध सत्व का शुभ्र प्रकाश झलमलाता रहता है, इसीलिये श्रीहितहरिवंश ने इनको 'साँवल गौर हंस-हंसिनी' कहा है। प्रेम के उज्ज्वल रूपों में श्री श्याम-सुन्दर एवम् वृषभानुनंदिनी के समान उज्ज्वल युगल अन्यत्र नहीं हैं। प्रेमीजनों को यह समझने में देर नहीं लगी कि इस सहज साँवल–गौर जोड़ी का नाम श्रीश्याम-सुन्दर एवम् श्री वृषभानु-नंदिनी हैं।

प्रेम की दूसरी प्रगट भूमिका व्रज है जहाँ यह युगल

श्री श्याम-सुन्दर एवम् वृषभानु-नंदिनी के नाम एवम् रूपों में ही नित्य प्रगट है। इस भूमिका में प्रेम का प्रकाश प्रथम भूमिका से अनेक अंशों में विलक्षण होता है। दोनों भूमिकाओं में प्रगट होने वाले युगल के नाम-रूप यद्यपि समान हैं, उनके परस्पर के प्रेम-संबन्ध की अभिव्यक्ति भिन्न है। इस भिन्नता के कारण नित्य-विहार-लीला एवम् व्रज-लीला के स्वरूपों में काफी भिन्नता रही है। भगवान को प्रेम-स्वरूप मानने वाले प्रेमोपासकों ने भी श्री राधा-श्याम-सुन्दर की दो लीलायें ही मानी हैं—एक उनकी नित्य लीला और दूसरी प्रकट लीला। नित्य-लीला को प्रगट-लीलानुसारिणी माना है। नित्य-लीला में प्रगट-लीला से विलक्षणता यह मानी है कि इसमें भगवान सदैव नवकिशोर वय में रहते हैं। राधावल्लभीय सिद्धान्त में इन दोनों लीलाओं में प्रेम की अभिव्यक्ति दो प्रकार से होती है और प्रथम भूमिका की लीला द्वितीय भूमिकानुसारिणी नहीं है। श्री वृन्दावन की लीलाओं की योजना विलक्षण प्रकार से होती है और उनमें भोक्ता–भोग्य की सहज प्रेमी-प्रेम-पात्रमयी स्थिति का निरावरण प्रकाश होता है।

भोक्ता–भोग्य के समान नाम-रूप वाली इन दो भूमिकाओं के बाद में तीसरी भूमिका वह है जहाँ प्रेम विभिन्न अवतारों के रूप में प्रगट होता हैं और चौथी भूमिका यह अनंत सृष्टि है। प्रथम भूमिका में जो भगवत्-स्वरूप प्रेम अत्यन्त सघन एवम् केन्द्रित स्थिति में रहता है, वही चौथी भूमिका तक आने में अनंत नाम-रूपों एवम् संबन्धों में व्यक्त हो जाता है।

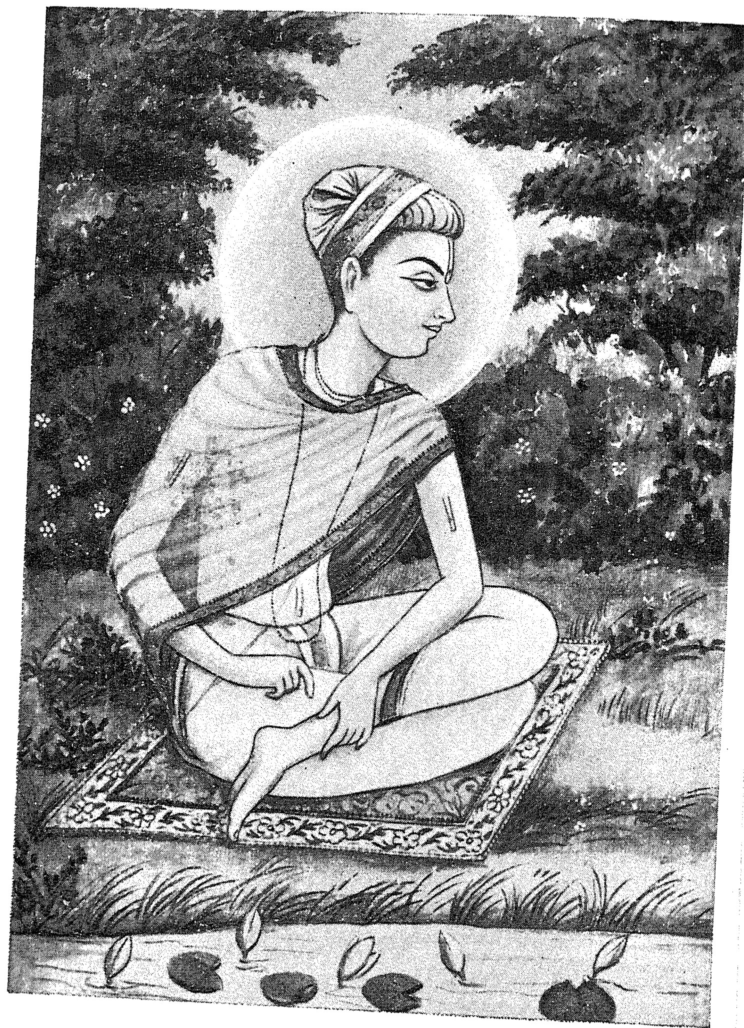
प्रेमी उपासकों ने प्रथम भूमिका के रूप को ध्येय एवं अन्य भूमिकाओं के रूपों को ज्ञेय बतलाया है। प्रेम की सार्वभौम सत्ता के ज्ञान के प्रकाश में नित्य-विहार की अनन्य-उपासना करने का विधान इस संप्रदाय में किया गया है।

राधावल्लभीय सिद्धान्त के सम्बन्ध में इस सम्प्रदाय के साधन-सम्पन्न अनुयायिओं को छोड़कर अन्य लोगों को, चाहे वह सम्प्रदाय के अन्दर हैं या बाहर, बहुत कम मालूम है। इस सम्प्रदाय के पास अपना एक विपुल साहित्य है जिसका अधिकांश व्रज-भाषा-गेय-काव्य के रूप में है। पिछले कई वर्षों में इस साहित्य के एक बहुत छोटे अंश का प्रकाशन हुआ है जिसको देख कर साहित्यिकों एवं धार्मिक रुचि के व्यक्तियों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ है। अनेक विद्वान इस साहित्य की 'खोज' करने के लिये उत्सुक हैं, किन्तु एक तो, इसका अधिक भाग अप्रकाशित है और हर-एक को प्राप्त नहीं होता। दूसरे, इस सम्प्रदाय का कोई ऐसा आलोचनात्मक सिद्धान्त ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जो सम्प्रदाय के साहित्य के मूल्यांकन में सहायक हो सके। 'सेवक-वाणी' इस सम्प्रदाय का प्रधान प्रकरण-ग्रन्थ है और वह प्रकाशित भी है, किन्तु उसमें जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है उन्हें श्री सेवक जी के बाद में होने वाले रसिक संतों की दृष्टि से देखे बिना 'सेवकवाणी' का सिद्धान्त हृदयंगम नहीं होता और न इन रसिक संतों की वाणियों की रस-दृष्टि समझ में आती है। प्रस्तुत पुस्तक में सम्पूर्ण

उपलब्ध साहित्य को दृष्टि में रख कर सम्प्रदाय के सिद्धान्त की आलोचना की गई है, पुस्तक का दृष्टिकोण धार्मिक-साहित्यिक है। इसकी कृतार्थता, इसके द्वारा, साहित्यिकों की 'खोज' एवम् उपासकों के उपासना-मार्ग के सरल बनने में है।

चरित्र

*



श्री हित हरिवंश गोस्वामी

श्री हरिवंश-चरित्र के उपादान

श्री हरिवंश के जीवन-काल में लिखा हुआ उनका कोई चरित्र प्राप्त नहीं है। उनके निकुंज-गमन के लगभग एक शताब्दी बाद राधावल्लभीय रसिक-संतों के चरित्रों का संकलन प्रथम बार 'रसिक अनन्य माल' के नाम से किया गया। इसमें श्री हरिवंश का चरित्र नहीं दिया गया है, किन्तु उनके शिष्यों के इति-वृत्त से स्वयं हित जी के चरित्र पर काफी प्रकाश पड़ जाता है। यह ग्रन्थ अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिखा गया है और इसकी रचना के बाद इसी शताब्दी में अन्य कई ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे गये। यह क्रम बीसवीं शताब्दी तक चलता रहा है, किन्तु हमने अठारहवीं शताब्दी के ग्रन्थों को ही उपादानों में ग्रहण किया है। बाद के ग्रन्थों में लगभग वही बातें पाई जाती हैं जो इन ग्रन्थों में हैं। कहीं-कहीं कुछ घटनायें विस्तार-पूर्वक वर्णन करदी गई हैं।

रसिक अनन्य माल—इस ग्रन्थ के कर्ता भगवत् मुदितजी प्रसिद्ध महात्मा माधौ मुदित जी के पुत्र थे। माधौ मुदित जी श्री नित्यानंद प्रभु के शिष्य बतलाये जाते हैं। नाभा जी की भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास जी ने भगवत् मुदित किंवा भगवंत मुदित को ठाकुर गोविन्द देवजी के अधिकारी हरिदास जी का शिष्य बतलाया है। गौड़ीय वैष्णव-संप्रदाय की शिष्य-परम्परा में होते हुए भी इनका मन राधावल्लभीय रस-सिद्धान्त की ओर आकृष्ट हो गया था और यह उसको बहुत आदर की दृष्टि से देखते थे।

इन्होंने प्रबोधानंद सरस्वती के एक 'शतक' का ब्रजभाषा-पद्य में अनुवाद किया है। यह अनुवाद बाबा वंशीदास द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसके मंगलाचरण में भगवत् मुदित जी ने श्री चैतन्य के साथ श्री हरिवंश की भी वन्दना की है तथा अनुवाद की समाप्ति में अपने भजन को हित-संगी रसिकों के रंग में रँगा हुआ बतलाया है—

इष्ट चंद वि वर, राधा जीवन प्राण धन।
हित संगी रंगी भजन, कहत सुनत कल्याण बन॥

भगवत् मुदित जी ने इस अनुवाद को सम्वत् १७०७ के चैत्र मास में पूर्ण किया है।

'सम्वत् दस पै सात सै सात बरस हैं जानि।
चैत्र मास में चतुर वर भाषा किऔ बखानि॥

'रसिक अनन्य माल' में रचना-काल नहीं दिया हुआ है। इस ग्रन्थ की समाप्ति गोस्वामी दामोदर चन्द्र जी के शिष्यों के चरित्रों के साथ हुई है। श्री दामोदरचन्द्र जी का जन्म सं० १६३४ में और निकुञ्जवास सं० १७१४ में हुआ था। भगवत् मुदित जी ने इनको श्री हरिवंश की 'विजय मूर्ति' बतलाया है और लिखा है कि इनके अनेक शिष्य-प्रशिष्य प्रसिद्ध रसिक अनन्य हुए हैं—

तिनके शिष्य प्रशिष्य बहु रसिक अनन्य प्रसिद्ध।

श्री दामोदर चन्द्रजी यद्यपि अस्सी वर्ष तक जीवित रहे थे, किन्तु उनके 'प्रशिष्यों' की प्रसिद्धि उनके जीवन के अंतिम भाग में ही संभव हो सकती है। रसिक अनन्य माल में उनके शिष्य-प्रशिष्यों के चरित्र देख कर यह निश्चित होता है कि

इस ग्रन्थ की रचना श्री दामोदर चन्द्र के जीवन के अंतिम वर्षों में या उनके निकुञ्ज-गमन के थोड़े दिन बाद हुई है।

रसिक अनन्यमाल के इस अन्त:-साक्ष्य के विरुद्ध सबसे बड़ी बाधा यह आती है कि इसके कर्त्ता भगवत् मुदित जी का चरित्र नाभा जी की भक्तमाल में मिलता है। भक्तमाल का रचना-काल विद्वानों ने सं० १६५० के लगभग माना है। इस ग्रन्थ में भगवत् मुदित जी का चरित्र होने का अर्थ यह है कि वे सं० १६५० के पूर्व प्रसिद्ध हो चुके होंगे और उनका जन्म सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम दशक में हुआ होगा। यह मानने पर श्री दामोदर चन्द्र जी के जीवन के अन्तिम वर्षों में, सं० १७१० के लगभग, उनकी आयु १०० वर्ष की हो जाती है, और इस अायु में 'रसिक अनन्य माल' जैसे खोज-पूर्ण ग्रन्थ का प्रणयन असंभव है। जिस अनुवाद-ग्रन्थ का ज़िक्र ऊपर किया गया है वह भी, इस हिसाब से, उन्होंने अपनी ९७ वर्ष की आयु में बनाया होगा। इन कारणों से नाभा जी की भक्तमाल में दिया हुआ भगवत् मुदित जी का चरित्र नाभादास जी की रचना मालूम नहीं होती और उनके बाद भक्तमाल में जोड़ा गया होगा।

ध्रुवदास जी की 'भक्त नामावली' की रचना नाभा जी की भक्तमाल के पीछे हुई है। भक्तनामावली के अन्त में निम्न लिखित दोहा मिलता है, जिससे यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है:—

भक्त नरायन भक्त सब धरैं हिये दृढ़ प्रीति।
बरनी आछी भाँति सौं जैसी जाकी रीति॥

नाभा जी का नाम नारायन दासजी था। भक्त नामावली में भगवत मुदित जी का नामोल्लेख नहीं है, उनके पिता माधौदास जी का है। भक्तमाल में, जिसकी रचना पहिले हुई है, भगवत मुदित जी के सम्बन्ध में एक पूरा छप्पय मिलता है। माधौदास जी का नामोल्लेख भी नहीं है।

भक्तमाल (रूपकला जी वाले संस्करण) में १९५ छप्पय हैं जिनमें भगवत् मुदित जी से सम्बन्धित छप्पय १९४ वाँ है। १८८ वाँ छप्पय एक 'भक्तमाली[1]' गोविन्ददास जी के सम्बन्ध में है। स्पष्ट रूप से यह नाभा जी की रचना नहीं है; क्योंकि भक्तमाल की रचना से पूर्व किसी 'भक्तमाली' की स्थिति असंभव है। इस छप्पय की, और इसके बाद के सभी छप्पयों की, भाषा और रचना-शैली भी नाभा जी की नहीं है। अतः यह सब पीछे जोड़े हुए जान पड़ते हैं। 'भक्त नामावली' में भगवत् मुदित जी का उल्लेख न होने के मानी यह हैं कि उनकी ख्याति सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हुई थी और उनका जन्म उस शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था। उनकी दोनों कृतियाँ अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ की हैं और उनकी अवस्था उस समय बहुत अधिक न रही होगी। अतः रसिक अनन्य माल का रचना-काल सं० १७१० से सं० १७२० तक ठहरता है।

भगवत मुदित जी उच्चकोटि के संत एवं कवि थे। उपरोक्त दोनों ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके २०७ पद भी प्राप्त हैं जिनमें उन्होंने राधावल्लभीय रस-पद्धति से नित्य-विहार का कवित्व-पूर्ण वर्णन किया है।

---

१ भक्तमाल की कथा कहनेवाले।

'रसिक अनन्य माल' में श्री हरिवंश का चरित्र नहीं है। इसका प्रारम्भ श्री हरिवंश के अन्यतम शिष्य राजा नरवाहन के चरित्र से होता है। श्री हरिवंश के शिष्यों के बाद उनके पुत्रों के शिष्यों के चरित्र दिये गये हैं, किन्तु उनके पुत्रों में से किसी का चरित्र नहीं दिया है। शेष में, भगवत् मुदित जी श्री हरिवंश के प्रपौत्र एवं इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य गोस्वामी दामोदर चन्द्र जी का स्मरण बड़े आदर के साथ करते हैं; किन्तु उनका चरित्र नहीं देते और उनके शिष्यों का देते हैं। इससे मालूम होता है कि भगवत् मुदित जी का लक्ष्य इस संप्रदाय के आचार्य-गोस्वामियों का चरित्र लिखना नहीं था। वे केवल इन आचार्यों के अनुयायी रसिक-संतों का चरित्र लिखना चाहते थे, इसी से उन्होंने अपने ग्रंथ को श्री हरिवंश के चरित्र से प्रारंभ न करके नरवाहन जी के चरित्र से किया है।

भगवत मुदित जी राधावल्लभीय संप्रदाय की ओर आकृष्ट होते हुए भी गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उनकी अद्भुत गुरु-निष्ठा की कथा प्रियादास जी ने अपनी भक्तमाल की टीका में लिखी है। अतः हम उनसे राधावल्लभीय रसिकों के प्रति अनुचित पक्षपात की आशंका नहीं रख सकते। रसिक अनन्यमाल के देखने से मालूम हो जाता है कि यह साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से नहीं लिखा गया है। वास्तव में, यह सोलहवीं शताब्दी के अन्त से लेकर अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक का, इस सम्प्रदाय का, अत्यन्त प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थ है। इसकी प्राचीनतम प्रति सं० १७८६ की प्राप्त है।

उत्तमदास जी कृत श्री हरिवंश-चरित्र—यह श्रीहित हरिवंश के जीवनवृत्त का सर्व-प्रथम संकलन है। मालूम होता है कि भगवत् मुदित जी की अनन्यमाल से राधावल्लभियों को अपना इतिहास लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई। 'रसिक अनन्यमाल' में इस सम्प्रदाय के अनेक रसिकों के चरित्र लिखे जा चुके थे, किन्तु सम्प्रदाय के स्थापक का चरित्र अलिखित था। उत्तमदास जी ने इस कमी को पूरा करने के लिये श्री हरिवंश के जीवन की ज्ञात घटनाओं को एक चरित्र के रूप में गठित कर दिया। ग्रन्थ के प्रारम्भ में उन्होंने लिखा है कि 'मैंने धर्मियों के मुख से जो घटनायें सुनी हैं, उन्हीं को यहाँ लिख रहा हूँ।' इस चरित्र के साथ उन्होंने हित-प्रभु के प्रधान शिष्यों के चरित्र भी दिये हैं और अंत में उन रसिकों के नामों की सूची दे दी है जिनके चरित्र भगवत् मुदित ने लिखे हैं:—

'इते रसिक की परिचई भगवत् मुदित बखान।
दिग्दर्शनवत् एक ठाँ उत्तम कीने आन॥'

उत्तमदास जी का यह ग्रन्थ 'रसिक अनन्य माल' का पूरक माना गया और वह उसके साथ लगा दिया गया। 'रसिक अनन्यमाल' की सं० १७८६ की प्राचीनतम प्राप्त प्रति में यह ग्रन्थ प्रारंभ में लगा हुआ है और इस प्रति के बाद की अनेक प्राचीन प्रतियों में यह उसके साथ लगा मिलता है। इसी से एक भ्रान्ति यह फैल गई है कि भगवत् मुदित जी ने ही श्री हरिवंश का चरित्र लिखा है।

इन दोनों ग्रन्थों का इतना प्राचीन साहचर्य देखकर अनुमान होता है कि 'रसिक अनन्यमाल' के बाद में लिखा जाने वाला प्रथम 'श्री हरिवंश चरित्र' यही है। इसके बाद सं० १७६० में रचित 'हितकुलशाखा' नामक पुस्तक में भगवत् मुदित जी का या उनके रसिक अनन्यमाल का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

दूसरी एक बात और भी है। उत्तमदास जी ने अपने ग्रन्थ में, प्रारंभ में, श्री हित-हरिवंश का चरित्र दिया है। इसमें देववन से लेकर वृन्दावन वास तक का पूरा वर्णन कर दिया है। इसमें उन्होंने श्री हित जी के जन्म का एवं सेवा-स्थापन का संवत् दिया है, किन्तु न तो उनके वृन्दावन-वास की अवधि बतलाई है और न निकुञ्ज-गमन का संवत् दिया है। श्री हरिवंश के इस चरित्र के बाद उत्तमदास जी ने उनके प्रधान शिष्यों के चरित्र दिये हैं। मोहनदास जी के चरित्र के बाद 'श्रीजी कौ जन्मोत्सव समय वर्णन' दिया हुआ मिलता है जिसमें श्री हित-हरिवंश के जन्म का संवत्, वृन्दावन आने के समय की उनकी अवस्था, उनके वृन्दावन-वास की अवधि एवं उनके निकुञ्ज-गमन का संवत् दिया हुआ है। इस 'समयवर्णन' को चरित्र से अन्यत्र लगा देख कर अनुमान होता है कि यह बाद में लगाया गया है। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से होती है कि सं० १७६० में लिखे गये 'हित कुल शाखा' ग्रन्थ में उसके कर्ता महात्मा जयकृष्ण जी ने हित प्रभु के निकुञ्ज-गमन का उल्लेख करने के पूर्व रसिकों से अपने इस कार्य के लिए क्षमा-याचना की है। उन्होंने लिखा है कि 'मैं प्रभु

की आज्ञा से इस बात को लिख रहा हूँ, अतः इसमें मेरा अपराध नहीं समझना चाहिये':—

विनती सब रसिकनि सों करौं। तुम मत दूखहु हौं अति डरौं॥
मेरौ जिन अपराध विचारौ। कृपा अनुग्रह दृष्टि निहारौ॥
तनकसौ मुख ऐसी क्यौं भाखी। यह सुबात किन उर में राखी॥
परिपूरन प्रभु आज्ञा दई। तब यह बुद्धि कहन कौं भई॥
(हितकुल शाखा)

इससे मालूम होता है कि जयकृष्ण जी से पहिले श्री हित-हरिवंश के निकुञ्ज-गमन का वर्णन किसी ने नहीं किया था और इस बात का लिखना सदाचार के विरुद्ध समझा जाता था। उत्तमदास जी ने भी इस घटना का उल्लेख अपने 'चरित्र' में नहीं किया था। जय कृष्ण जी के लिख देने के बाद उन्होंने अपने ग्रंथ में इसको ग्रहण कर लिया और जय कृष्ण जी के वर्णन का संक्षेप करके उनके कई छन्द ज्यों के त्यों उठा कर रख दिये।

उपरोक्त दो कारणों से उत्तमदास जी के श्री हरिवंश-चरित्र को जय कृष्ण जी के ग्रंथ से पूर्व एवं सर्वप्रथम चरित्र मानना पड़ता है।

उत्तमदास जी गोस्वामी कुञ्जलाल जी के शिष्य थे। गो० कुञ्जलाल जी का जन्म सं० १६९६ में हुआ था। अतः उत्तमदास जी कृत श्री हरिवंश चरित्र की रचना सं० १७४०-४५ के लगभग हुई होगी। श्री हरिवंश के निकुञ्ज-गमन के लगभग १२५ वर्ष बाद लिखे जाने के कारण इसमें उनके जीवन की दैनंदिन घटनाओं का समावेश नहीं हो पाया है

और दो-चार प्रधान घटनाओं का उल्लेख करके यह चरित्र समाप्त हो गया है।

३. जय कृष्ण जी कृत 'हितकुल शाखा'। इस छोटे से ग्रन्थ की रचना सं० १७६० में हुई है।

संवत् सत्रहसै चालीस, बरस अधिक हैं सब सुख बीस ।
कातिक सुदि तेरस कुल साखा, मथुरा मधि पूरन भइ भाखा ।।

उत्तमदास जी कृत श्री हरिवंश-चरित्र काफी संक्षिप्त है, किन्तु इस ग्रन्थ में उससे भी अधिक संक्षेप किया गया है। जयकृष्ण जी का उद्देश्य श्री हित जी के कुल की विभिन्न शाखाओं का परिचय देने का है और इसीलिये उन्होंने स्वयं श्री हित-हरिवंश के चरित्र का विस्तार इस ग्रन्थ में नहीं किया है। यह चरित्र संक्षिप्त होते हुए भी पूर्ण एवं सुगठित है एवं इसमें सभी प्रधान घटनाओं के संवत् दिये हुए हैं। उत्तमदास जी ने जन्म का संवत् १५५९ एवं सेवा-स्थापना का संवत् १५९१ दिया है और वही इसमें भी स्वीकृत है। जय कृष्ण जी ने श्री हित जी के वृन्दावन—वास की अवधि १८ वर्ष लिखी है और उनका निकुञ्ज-गमन संवत् १६०९ में बतलाया है। उत्तमदास जी ने अपने 'समय-वर्णन' में यह दोनों स्वीकार किये हैं। उत्तमदासजी ने प्रारम्भ में देववन की कथा लिखी है जिसमें उन्होंने श्री हित हरिवंश के पिता व्यास मिश्र जी को किसी 'पृथ्वीपति' का मनसबदार बतलाया है। जयकृष्ण जी ने श्री हितजी के जन्म से प्रारम्भ किया है और देववन का वृत्तान्त नहीं लिखा है।

उत्तमदास जी ने देववन में तीन पुत्र एवं एक कन्या का जन्म होना लिखा है, किन्तु उनके नाम नहीं लिखे है। जय-कृष्ण जी ने तीनों पुत्रों के नाम एवं जन्म-तिथि दी हैं और पुत्री का नाम 'साहिब दे' लिखा है। उत्तमदास जी ने देववन में श्री हित हरिवंश को श्री राधा से मन्त्र-प्राप्ति एवं व्यास मिश्र के बगीचे के कूप से द्विभुज 'स्वरूप' की प्राप्ति होना लिखा है। जयकृष्ण जी ने इस वृत्तान्त को छोड़ दिया है और देववन की संतति के परिचय के बाद श्री हितजी का श्रीराधाकी आज्ञा से वृन्दावन-गमन वर्णन कर दिया है;—

यह संतति श्री देवन भई। तब श्री श्यामा आज्ञा दई॥
वृन्दावन कौं बेगि पधारौ। निज रस रीति अवनि विस्तारौ॥
श्रवन सुनत उठि चले धाम कौं। तोषन हित श्रीप्रिया-श्याम कौं॥
बरस बतीस वय-क्रम जान्यौ। प्रगट वास बन कौं मन मान्यौ॥
(हितकुल शाखा)

इसके बाद उत्तमदास जी ने चिड़थावल ग्राम में दो ब्राह्मण-कन्याओं के साथ श्री हित जी के विवाह की कथा विस्तार-पूर्वक लिखी हैं। जय कृष्ण जी ने इस सम्बन्ध में केवल इतना लिखा है:—

श्री वृन्दावन के उत्साह, मारग मधि कीन्हे द्वै ब्याह।
(हित कुल शाखा)

कन्याओं के साथ श्रीहित जी को राधावल्लभ जी के विग्रह की प्राप्ति दोनों महात्माओं ने लिखी है।

उत्तमदास जी ने, जैसा हम देख चुके हैं, श्रीहित-हरिवंश के निकुञ्ज-गमन का वर्णन नहीं किया हैं। जयकृष्णजी ने उनके निकुञ्ज-गमन का प्रकार एवं समय दिया है।

उपरोक्त तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि जयकृष्णजी ने अपने इस छोटे-से चरित्र में श्री हित हरिवंश के जीवन से सम्बन्धित उन बातों पर प्रकाश डाला है जो उत्तमदास जी द्वारा लिखित चरित्र में या तो सर्वथा अनुल्लिखित हैं और या उतनी स्पष्ट नहीं हो सकी हैं। श्री हित जी के वंशधरों का परिचय तो प्रथम वार जयकृष्ण जी ने ही लिखा है। इन दोनों दृष्टियों से जयकृष्ण जी की 'हित कुल शाखा' का स्थान, इस सम्प्रदाय के चरित्र-साहित्य में महत्व-पूर्ण है।

चरित्र

महात्मा उत्तमदास जी कृत श्री हरिवंश-चरित्र सब से अधिक प्राचीन सिद्ध होता है और वही सब से अधिक पूर्ण है। इस चरित्र में श्री हित हरिवंश के पिता व्यास मिश्रजी को किसी तत्कालीन शासक के आश्रित ज्योतिषी बतलाया गया है। इस शासक को 'पृथ्वीपति', 'नृप', 'नरिंद' और 'पातसाह' कहा गया है। श्री हित हरिवंश के जन्म के समय सिकन्दर लोदी दिल्ली का सुलतान था। वह निपुण-शासक होने के साथ कट्टर मुसलमान था। उसने मथुरा को लूट कर नष्ट-भ्रष्ट किया था और वहाँ के नाइयों को हिन्दुओं की दाढ़ी-मूँछ न बनाने की आज्ञा निकाली थी। ऐसे धर्मान्ध शासक का एक हिन्दू को अपना ज्योतिषी बनाना और उसको चार-हजारी मनसब प्रदान करना आश्चर्य-जनक व्यापार है।

इसके साथ ही एक बात ऐसी है जिससे इस 'पातसाह' के सिकन्दर लोदी होने का अनुमान होता है। श्री हितहरिवंश का

जन्म दिल्ली-आगरा सड़क पर बसे हुये 'बाद' नामक ग्राम में हुआ था। उत्तमदास जी से बहुत पूर्व सेवक जी ने इसी ग्राम को श्री हितजी की जन्म-भूमि बतलाया है:—

मथुरा मंडल भूमि आपनी, जहाँ बाद प्रगटे जग धनी ॥
भनी अवनिवर आपु मुख ।
(से० वा. १-६)

उत्तमदास जी ने लिखा है कि बादशाह सदैव व्यास जी को अपने साथ रखता था और हित जी के जन्म के समय व्यासजी बादशाह के साथ बाद ग्राम में पड़ाव डाले हुए थे। इतिहास के अनुसार सिकन्दर लोदी ने ही आगरा बसाया था और वह वहाँ अक्सर जाया करता था। आगरा सन् १५०४ (सं० १५६१) में बसाया गया था और इसके पूर्व सं० १५५६ में सुल्तान का वहाँ आना-जाना प्रारम्भ हो चुका था; क्योंकि दक्षिण एवम् पूर्व के इलाकों के शासन के लिये यह स्थान उसको बहुत उपयुक्त प्रतीत हुआ था। सिकन्दर लोदी के शासन-काल का पूरा इतिहास लेखक को प्राप्त नहीं है अतः वह इस सम्बन्ध में, कोई निश्चित मन्तव्य देने की स्थिति में नहीं है।

उपरोक्त घटना को छोड़ कर श्री हित हरिवंश के चरित्र का सम्बन्ध अन्य किसी बाहरी ऐतिहासिक घटना के साथ नहीं है, अतः यहाँ उत्तमदासजी-कृत चरित्र का ही सारांश दिया जाता है।

श्री हरिवंश के पूर्वज देववन के रहने वाले थे। इनके पिता व्यास मिश्र यजुर्वेदीय गौड़ ब्राह्मण थे। इनका गोत्र

काश्यप एवम् शाखा माध्यंदिनी थी। व्यास मिश्र उस समय के प्रसिद्ध ज्योतिषी थे और इस विद्या के द्वारा उन्होंने प्रचुर संपत्ति प्राप्ति की थी। धीरे-धीरे उनकी ख्याति तत्कालीन पृथ्वीपति के कानों तक पहुँची और उसने बहुत आदर-सहित व्यास मिश्र को बुला भेजा। व्यास मिश्र बादशाह से चार श्रीफल लेकर मिले। बादशाह उनसे बातचीत करके उनके गुणों पर मुग्ध हो गया और उनको 'चार हजारी की निधि' देकर सदैव अपने साथ रखने लगा। व्यास मिश्र की समृद्धि का अब कोई ठिकाना नहीं रहा और वे राजसी ठाठ-बाट से रहने लगे।

व्यास मिश्र के पूर्ण सुखी जीवन में एक ही प्रबल अभाव था। वे निस्संतान थे। इस अभाव के कारण वे एवं उनकी पत्नी ताराराानी सदैव उदास रहते थे। व्यास मिश्र जी बारह भाई थे जिनमें एक नृसिंहाश्रम जी विरक्त थे। नृसिंहाश्रम जी उच्चकोटि के भक्त थे, एवं लोक में उनकी सिद्धता की अनेक कथायें प्रचलित थीं। विरक्त होते हुए भी इनका व्यास जी से स्नेह था और कभी-कभी यह उनसे मिलने आया करते थे। एक वार मिश्र-दंपति को समृद्धि में भी उदास देख कर उन्होंने इसका कारण पूछा। व्यास मिश्र ने अपनी संतान-हीनता को उदासी का कारण बताया और नृसिंहाश्रम जी के सामने 'परम भागवत रसिक अनन्य' पुत्र प्राप्त करने की अपनी तीव्र अभिलाषा प्रगट की। नृसिंहाश्रम जी ने उत्तर दिया, 'भाई, तुम तो स्वयं ज्योतिषी हो; तुमको अपने जन्माक्षरों से अपने भाग्य की गति को समझ लेना चाहिये और संतोष-पूर्ण जीवन यापन करना चाहिये'।

यह सुनकर व्यास मिश्र तो चुप हो गये, किन्तु उनकी पत्नी ने दृढ़ता-पूर्वक पूछा—'यदि सब कुछ भाग्य का ही किया होता है, तो लोग आपके पीछे क्या आशा लेकर दौड़ते हैं ? यदि विधि का बनाया विधान ही सत्य है, तो इसमें तुम्हारी महिमा क्या रही ?' इस बार नृसिंहाश्रम जी उत्तर न दे सके और विचार-मग्न होकर वहाँ से उठ गये।

एकान्त वन में जाकर उन्होंने अपने इष्ट का आराधन किया और उनसे व्यास मिश्र की मनोकामना पूर्ण करने की प्रार्थना की। रात्रि को स्वप्न में प्रभु ने उनको आदेश दिया कि 'तुम्हारे सत्संकल्प को पूर्ण करने के लिये स्वयं हरि अपनी वंशी-सहित व्यास मिश्र के घर में प्रगट होंगे'। नृसिंहाश्रम जी ने यह सन्देश व्यास मिश्र को सुना दिया और इसको सुनकर मिश्र-दंपति के आनन्द का ठिकाना नहीं रहा।

बादशाह व्यास मिश्र जी को सर्वत्र अपने साथ तो रखता ही था। श्री हित हरिवंश के जन्म के समय भी व्यास मिश्र अपनी पत्नी-सहित बादशाह के साथ थे और ब्रजभूमि में ठहर रहे थे। वहीं मथुरा से पाँच मील दूर 'बाद' नामक ग्राम में वैशाख शुक्ला एकादशी सोमवार सं० १५५९ को अरुणोदय काल में श्रीहित हरिवंश का जन्म हुआ। महापुरुषों के साथ साधारणतया जो मांगलिकता संसार में प्रगट होती है, वह श्री हित हरिवंश के जन्म के साथ भी प्रगट हुई और सब लोगों में अनायास धार्मिक रुचि, पारस्परिक प्रीति एवं सुख-शान्ति का संचार होगया।

श्री हित हरिवंश का बाल्य-काल देववन में व्यतीत हुआ।

शिशु अवस्थाओं में ही वे राधा-नाम को सुन कर आनंद से किलक उठते थे। सात वर्ष की अवस्था में उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और थोड़े दिन बाद विवाह भी हो गया। उनकी पत्नी का नाम रुक्मिणी जी था। वयस्क होने पर हित जी ने सामान्य भक्ति का प्रचार प्रारम्भ कर दिया और स्वयं प्रेम-लक्षणा में मग्न रहने लगे। एक दिन श्री राधा ने स्वप्न में प्रगट होकर उनसे कहा, "तुम्हारे द्वार पर जो पीपल का वृक्ष है उसकी सब से ऊँची डाल में एक अरुण पत्र पर युगल-मंत्र लिखा हुआ है। तुम उस मंत्र को ग्रहण करके उसका प्रकाश करो। तुम्हारे पिता के बगीचे में जो कुआँ है उसमें हमारा एक द्विभुज स्वरूप है। उसके साथ मेरी 'गादी' स्थापित करके तुम उसकी सेवा करो"।

श्री हित हरिवंश ने इस आदेशानुसार उस विग्रह को कुएँ से निकाल कर उसके लिये एक मन्दिर देववन मै बनवाया और उसके साथ श्रीराधा की गादी स्थापित करके प्रीति-पूर्वक सेवा करने लगे।

सेवा एवं भक्ति प्रचार में उनका पूरा समय व्यतीत होता था। इस बीच में व्यास मिश्र का देहांत हो गया और पृथ्वी-पति ने श्री हित जी को उनके पिता का स्थान देना चाहा, किंतु उन्होंने सांसारिक प्रवृत्ति में पड़ने से इंकार कर दिया।

देववन में श्री हित हरिवंश के तीन पुत्र एवं एक कन्या हुई। पुत्रों के नाम क्रमशः श्रीबनचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र, एवं श्री गोपीनाथ थे एवं कन्या का नाम साहिबदे था। हितजी ने इन चारों का विवाह कर दिया और उनको मंत्र देकर अपना

शिष्य बना लिया। बत्तीस वर्ष की आयु में श्रीराधा ने उनको श्री वृन्दावन-वास एवं धर्म-प्रचार की आज्ञा दी। इस आज्ञा के प्राप्त होते ही श्रीहितजी वृन्दावन चल दिये। उन्होंने चलते समय रुक्मिणी जी से साथ चलने को कहा, किन्तु वे न निकल सकीं।

मार्ग में श्री हित हरिवंश जब चड़थावल ग्राम के निकट पहुँचे, तब श्रीराधा ने स्वप्न में उनको पुनः आदेश दिया कि 'इस ग्राम में एक ब्राह्मण तुमको अपनी दो कन्यायें देगा। तुम उनका विधि-पूर्वक पाणिग्रहण करना एवं उस ब्राह्मण के पास हमारा जो एक स्वरूप है उसको लेकर वृन्दावन जाना'। इसी प्रकार का आदेश उस ब्राह्मण को प्राप्त हुआ। ब्राह्मण ने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति एवं श्री विग्रह सहित अपनी दोनों कन्यायें श्री हित हरिवंश को प्रदान कीं और वह उनको लेकर वृन्दावन पहुँचे। दोनों ब्राह्मण-कन्याओं के नाम कृष्णदासी और मनोहरी थे।

वृन्दावन में यमुना तट पर एक 'ऊँची ठौर' देखकर श्री हित हरिवंश ने वहाँ अपना मुकाम किया। स्थानीय व्रजवासियों ने उनको बसने की दृष्टि से आया देखकर उनसे कहा—'आपको जितनी भूमि चाहिये उतनी लेकर यहाँ सुख पूर्वक निवास करें'। आवश्यक भूमिका निर्णय करने के लिये इन लोगों ने श्रीहितजी के हाथ में तीर-कमान देकर कहा–'आप यहाँ से तीर फैंकिये। आपका तीर जितनी दूर जाकर गिरेगा उतनी भूमि हम आप को प्रदान कर देंगे'। हितजी ने तीर फैंका और वह तीर-घाट किंवा चीर-घाट पर जाकर गिरा। श्री हित प्रभु ने तीर गिरने

की जगह के निकट रासमंडल; उस 'ऊँची ठौर' पर श्रीराधा-वल्लभ जी का मन्दिर एवं इन दोनों के मध्य में 'सेवाकुञ्ज' स्थापित किया। सं० १५९१ की कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी को उन्होंने धूमधाम से अपने प्रभु का 'पाट-महोत्सव' किया एवं पाँच आरती और सात भोग वाली सेवा-पद्धति स्थापित की।

उत्तमदास जी का 'श्री हरिवंश-चरित्र' यहीं समाप्त होजाता है। इसके बाद उन्होंने भगवत् मुदित जीके 'रसिक अनन्य माल'में दिये हुए श्री हरिवंश के शिष्यों के जीवन-वृत्तों में से कुछ घटनाओं को उठाकर श्री हरिवंश के चरित्र के साथ जोड़ दिया है। श्री हरिवंश के प्रेम-मय जीवन की वास्तविक झाँकी उनके शिष्यों के चरित्रों में होती है। भगवत् मुदित जी ने पहिला चरित्र नर वाहन जी का लिखा है। इस चरित्र से मालूम होता है कि वृन्दावन को बसने योग्य बनाने वाले श्री हरिवंश थे। वे गृहस्थ-वेष एवं एक भगवत्–विग्रह लेकर वृन्दावन आये थे। उनके पूर्व कई बंगाली महात्मा वृन्दावन आ चुके थे। वे लोग सर्वथा अकिञ्चन थे और तब तक उनमें से किसी को भगवत्-विग्रह की प्राप्ति नहीं हुई थी। उनमें से अनेक व्रज के विभिन्न लीला-स्थलों में भ्रमण करते रहते थे। श्री रूप गोस्वामी के प्रसिद्ध 'विदग्ध-माधव नाटक' एवं 'भक्ति-रसामृत–सिन्धु' की रचना गोकुल में हुई है एवं 'ललित-माधव–नाटक' भद्रवन में रचा गया है। किन्तु श्री हितजी को सेवा में उपयोगी सम्पूर्ण वस्तुओं सहित वृन्दावन में वास करना था।

दिल्ली में मुगलों की सल्तनत अच्छी तरह जम नहीं पाई थी और केन्द्रीय–शक्ति की दुर्बलता के कारण अनेक शक्ति-केन्द्र

स्थान-स्थान पर उत्पन्न होकर प्रजा का उत्पीडन कर रहे थे। नर वाहन जी भी इसी प्रकार के एक शक्ति-केन्द्र थे। वे डाकुओं के सरदार थे और उन्होंने सम्पूर्ण व्रज-देश को अपने वश में कर लिया था। भगवत मुदित जी ने इनका परिचय देते हुये लिखा है:—

नर बाहन भै गाँव निवासी। वार-पार में एक मवासी ॥
जाकी आज्ञा कोइ न टारै। जो टारै तौ चढ़िकै मारै ॥
बस कर लियौ सकल ब्रज-देस। तासौं डरपैं बड़े नरेस ॥
पातसाह के वचनहिं टारै। मन आवै तौ दगरौ मारै ॥
(रसिक-अनन्य-माल)

वृन्दावन भी इनके वर्चस्व के नीचे था और इनके आतंक के कारण वहाँ बाहर के लोग निर्विघ्न वास नहीं कर पाते थे। श्री हित हरिवंश के वृन्दावन पहुँचने के बाद एक दिन नरवाहन जी वृन्दावन आये और हितजी का नाम सुन कर उनके दर्शनों के लिये गए। श्रीहित हरिवंश उस समय नवलदास बैरागी से चर्चा कर रहे थे। नर वाहनजी को श्रीहित जी का दर्शन करते ही वैराग्य उमड़ आया और वे अविलंब उनके शिष्य हो गये। उनके वैष्णव होते ही उनकी गति-विधि बदल गई एवं वृन्दावन और वहाँ के निवासियों के प्रति उनके हृदय में इष्ट-बुद्धि उत्पन्न हो गई। अब वे वृन्दावन-निवासियों की रक्षा करने लगे और तभी से वृन्दावन के बसने का आरम्भ हो गया। नर वाहनजी की ख्याति उनकी अद्भुत गुरु-भक्ति के लिये है। हित प्रभु ने प्रसन्न होकर अपने दो सुन्दर पद इनको अर्पण किये हैं और उन पदों में इन ही का नाम रख दिया है। यह दोनों पद 'हित चतुरासी' में ग्रथित हैं।

शिष्यों के चरित्रों से श्री हित हरिवंश के धर्म-प्रचार की अद्भुत विद्या का भी पता चलता है। वृन्दावन आने के बाद हित-प्रभु जीवन-भर व्रजभूमि से बाहर नहीं गये। व्रजमें भी केवल राधाकुण्ड में उनकी एक बैठक मिलती है। वृन्दावन में उनके पुण्य-प्रभाव एवं परम-अनन्य रहन-सहन के कारण अनेक लोग अनायास उनकी ओर आकृष्ट हुए थे। धर्म का प्रत्यक्ष रूप धर्मी हैं। धर्मी में ही धर्म नेत्रों का विषय बनता है। श्री हित हरिवंश ने अपने स्वरूप में प्रेमा-भक्ति को मूर्तिमान किया था। प्रेमाभक्ति वाद-विवाद के द्वारा स्थापित नहीं की जा सकती; उसके प्रत्यक्ष-दर्शन के द्वारा हृदय में उसका सञ्चार होता है। हित-प्रभु के सांनिध्य में जो भी व्यक्ति आता था, उसके हृदय में प्रेम की धारा फूट पड़ती थी और उसके सम्पूर्ण संशयों का छेदन हो जाता था।

छबीलदास के चरित्र से मालूम होता है कि वे देववन के एक तमोली थे। उनका श्री हितजी के साथ बालकपन से ही प्रेम था और वे उनके ठाकुर जी के लिये नित्य-प्रति पान पहुँचाया-करते थे। हित-प्रभु के वृन्दावन जाने के बाद छबीलदास का मन देववन में नहीं लगा और वे उनसे मिलने के लिये वृन्दावन गए। हित जी ने उनका बहुत आदर–सत्कार किया और अपने एक भृत्य के साथ उनको वन देखने को भेज दिया। वन में पहुँचते ही छबीलदास जी को प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द की परावधि रास के दर्शन हो गये और वे मूर्छित हो कर वहीं गिर पड़े। उनको किसी प्रकार हित–प्रभु के पास लाया गया। हित-प्रभु ने उनसे पूछा–'संसार में अभी और कुछ दिन रहोगे,

या निकुञ्ज में पहुँच कर नित्य–केलि का सुखानुभव करोगे' ?
'पूँछी आप प्रगट कछु रहि हौ। किधौं निकुञ्ज केलि सुख लहिहौ ॥'

छबीलदास ने इसका कुछ उत्तर न देकर हित-प्रभु के चरणों में अपना मस्तक रख दिया और उनके प्राण देह को छोड़ निकुञ्ज की ओर चल पड़े !

इसी प्रकार प्रबोधानन्द सरस्वती के चरित्र में भगवत् मुदित जी ने बतलाया है कि हित-प्रभु का दर्शन करते ही उनके प्राणों में प्रेमा–भक्ति इस भाँति जाग उठी, जैसे दीपक के संयोग से दीपक प्रगट हो जाता है।

दीपक सौं लगि दीपक होई। एकै धर्म न संसै कोई ॥

इस प्रकार, दीपक के संयोग से दीपक बने हुये उनके शिष्य-गण, अकेले या टोली बनाकर, हित प्रभु के धर्म का प्रचार करने के लिये बाहर निकलते थे और सर्वत्र नवीन दीपकों को प्रगटाते चलते थे। इन महात्माओं की एकान्त निष्ठा एवं इनके निष्कपट प्रेम को देख कर जन-समुदाय इनकी ओर आकर्षित होता था। हित-प्रभु के पदों के गान के द्वारा ये लोग, अधि-कारी व्यक्तियों को, वृन्दावन-रस-रीति का अनुभव कराते थे। नवलदास वैरागी से हित-प्रभु का एक पद सुनकर श्री हरिराम व्यास ने ओड़छा का राज्य-पण्डित-पद छोड़ दिया था और वृन्दावन आकर हित प्रभु के शिष्य बन गये थे। ठट्टा (सिंध) के सूबा राजा परमानन्द पूरणदास के मुख से श्री हित जी की अद्भुत रहन-सहन एवं उनकी वाणी का अद्भुत प्रभाव सुन कर राज्य–वैभव से वितृष्ण हो गये थे। इसी प्रकार

रसिक-उपासकों की एक मण्डली घूमती हुई गौंडवाने के गढ़ा नगर में पहुँच गई और उसने सेवक जी के रूप में एक ऐसी ज्योति प्रगट की जिससे सारा राधावल्लभीय धर्म आलोकित हो उठा।

प्रेमोपासना में सेवा का स्थान बहुत ऊँचा है। प्रेम का प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिये सेवा से अधिक अन्य कोई साधन नहीं माना जाता। नाहरमल जी के चरित्र में हित-प्रभु के सेवा-सम्बन्धी आदर्श का पता चलता है। नाहरमलजी सम्पन्न व्यक्ति थे और हित-प्रभु को अधिक-से-अधिक सुख पहुँचाने की चेष्टा करते रहते थे। वे भी देववन के रहने वाले थे और हित प्रभु के दर्शनों के लिये वृन्दावन आते रहते थे। एक बार जब वे आये तब हित प्रभु वन में गये हुये थे। वे उनको ढूँढ़ते हुए वहीं पहुँचे तो देखा कि हित जी ईंधन बीन कर अपने दुपट्टे में रखते जाते हैं। नाहरमल जी को उनका यह कार्य अनावश्यक एवं असमीचीन प्रतीत हुआ और उन्होंने नम्रता-पूर्वक कहा—'आप इस छोटे से कार्य के लिये वृथा इतना श्रम उठाते हैं। मैं कल इस कार्य के लिये एक धीमर की नियुक्ति कर दूँगा।' इन शब्दों को सुनकर हित-प्रभु तिलमिला उठे। उन्होंने रुखाई से कहा—"तुमको मालूम नहीं है कि सब कुछ पाकर भी जीव प्रेमा-भक्ति नहीं पाता। मुझको वही दुर्लभ भक्ति सन्तों के संग से प्राप्त हो गई है। आज तुम उसी को छुड़ाने आये हो और मेरे करने की इष्ट-सेवा को धीमर से कराना चाहते हो ! तुम महा रजोगुण लेकर वृन्दावन आते हो। तुमने यह महान् अपराध किया है और मैं तुमको असाधु समझकर तुम्हारा आज से त्याग करता हूँ।"

सुनत गुसाँईं जू अति दूखे। तासौं वचन कहे अति रूखे॥
वर दै श्याम छुड़ावत गोहन। काहू भक्ति देत नहिं मोहन॥
कोटि जतन संतन सँग पाई। सो जु छुड़ावन आयौ भाई॥
महा रजोगुण लै तूँ आवै। मेरौ कृत धीमरहि बतावै॥
यह तैं कर्‌यौ वड़ौ अपराध। मैं त्याग्यौ तू जानि असाध॥
(रसिक-अनन्यमाल)

नाहरमल जी भी पूरे गुरु-भक्त थे। उन्होंने उसी क्षण से अन्न-जल का त्याग कर दिया और गुरु के प्रसन्न होने पर ही जीवन धारण करने को तैयार हुए।

हित-प्रभु की निर्लोभता के भी दो उदाहरण उनके शिष्यों के चरित्रों में मिलते हैं। नर वाहन जी ने यमुना पर आने-जाने वाले माल पर ज़कात (चुंगी) लगा रखी थी। उनके अनुचर तत्परता के साथ चुंगी वसूल करते थे और जो कोई चुंगी नहीं देता था उसके माल को रोक लेते थे। एक वार एक जैन बनिया कई सशस्त्र नावों में बहु-मूल्य माल भर कर जा रहा था। चुंगी मांगने पर उसने लड़ाई छेड़ दी और घमासान युद्ध हुआ। नर वाहन जी की सेना ने उसकी कई नावें डुबो दीं और बनिये को गिरफ्तार करके उसके तीन लाख के माल को ज़ब्त कर लिया। बनिया को बन्दी-गृह में डालकर उससे कह दिया गया—'जब तू इतना ही धन अपने घर से और मँगा देगा, तब तेरी मुक्ति होगी।' कई महीने बीत गये, किन्तु वह घर से धन न मँगा सका। अन्त में एक दिन राज-सभा में उसको फाँसी देने का निर्णय कर दिया गया। नर वाहन जी की एक दासी को यह बात मालूम हुई, तो उसके मन में बड़ी करुणा उत्पन्न हुई। बनिया

अभी तरुण था और उसका जीवन इस प्रकार समाप्त होने योग्य नहीं था। फाँसी के दिन से एक रात पूर्व दासी कारा-गृह में उससे मिली और राजा के निर्णय की सूचना उसको दी। वैश्य बेचारा एक दम घबरा गया और दासी के पैर पकड़ कर बचने का उपाय पूछने लगा। दासी ने कहा—'राज-सभा का निर्णय बदला नहीं जा सकता। अब तो एक ही उपाय है कि तू कंठी और तिलक धारण करके पिछली रात उच्चा-स्वर से 'श्री राधावल्लभ-श्री हरिवंश' नाम की रट लगादे। राजा की इस नाम में बड़ी आसक्ति है। इसको सुनते ही वह दौड़ कर तेरे पास आवेगा और बेड़ी काट कर तुझ से बातचीत करेगा। राजा यदि पूछे, तो तू अपने को श्री हित हरिवंश का शिष्य बता देना'। दासी चली गई और बनिया ने रात्रि का तृतीय प्रहर आने पर अपने प्राणों का पूरा ज़ोर लगा कर 'राधा वल्लभ श्री हरिवंश' की धुन लगाई।

नाम-ध्वनि सुनकर राजा की नींद खुल गई। उसने उसी समय कारागृह का द्वार खुलवाया और वैश्य को गुरु-भ्राता समझ कर उसके पैर पकड़ लिये। अनेक प्रकार से क्षमा-याचना करनेके बाद नर वाहनजी ने उससे कहा 'हमने तुमको जैनी जान कर लूट लिया था। तुम श्री हित जीके शिष्य हो, यह मुझको किसी ने नहीं बतलाया था। प्रभु की ऐसी ही इच्छा समझ कर अब तुम इस दुखद-घटना को भूल जाओ'। प्रातःकाल नर वाहन जी ने वैश्य को स्नान करा कर बहुमूल्य वस्त्राभूषण प्रदान किये और उसका पूरा द्रव्य वापस देकर उस को अत्यन्त सम्मान-पूर्वक अनेक अनुचरों के साथ विदा कर दिया।

वहाँ से बिदा होकर वैश्य सीधा हित प्रभु के पास पहुँचा और सम्पूर्ण द्रव्य उनको भेंट करके उनसे शिष्य बनाने की प्रार्थना की। हित-प्रभुने उसकी उत्कट इच्छा देखकर उसको मन्त्र तो दे दिया, किन्तु उसके द्रव्य को स्वीकार नहीं किया। भगवत मुदित जी ने लिखा है:—

साठ बासनी मुहरनि भरीं। लै हित जी के आगे धरीं॥
गुरुनि कह्यौ धन तुमहीं राखौ। हार-हरिजन भजिकै रस चाखौ॥
(रसिक-अनन्य माल)

निर्लोभता का दूसरा उदाहरण गंगा बाई, यमुनाबाई के चरित्र से मिलता है। इन दोनों को मनोहर दास नाम के एक गायक ने पाला था। मरते समय वह गाड़ कर रखे हुये तीस हजार रुपये इनको बतला गया। गङ्गाबाई, यमुनाबाई ने रुपये निकाल कर श्री हितजी को भेंट करने चाहे, पर उन्होंने वे साधु-सेवा में लगवा दिये।

श्रीहित हरिवंश को उच्चकोटि की कवि-प्रतिभा प्राप्त थी एवं इनकी रचनाओं की कोमल-कांत-पदावली के कारण इनको ब्रजभाषा का जयदेव कहा जाता है। ब्रजभाषा में इनके चौरासी पद 'हित चतुरासी' के नाम से तथा फुटकर पद 'फुटकर वाणी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका संस्कृत पर भी पूरा अधिकार था। संस्कृत में इनकी दो रचनायें यमुनाष्टक एवं 'राधा-सुधा निधि', किंवा राधा-रस सुधा-निधि' उपलब्ध हैं। दूसरी रचना को कुछ लोग श्री प्रबोधानंद सरस्वती कृत बतलाते हैं। इस ग्रन्थ की जितनी प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध हैं, वे सब इसको श्री हित हरिवंश—कृत बतलाती हैं।

इस ग्रन्थ का एक प्रकाशित संस्करण बंगाक्षरों में प्राप्त है। उसमें आदि-अंत में श्री चैतन्य-बंदना का एक-एक श्लोक लग रहा है एवं रचयिता के स्थान पर प्रबोधानंद सरस्वती का नाम है। एर्गलिंग के इंडिया ऑफिस कैटलोग में, औफ्रैट के बोडेलियन कैटलोग में एवं हरप्रसाद शास्त्री के डैस्क्रिप्टिव कैटलोग में इस ग्रंथ की जितनी प्रतियों का परिचयात्मक उल्लेख है उनमें से किसी में, आदि-अन्त के ये श्लोक नहीं मिलते एवं सब में इसका रचयिता श्री हित हरिवंश को लिखा गया है। इसकी अनेक प्राचीन प्रतियाँ राधावल्लभीय सम्प्रदाय के अनुयायिओं के पास हैं। उनमें से लेखक की देखी हुई सबसे प्राचीन प्रति सं० १७१२ की है। इस प्रति के प्रथम एवं अन्तिम पत्रों में इस प्रति के लेखक ने लिखा है–'संवत् १७१२ वर्षे जेठ मासे पूर्णमास्यां श्री वृन्दावन-मध्ये लिखितं राजबाई केन, दामोदर दास गुजराती पठनार्थं, देववन की प्रति लिखी है, प्राचीन पुस्तकं याद्दृशमिति। या प्रत्य में जो पाठ है सो देववन की तीन प्रत्य देख कर लिख्यौ है, सो और प्रत्य देख कर पाठ मत फिरायौ। यह बहुत वर्षन कौ पाठ पुरातन है। याकौ अर्थ बहुत कठिन है, श्रीहित जू कृपा करें तब आवै। श्री हित जू की कृपा से यह पाठ लिख्यौ है। एक सौ बासठ के आगे कौ जो श्लोक एक 'मत्कंठे किं नखर शिखया' यामें नहीं है सो ओ तीनों प्रत्य मां नहीं हो। सो आगे पीछे के सम्बन्ध में नहीं लगै है। सो हित जू को हारद (हार्द) नहीं लगै है। सो काहू कौ धरचौ है तातें या रस सों मिलत नांहीं, या समझनौ।

इससे यह मालूम होता है कि सं १७१२ में इस ग्रन्थ की प्राचीन प्रतियाँ देववन में वर्तमान थीं और वही प्रामाणिक मानी जाती थीं। राधावल्लभीय इतिहास में इस ग्रन्थ को देववन की रचना बतलाया गया है और यह बात इस लेख से पुष्ट होती है। हम देख चुके हैं कि श्री हित हरिवंश सं० १५९० में वृन्दावन आये थे, अतः इस ग्रन्थ की रचना इस काल के काफी पूर्व हो चुकी थी। ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि इसके अधिकांश श्लोकों की रचना देववन में हुई है। कुछ श्लोक वृन्दावन आने के बाद बने हैं और दोनों को मिलाकर ग्रन्थका संकलन हुआ है।

राधावल्लभीय साहित्य में 'राधा-सुधानिधि' की छोटी-बड़ी अनेक टीकायें प्राप्त हैं जिनमें से कई अठारहवीं शताब्दी की हैं श्री हित हरिवंश के द्वितीय पुत्र श्री कृष्णचन्द्र गोस्वामी का एक 'उप-राधा सुधानिधि' नामक ग्रंथ भी प्राप्त है जिसकी रचना सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की हैं।

श्री हित-हरिवंश किसके शिष्य थे ?

श्री हित-हरिवंश उन विरल महा पुरुषों में थे जो संसार को नवीन 'दर्शन' प्रदान करने आते है। उनकी 'रस–रीति' सर्वथा नवीन एवं मौलिक रस-सिद्धान्त है। प्रेमा भक्तिकी उनके द्वारा कीगई व्याख्या एवं उस व्याख्याके अनुकूल लीला काविस्तार उनकी अपनी चीज है जो उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति पर आधारित है। बाल्य-काल से ही वे श्रीराधा-पक्षपाती थे और इस पक्षपात को उज्ज्वल रस के निरतिशय आस्वाद के लिये आवश्यक

मानते थे। देववन मे ही उन्होंने 'राधा-पद्धति' का प्रकाश एवं प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया था और इसी कार्य के लिये अठारह वर्ष वृन्दावन में निवास किया था। इन बातों को न जानने के कारण अनेक लोग उनका आरम्भ में किसी अन्य सम्प्रदाय का शिष्य होना लिख देते हैं। इन लोगों का ज्ञान चैतन्य संप्रदाय के उन बंगला-ग्रंथों पर आधारित है, जिनमें श्री हित-हरिवंश का अति संक्षिप्त परिचय दिया हुआ है। इन ग्रंथों के अनुसार श्रीहित-हरिवंश पहिले गोपाल भट्टजी के शिष्य थे और बाद में उनको श्री राधा से मन्त्र मिल गया था। मन्त्र मिलने पर उन्होंने एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय की स्थापना कर दी थी।

हम देख चुके हैं कि सोलहवीं शताब्दी में श्री कृष्ण किंवा राधा-कृष्ण को उपास्य मानने वाली तीन संप्रदायें विभिन्न दिशाओं से आकर ब्रज में केन्द्रित हुई थीं। वल्लभ-संप्रदाय ने अपना केन्द्र गोकुल और गोवर्धन को बनाया। चैतन्य-संप्रदाय एवं राधावल्लभीय-सम्प्रदाय का केन्द्र वृन्दावन बना। यह दोनों रसोपासक संप्रदायें थीं, किन्तु इनका प्रेम-सम्बन्धी दृष्टिकोण एक दूसरे से सर्वथा भिन्न था।

श्री रूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' के 'हरिवल्लभा' प्रकरण में गोपियों के 'बिपक्ष' यूथों में परस्पर प्रखर द्वेष की स्थिति बतलाई है। इसके बाद ग्रंथकार को उन लोगों का स्मरण आ गया है जो हरि-प्रिया गोपीजनों में द्वेषादि भावों को अनुचित मानते हैं। वे कह उठते हैं कि इस प्रकार कहने वाले लोग 'अपूर्व रसिक' हैं; अद्भुत रसिक हैं!

हरि प्रियजने भावा द्वेषाद्या नोचिता इति।
ये व्याहरन्ति ते ज्ञेया अपूर्वरसिका क्षितौ ॥

(उ० नी० पृ० २५४)

अठारहवीं शती में होने वाले श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक की टीका करते हुए 'अपूर्व रसिका,' का अर्थ 'अ' पूर्व में है जिनके ऐसे रसिक—अरसिक-बतलायाहै (अकार: पूर्वः येषांते अरसिका इत्यर्थः) संभवत: उस समय ऐसे 'अपूर्व रसिक' राधा-वल्लभीय लोग ही थे जो सब गोपियों को श्रीराधा के अनुगत मानते थे और उनमें से किसी को स्वपक्षा या विपक्षा नहीं मानते थे। श्री हित हरिवंश ने राधा-सुधा-निधि स्तोत्र में श्री राधा का अनुधावन करती हुई ब्रज-किशोरी-गण की घटा की भावना की है—

श्री राधामनुधावतीं व्रजकिशोरीणां घटां भावये।

(रा० सु० ८६)

मालूम होता है कि प्रारम्भ में जो एक स्वस्थ मतभेद था, वह आगे चल कर विकृत प्रतिस्पर्धा में परिणत हो गया। चैतन्य-सम्प्रदाय के इतिहास में प्रबोधानन्द सरस्वती नामक एक महात्मा श्री चैतन्य के परम भक्त एवं श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी के शिक्षा-गुरु हैं। भगवत् मुदित जी कृत 'रसिक अनन्य माल' में इसी नाम के एक महात्मा श्री हित हरिवंश के शिष्य बतलाये गये हैं और उनका विशद चरित्र भी उसमें दिया हुआ है। समय बीतने पर इन दोनों सम्प्रदायों ने इन दो महात्माओं को एक मानकर झगड़ना आरम्भ कर दिया। एक पक्ष गोपाल भट्ट गोस्वामी को हितजी के शिष्य प्रबोधानंद

का शिष्य बतलाता था और दूसरा पक्ष स्वयं हितजी को गोस्वामी गोपाल भट्ट का परित्यक्त शिष्य सिद्ध करता था !

इन दोनों सम्प्रदायों के अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दियों के इतिहास से मालूम होता है कि उस समय इस झगड़े ने उग्र रूप धारण कर लिया था और दोनों सम्प्रदाय अपने पक्ष को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये अपने प्राचीन ग्रंथों में इस झगड़े के नये अध्याय जोड़ रहे थे ! श्री हित हरिवंश के पौत्र वृन्दावन दास गोस्वामी का 'हितमालिका' नामक एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसमें सम्प्रदाय के आरम्भिक-युग का इतिहास दिया हुआ बतलाते हैं किन्तु आज वह जिस रूप में प्राप्त है उसमें केवल यही झगड़े भर रहे हैं।

गौड़ीय सम्प्रदाय के नित्यानन्द दास ने लगभग इसी काल में सोलह विलासों में पूर्ण एक 'प्रेमविलास' नामक ग्रंथ की रचना की। ग्रन्थकार ने अपने को नित्यानन्द प्रभु की पत्नी जाह्नवा देवी का शिष्य बतलाया है और ग्रन्थ-रचना का प्रयोजन तीन प्रसिद्ध गौड़ीय भक्त श्रीनिवास, नरोत्तमदास एवं श्यामानंद का चरित्र लिखना बतलाया है। यह ग्रन्थ विभिन्न भक्तों के द्वारा देखे गये स्वप्नों के वृत्तान्तों एवं आकाश-वाणियों से पूर्ण है। प्रेम-विलास के प्रथम विलास में पाँच स्वप्न-वृत्तान्त, तीसरे में दो, चौथे में पाँच स्वप्न और श्रीनिवास के साथ नित्यधामगत अद्वैत-प्रभु का साक्षात्कार, पंचम में एक स्वप्न, छठे में तीन, नवम में दो स्वप्न और आकाश वाणी, दशम में दो स्वप्न, ग्यारहवें में एक, तेरहवें में एक, और चौदहवें में एक स्वप्न-वृतान्त का सविस्तार वर्णन

किया गया है। इस ग्रन्थ की इस प्रकार की रचना-शैली देख कर लोगों ने इसमें अपनी मनमानी बातें घुसादी हैं और आज इस ग्रन्थ में साढ़े चौबीस विलास मिलते हैं !

श्री विमान बिहारी मजूमदार द्वारा लिखित एवं कलकत्ता विश्व विद्यालय द्वारा प्रकाशित 'चैतन्य-चरितेर उपादान' नामक खोज-पूर्ण ग्रन्थ में प्रेमविलास की विशद समीक्षा की गई है। श्री मजूमदार ने बतलाया है कि उन्होंने इस ग्रंथ की जो कई हस्त-लिखित प्राचीन प्रतियाँ देखी हैं, उनमें से काँदी गाँव के किशोरी मोहन सिंह के पासवाली प्रति में यह ग्रंथ सोलह विलासों में पूर्ण हुआ है। विष्णुपुर की महारानी ध्वजमणि पट्ट महादेवी के हाथ की लिखी प्रति में भी सोलह विलास हैं। राम नारायण विद्या-रत्न ने इस ग्रन्थ को प्रथम वार प्रकाशित किया था। उन्होंने इसमें सोलह के बजाय अठारह विलास रखे थे। द्वितीय संस्करण में उन्होंने दो विलास और बढ़ा दिये। उनके बाद में यशोदा नन्दन तालुकेदार ने इस ग्रन्थ के २४।। विलास प्रकाशित किये। श्री मजूमदार ने यह सब घटना देख कर लिखा है कि 'नन्दालय में जिस प्रकार श्रीकृष्ण दिन-दिन बड़े होते थे, उसी प्रकार वैष्णवों के घरों में 'प्रेम-विलास' बढ़ता चला गया।'

लेखक ने विस्तृत उद्धरण देकर यह भी बतलाया है कि 'प्रेम विलास' में वर्णित घटनाओं का सम्प्रदाय के प्रचलित इतिहास से सीधा विरोध पड़ता है। स्वयं ग्रंथ के अन्दर परस्पर विरोधी बातों के भी कई उदाहरण उन्होंने दिये हैं। एक

मज़ेदार बात लेखक ने यह बतलाई है कि 'प्रेम-विलास' की प्रसिद्ध प्राचीन प्रतियों के पाठ एक दूसरे से नहीं मिलते। सुप्रसिद्ध वैष्णव साहित्यिक हाराधनदत्त महाशय ने सन् १८९३ के आश्विन मास की "विष्णु प्रिया" पत्रिका में लिखा है 'हमारे घर में दो सौ वर्ष पुरानी 'प्रेम-विलास' की जो प्रति है, उसमें एवं मुद्रित पुस्तक में अनेक स्थलों पर प्रसंगों का मेल नहीं बैठता......केवल वर्त्तमान काल की ही बात नहीं है, प्राचीन काल से ही 'प्रेम-विलास' के अनेक स्थलों में अनेक लोगों की कारीगरी है। अतः इस ग्रंथ का विशेष सावधानी के साथ पाठ करना चाहिये'। गौड़ीयभक्ति-साहित्य के सुप्रसिद्ध व्याख्याता श्री अतुल कृष्ण गोस्वामी ने 'चैतन्य भागवत' की अपनी भूमिका में लिखा है–'प्रक्षिप्तांश-पूर्ण' प्रेम-विलास की सब बातें विश्वास-योग्य नहीं हो सकतीं।'

इस ग्रंथके अठारहवें विलास में श्री हित हरिवंश का चरित्र दिया हुआ मिलता है। चरित्र को पढ़ने से मालूम हो जाता है कि इसका उद्देश्य किसी ऐतिहासिक तथ्य का कथन करना नहीं है। विचित्र बात तो यह है कि जो ग्रंथ अपने को सं० १६५७ की रचना बताता है (देखिये चौबीसवाँ विलास), उसके कर्ता को श्री हित हरिवंश के चारों पुत्रों के ठीक नाम मालूम नहीं है ! सं० १६५७ में हितजी के चारों पुत्र विद्यमान थे एवं ग्रन्थ निर्माण और पद-रचना कर रहे थे। 'प्रेम-विलास' में इनके नाम क्रमशः कृष्णदास, सूर्यदास, वनचन्द्र और वृन्दावन चन्द्र दिये हुए हैं ! हम देख चुके हैं कि इनके नाम क्रमशः श्री वनचन्द्र, कृष्ण चन्द्र, गोपीनाथ एवं मोहनचन्द्र थे। इन चारों की रचनाएँ प्राप्त हैं।

इस ग्रंथ में श्री हित हरिवंश का चरित्र दोनों संप्रदायों के 'एकादशी व्रत'-सम्बन्धी मत-भेद को लेकर खड़ा किया गया है। श्री हित हरिवंश का महा प्रसाद के प्रति अत्यन्त पक्षपात था। नाभाजी ने उनके सम्बन्ध में जो छप्पय लिखा है, उसमें भी इस बात का उल्लेख किया है।

सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्ध ता के अधिकारी।
विधि निषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी।

निष्कपट एवं अनन्य दास्य उनके सिद्धान्त का एक प्रधान अंश था। वे दास के लिये स्वामी के उच्छिष्ट से अधिक मूल्यवान अन्य कोई वस्तु नहीं मानते थे। भगवत्-उच्छिष्ट को, इसी लिये, उन्होंने महाप्रसाद—'स्वामी की परम प्रसन्नता' का रूप माना है। उनकी दृष्टि में महाप्रसाद का त्याग किसी दिन भी—एकादशी के दिन भी—नहीं किया जा सकता। उधर श्रीमद्भागवत आदिक वैष्णव शास्त्र एकादशी व्रत पर बहुत भार देते हैं और शास्त्र-विधि को मानने वाले वैष्णवों के गले इस बात का उतरना बहुत कठिन था। हित-प्रभु के जीवन काल में ही इस बात का तीव्र विरोध हुआ था। 'सेवक वाणी' में, जिसकी रचना हितजी के निकुञ्ज-गमन के थोड़े दिन बाद ही हुई थी, इस विरोध का संकेत मिलता है। सेवक जी ने एक स्थान पर कहा है 'हित प्रभु उन लोगों पर भी अनुग्रह रखते थे जो असहिष्णुता के कारण उनकी निंदा करते थे'।

(सेवक वाणी - १२ - २)

असहिष्णुता से प्रेरित होकर एकादशी-व्रत-सम्बन्धी जिस विचित्र घटना की उदभावना की गई थी, उसी का संग्रह

'प्रेम विलास' में कर दिया गया है। 'प्रेम विलास' में दिये हुए श्री हरिवंश चरित का सार यह है कि हरिवंश नामक एक 'व्रजवासी' ब्राह्मरण गोपाल भट्ट गोस्वामी के शिष्य थे। वे महा परिडत एवं भक्त थे। एकादशी व्रत के ऊपर उनकी अपने गुरु के साथ खटपट हुई जिसका मूल्य उनको अपने जीवन से चुकाना पड़ा। मृत्यु के बाद गुरु-कृपासे ही उनका उद्धार हुआ।

श्री हित हरिवंश को गोपाल भट्ट गोस्वामी का शिष्य बतलाने वाला दूसरा गौड़ीय ग्रन्थ बँगला भक्तमाल है। इसके कर्ता लालदास किंवा कृष्णदास हैं। इस ग्रन्थ में रचना काल नहीं दिया है किन्तु लालदास का एक अन्य ग्रंथ 'उपासना चन्द्रामृत' प्राप्त है जो संवत् १८१६ की रचना है। (उपासना चन्द्रामृत पृ० १६०) इस ग्रन्थ में उन्होंने अपनी गुरु-प्रणाली श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी से प्रारम्भ की है और अपने को उनकी शिष्य परम्परा में बतलाया है।

लालदास ने अपने 'भक्त माल' के प्रारम्भ में नाभाजी की भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास जी की टीका का अनुसरण करने को कहा है और लिखा है 'मैं उनके पीछे चल कर कहीं, कहीं कुछ विस्तार भी करूँगा।'

यथा यथा प्रियादास संक्षेपे ते अति। बर्लाना प्रवेशय साधारण मति
सेई सेई कौनौ कौनौ स्थाने किछूकिछू विस्तार करियाकरौंतार पाछूपाछू
(पृ० ३)

लालदास ने अपने ग्रंथ में जहाँ तक प्रियादासजी के पीछे चलकर विस्तार किया है, वहीं तक कुशल रही है। श्रीहित हरिवंश एवं श्री हरिराम व्यास के चरित्रों में उन्होंने प्रियादासजी

का साथ सर्वथा छोड़ दिया है और अपनी मनमानी बातें लिखी हैं। प्रियादास जी ने अपनी टीका में उत्तमदास जी कृत 'श्री हरिवंश चरित्र' का अनुसरण किया है। इस टीका में तीन कवित्त लग रहे हैं। दूसरे कवित्त में देववन से वृन्दावन आते समय श्री राधिका की आज्ञा से श्री हित हरिवंश द्वारा दो विप्र कन्याओं एवं भगवत्-विग्रह के अंगीकार की बात लिखी है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वृन्दावन आने से पूर्व ही हितप्रभु को राधिका जी की कृपा प्राप्त हो चुकी थी। तीसरे कवित्त में बतलाया गया है कि हितप्रभु ने राधावल्लभलाल की आज्ञा से कुंज-धाम के विलास और सेवा का प्रकाश किया था और जिन रसिकों ने राधा-चरणों की प्रधानता स्वीकार की थी उनको यह प्रदान किया था।

राधिकावल्लभलाल आज्ञा सो रसाल दई,
सेवा मो प्रकास औ विलास कुंजधाम कौ।
सोई विस्तार सुखसार दृग रूप पियौ,
दियौ रसिकनि जिनि लियौ पच्छ वाम कौ ॥

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि लालदास ने श्री हित हरिवंश का चरित्र लिखने में प्रियादास जी की टीका की बजाय 'प्रेम-विलास' का अनुसरण किया है। दोनों में अंतर इतना है कि लालदास का लिखने का ढंग 'प्रेमविलास' की अपेक्षा अधिक संयत है और उन्होंने प्रेमविलास वाले चरित्र के वीभत्स अंशों को छोड़ दिया है।

प्रियादास जी ने भक्तमाल की अपनी टीका सं० १७६९ में पूर्ण की थी। सम्भवतः इसके बाद ही 'प्रेम विलास' में श्री-

हित हरिवंश सम्बन्धी कथानक जोड़ा गया है और लालदास ने उन्नीसवीं शताब्दी में वह अपने ग्रन्थ में ग्रहण कर लिया है।

इस प्रकार, इन दोनों ग्रन्थों में दिये गये वृत्तान्तों के अप्रामाणिक सिद्ध हो जाने से शिष्यता-संबन्धी विवाद निराधार बन जाता है और राधावल्लभीय इतिहास पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं रहता।

निकुञ्ज-गमन-काल

सम्प्रदाय के इतिहास में सर्वत्र श्री हित हरिवंश का निकुंज-गमन सं० १६०९ की आश्विन सुदी पूर्णिमा को बतलाया गया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में लिखा है कि 'ओरछा नरेश महाराज मधुकरशाह के राज गुरु श्री हरिराम व्यास जी सं ०१६२२ के लगभग आपके शिष्य हुये थे। इससे श्री हित जी के सं० १६२२ में और उसके बाद भी, विद्यमान रहने की भ्रान्ति होती है। शुक्ल जी ने यह बात-किस आधार पर लिखी है, इसका पता बहुत ढूँढ़ने पर भी नहीं चलता। व्यास जी का सबसे प्राचीन चरित्र 'रसिक अनन्यमाल' में प्राप्त होता है और उसमें सं० १५९१ में उनका शिष्य होना लिखा है। किसी सबल विरोधी प्रमाण के अभाव में इस पर अविश्वास करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता।

इसके अतिरिक्त हित जी के बाद उनके बड़े पुत्र वनचन्द्र गोस्वामी के गद्दी पर बैठने का काल जयकृष्ण जी ने कार्तिक सुदी १३ सं० १६०९ लिखा है।

संवत् सोरह सै नव सही। कातिक सुदि तेरस दृढ़ गही।
आसन पर बैठे गुरु राज। श्री बनचन्द्र सुहृद सिरताज ।।
(हितकुल शाखा-१२)

जयकृष्ण जी ने बतलाया है कि हित प्रभु के निकुंज-गमन के समय श्री बनचन्द्र जी वृन्दावन में उपस्थित नहीं थे। सूचना मिलने पर वे देवबन से अकेले आये और परिवार बाद में आया।

श्री वनचंद विपिन तहँ आये—श्री स्वामी हरिदास सिहाये।
ता पाछैं सब कुटुँब बुलायौ—श्री वृन्दावन वास दृढ़ायौ ।।
(हितकुल शाखा)

बनचन्द्र गोस्वामी हित प्रभु के बड़े पुत्र थे अतः उनके बाद में वही राधावल्लभ जी के मंदिर के प्रबंधक एवं प्रधान सेवाधिकारी नियुक्त हुये। श्री बनचन्द्र जी के बाद सेवाधिकारियों की एक परम्परा मिलती है जो 'अधिकारी' कहलाते थे। इन अधिकारियों से सम्बन्धित अनेक पुराने कागज़ात प्राप्त हैं, जिनमें उनका जन्म-संवत्, निकुंज-गमन संवत् एवं अधिकार-काल दिया हुआ मिलता है। इनमें गोस्वामी बनचन्द्र जी का अधिकार काल ५५ वर्ष दिया हुआ है, जो सं० १६०९ से सं० १६६५ तक रहा था।

इसके अतिरिक्त 'रसिक अनन्यमाल' में दिये गये हितप्रभु के शिष्यों के चरित्रों में अकबर और उसके समकालीन व्यक्तियों के नाम मिलते हैं और श्री हितजी के शिष्यों के चरित्रों में हुमायूँ और उसके समकालीन शासकों के नाम पाये जाते हैं।

श्रीहित हरिवंश के शिष्य राजा परमानंददास के चरित्र में हुमायूँ का नाम और नवलदास जी के चरित्र में शेरशाह, हेमू, और हुमायूँ के नाम मिलते हैं। गोस्वामी बनचन्द्र जी के कनिष्ठ-भ्राता गोस्वामी गोपीनाथ जी के शिष्य सुन्दरदास जी के चरित्र में अकबर, रहीम खानखाना, राजा मानसिंह और गोपालसिंह जादौ के नाम आते हैं। इससे भी अकबर के राज्यारोहण से पूर्व सं० १६०९ में श्री हित हरिवंश का निकुंज-गमन सिद्ध होता है।

———

सिद्धान्त

*

प्रमाण-ग्रन्थ

श्री राधा वल्लभीय सम्प्रदाय विशाल वैष्णव-धर्म का एक सम्प्रदाय-विशेष है। वैष्णव-धर्म के उपलब्ध इति-वृत्त से मालुम होता है कि यह हमारे देश का एक अत्यन्त प्राचीन धर्म है और वेदों से लेकर अब तक अनेक रूपान्तर ग्रहण करता चला आ रहा है। इस धर्म में विष्णु परम दैवत हैं और इस धर्म के अनेक रूपान्तरों में वे अनेक नाम रूपों में प्रगट होते रहे हैं। ऋगवेद (१, २२, १७–१८) में सम्पूर्ण ब्रह्मांडों को तीन पदों में नापने वाले गोप विष्णु (विष्णुर्गोपा:) के दर्शन होते हैं और शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें कांड में एक कथा मिलती है जिसमें सब देवों ने विष्णु को 'देवाधिदेव' स्वीकार किया है। इसी ब्राह्मण में विष्णु को यज्ञ–स्वरूप बतलाया गया है। तैत्तिरीय आरण्यक में विष्णु को नारायण कहा गया है, किन्तु प्राचीन वैदिक साहित्य में विष्णु किंवा नारायण की उपासना-पद्धति का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

इस अंग की पूर्ति वैष्णव आगम ने की है जो अपने को वेदों का ही एक अंग मानता है और अपना सम्बन्ध वेद की 'एकायन' शाखा से बतलाता है। छान्दोग्य उपनिषद (७।१।२)

में 'एकायन' विद्या का नामोल्लेख है किन्तु उसके प्रतिपाद्य, विषय की ओर कोई संकेत नहीं है। आज कल 'पांचरात्र' ही वैष्णवागमों का प्रतिनिधि माना जाता है। शतपथ ब्राह्मण (१३-६-१) में पांचरात्र-सत्र का वर्णन मिलता है जिसको नारायण ने समस्त प्राणियों पर आधिपत्य प्राप्त करने के लिये पांच दिनों तक किया था। किन्तु इस सत्र के आध्यात्मिक रहस्यों का पता नहीं चलता। उत्पल की स्पन्द कारिका में पांचरात्र श्रुति, पांचरात्र उपनिषद एवं पांच रात्र संहिता से अनेक उद्धरण दिये हैं, किन्तु अब यह ग्रन्थ प्राप्त नहीं होते हैं। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान (शान्ति, ३३५-३४६) में सर्व प्रथम इस आगम के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। पांचरात्र का दूसरा नाम 'भागवत' या 'सात्वत' है।

वैष्णवों का दूसरा आगम 'वैखानस आगम' है, जिसका सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद की 'औखेय' शाखा से बतलाया जाता है। यह आगम, पांचरात्र के समान प्राचीन एवं प्रामाणिक होने पर भी, उतना प्रख्यात नहीं है। इस आगम के केवल चार ग्रन्थ अब तक उपलब्ध हुए हैं।

आगमों का प्रथम कार्य वेदों के हिंसा-बहुल यज्ञों के स्थान में हिंसा-शून्य यज्ञों का प्रचार करना था और दूसरा कार्य विष्णु किंवा नारायण को परम तत्व मानकर एक सरस एवं समृद्ध उपासना-पद्धति का विकास करना था। आगमों में वेद प्रतिपादित आध्यात्मिक रहस्यों का स्वतंत्र दृष्टि से विचार किया गया है और यह विचार-स्वातंत्र्य प्रारंभ से ही वैष्णव

धर्म की विशेषता रही है। विशाल दृष्टिकोण एवं परिवर्तित परिस्थिति के अनुकूल बनने की अपनी अद्भुत क्षमता के कारण यह धर्म भव-विप्लव में पड़े हुये जीवों को, हर युग में, सांत्वना एवं श्रेय का मार्ग बतलाता रहा है और बाहर से आई हुई बर्बर-जातियों को, भी अपनी ओर आकर्षित करके, अत्मसात् करता रहा है वैष्णव धर्म ने जैन एवं बौद्ध धर्मों के उत्थान पतन को देखा हैं और दोनों को अपने उदार सिद्धान्तों से प्रभावित किया है। अपने विकास की अनेक भूमिकाओं से गुज़रता हुआ यह धर्मगुप्त सम्राटों के काल में भारतवर्ष का राज-धर्म बना था और स्वयं गुप्त सम्राटों ने 'परमभागवत' की उपाधि ग्रहण की थी। इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि गुप्त साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के बाद मध्य भारत के अनेक राजानकों ने इस धर्म को अपना राज-धर्म बनाया था और काश्मीर से लेकर द्रविड़ देश तक इस धर्म के उपास्य देवों एवं उपासना-पद्धति का प्रचार था। बौद्धों के महायान सम्प्रदाय एवं भागवत धर्म में अनेक बातों में समानता है और दोनों अनेक शताब्दियों तक उत्तर भारत में साथ-साथ फूलते फलते रहे थे, किन्तु बौद्धों के दार्शनिक सम्प्रदाय वैदिक-धर्म के मौलिक सिद्धान्तों पर बराबर आघात करते रहते थे और यह बात वैदिक विद्वानों की चिन्ता का विषय बनी हुई थी।

ईसा की आठवीं शताब्दी में अपूर्व विचारक श्री शंकराचार्य का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं भगवद् गीता को प्रस्थान बनाकर एक ऐसे दार्शनिक सिद्धांत की स्थापना की जो बौद्ध सिद्धान्त के साथ कुछ दूर तक

जाकर उसका खंडन करता है । अपने सिद्धान्त के लिये श्री शंकराचार्य ने केवल निगमों (वेदों) के प्रामाण्य को स्वीकार किया है, और आगमों को प्रामाणिक नहीं माना है। श्री शंकराचार्य के प्रयासों से वेदान्त-दर्शन को एक नवीन चेतना प्राप्त हुई, किन्तु मुख्यतया आगमों पर आधारित भागवत धर्म को आघात पहुँचा ।

श्री शंकराचार्य का जन्म दक्षिण में हुआ था और वहाँ, उनके जन्म से अनेक शताब्दी पूर्व से, विष्णु भक्त आलवार संतों की एक परम्परा चली आ रही थी। इस परम्परा में बारह संत हुए हैं, जिन्होंने अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति के अधार पर अपनी देश भाषा (तामिल) में भक्ति का गान किया है। इन संतों का प्रभाव वहाँ के साधारण जन-समाज पर तो था ही, समाज के उच्च स्तर भी इनके द्वारा प्रदर्शित दिव्य आलोक से आलोकित थे । स्वयं आलवारों में नम्म आलवार किंवा षट्कोप स्वामी एक राजपुत्र थे और कुलशेखर आलवार केरल के राजा थे। आलवार संतों ने अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर वेदों एवं वैदिक धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है किन्तु उन्होंने नाम स्मरण, इष्टाराधन एवं नवधा भक्ति मार्ग को ही भव-संतरण का एक मात्र उपाय बतलाया है। इन संतों की वाणियों में दार्शनिकता का उतना ही पुट पाया जाता है जितना भक्ति-भाव की दृढ़ता के लिये आवश्यक है और वह पांचरात्र सिद्धान्त के अनुसार है। श्री शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त-दर्शन के साथ भागवत धर्म को

सुदृढ़ दार्शनिक आधार पर स्थित करने की आवश्यकता दाक्षिणात्य विद्वानों को प्रतीत हुई।

इस कार्य का सूत्रपात दशवीं शताब्दी में श्रीनाथ मुनि ने किया। उन्होंने योग और न्याय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे और आलवार संतों की वाणियों के संग्रह 'तामिल वेद' का पुनरुद्धार किया। इन्होंने वैदिक सिद्धातों के साथ तामिल वेद के सिद्धान्तों का पूरा सामंजस्य दिखलाया एवं भक्ति के साथ वेद-प्रतिपादित ज्ञान और कर्म का समन्वय किया। इनके बाद इनके पौत्र श्री यामुनाचार्य ने वेदान्त पर 'सिद्धित्रय' नामक एक प्रौढ़ ग्रंथ लिखा एवं 'आगम प्रामाण्य' में पांचरात्र की प्रामाणिकता का स्थापन सबल युक्तियों से किया। इस परम्परा के तीसरे प्रसिद्ध आचार्य श्री रामानुज हैं, जिन्होंने वैष्णव धर्म की प्रथम वेदान्त-सम्प्रदाय, विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना की एवं प्रस्थान-त्रय पर स्वमतानुकूल भाष्यों की रचना की। श्री रामानुज ने सारे भारतवर्ष में घूम कर अपने सिद्धान्त का प्रचार किया और भागवत धर्म पर श्री शंकराचार्य द्वारा लगाये गये अवैदिकता के दोष को बहुत कुछ अंशों में मिटा दिया। श्री रामानुज का जन्म यद्यपि आलवारों की परम्परा में हुआ था। किन्तु निगम और आगम का समन्वय करने के कारण यह एवं इनके पूर्ववर्ती आचार्य 'उभय वेदांती' कहलाते हैं। बारहवीं शताब्दी में वैष्णवों के इस प्रथम वेदांत-सम्प्रदाय की स्थापना के बाद अगली चार शताब्दियों में अन्य तीन वैष्णव वेदान्त-सम्प्रदायों की स्थापना की गई। इन वैष्णव सम्प्रदायों ने भक्ति के स्वरूप को जिस दृष्टि से देखा

उसी के अनुकूल वेदान्त-मत की स्थापना प्रस्थान त्रय पर भाष्य रचकर कर दी, और इस प्रकार, एक ही भक्ति-सिद्धांत में अनेक वेदांत-मतों का समावेश हो गया एवं अन्य अनेकों के समावेश की संभावना बनी रही ।

वेदान्त का सहारा पाकर भक्ति-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा में काफी वृद्धि हुई और संस्कृताभिमानी विद्वज्जनों में उसका प्रचार भी खूब हुआ, किन्तु वेदान्त-दर्शन की समीक्षात्मक शैली भक्ति-भाव जैसी मानव हृदय की सुकोमल एवं मधुर अनुभूति के प्रकाशन में पूर्णतया समर्थ न हो सकी । भागवत-सिद्धान्त का विवेचन करने के लिए एक ओर तो वैष्णवाचार्यों को ठेठ दार्शनिक-शैली में अनेक सुधार करके उसको अपनी ध्येय-सिद्धि के अनुकूल बनाना पड़ा और दूसरी ओर भक्ति-सिद्धांत को दार्शनिक-शैली में ढालने के लिये उसकी नवीन ढंग से योजना करनी पड़ी । वैष्णवों की प्रथम वेदान्त-सम्प्रदाय की स्थापना के लगभग डेढ़ सौ वर्षों के भीतर ही, इस प्रश्न को लेकर, वैष्णवों में दो सर्वथा स्वतन्त्र मत उठ खड़े हुए । एक पक्ष आलवार संतों की प्रत्यक्ष अनुभूतियों पर आधारित 'तामिल वेद' को ही अन्तिम प्रमाण मानता था और 'आचार्यों' द्वारा संस्कृत भाषा में निवद्ध भक्ति-वेदान्त-ग्रन्थों पर आस्था नहीं रखता था । शुद्ध भक्ति के पक्षपाती इस मत का नाम 'टेङ्कलै' है । दूसरा पक्ष दोनों को प्रमाण कोटि में मानता था और संस्कृताभिमानी था । इस मत का नाम 'वड़कलै' है । कहा जाता है कि आज कल प्रथम मत का ही प्रसार दक्षिण भारत में विशेष रूप से दिखलाई पड़ता है ।

वैष्णव-सिद्धांत के उपस्थापन में ठेठ दार्शनिक शैली की अयुक्तता का भान इन महान आचार्यों को भली प्रकार था और श्री रामानुज ने वेदान्त ग्रन्थों के साथ 'विष्णु पुराण' को तथा श्री मध्व एवं निम्बार्काचार्य ने 'भागवत पुराण' को अपनी सम्प्रदायों में महत्व दिया। किन्तु प्रस्थान त्रय के समान ही श्रीमद् भागवत को प्रमाण-ग्रन्थ मानने का सर्व प्रथम श्रेय श्री वल्लभाचार्य को है। उन्होंने वेद, भगवद्गीता और ब्रह्म-सूत्रों के समान ही व्यास की 'समाधि भाषा' श्रीमद् भागवत् को अपनी सम्प्रदाय के लिये प्रमाण माना है।

श्रीमद् वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत सिद्धान्त चौथा दार्शनिक वाद था, जो श्री शंकराचार्य के केवलाद्वैत के विरुद्ध स्थापित किया गया था। पिछली चार शताब्दियों में इस विरोध के फल स्वरूप विपुल दार्शनिक-साहित्य की रचना हुई थी और दोनों ओर का विद्वत् समाज इस विवाद में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बैठा था। दक्षिण में वैष्णव-धर्म के उत्थान के लगभग समकाल में ही, उत्तर भारत मुसलमानों द्वारा पदाक्रान्त होने लगा था और सोलहवीं सदी तक आते-आते यह विदेशी आक्रमण भारतीय धर्म, समाज एवं संस्कृति के क्षेत्रों तक पहुँच चुका था। राजनैतिक पराजय के साथ सांस्कृतिक पराभव का भय उपस्थित था। ऐसे कठिन समय में, जबकि भारतीयों की अजेय आत्मश्रद्धा भी डगमगा उठी थी, मनुष्य के दैनंदिन जीवन से अलग पड़े हुए दार्शनिक विवादों का उपयोग अधिक नहीं था। उस समय का पीड़ित एवं त्रस्त जन-समाज किसी ऐसी जाग्रत ज्योति को खोज रहा था

जो उसके जीवन की विभीषिका को दूर करके, उसको शाश्वत सुख-शान्ति का मार्ग दिखला सके ।

विनाश के द्वार पर खड़ी हुई हिन्दू जाति एवं संस्कृति की रक्षा के लिये, पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही, देश के हर भाग में समर्थ संतों का का प्रादुर्भाव होने लगा था, जो विभिन्न मार्गों से एक ही लक्ष्य की ओर धावित थे । विभिन्न रूचि एवं स्वभाव के कारण इन संतों की साधना पद्धति में परस्पर कितना भी भेद रहा हो किन्तु वे सब धर्म को स्थापित परम्पराओं के जाल से निकाल कर मनुष्य जीवन के निकट लाने के लिये समान रूप से प्रयत्नशील थे । यह कार्य उन्होंने अपनी वाणी एवं व्यक्तित्व में भगवत्-प्रेम को प्रत्यक्ष करके किया । प्रेम के समान अन्य कोई वस्तु मनुष्य जीवन के निकट नहीं है और जीवन में प्रेम का स्वरूप जितना उदात्त होता है, जीवन उतना ही उन्नत होता है । प्रेम-भक्ति को परम धर्म का स्वरूप बतला कर इन संतों एवं आचार्यों ने धर्म को, उसके साथ जुड़ी, अनेक दार्शनिक एवं कर्मकाण्ड-सम्बन्धिनी विडम्बनाओं से बचा लिया और उसको अपनी स्वाभाविक स्थिति में स्थित कर दिया ।

उत्तर भारत में भागवत-धर्म को अनावश्यक बन्धनों से मुक्त करने वाले प्रथम संत श्री रामानंद स्वामी हैं । इनके शिष्य कबीरदास जी ने निर्गुण-भक्तिवाद की नींव रखी, जो अपनी उदारता के लिये प्रसिद्ध है इन्होंने भक्ति सम्बंधिनी अपनी अनुभूतियों का वर्णन-लोक भाषा में किया एवं धर्म को लोक जीवन से अलग रखने वाले पंडितों का विरोध वे जीवन भर

करते रहे। तत्कालीन इतिहास के विद्वानों ने बतलाया है कि कबीरदास जी के जन्म के समय उत्तर भारत में कई धार्मिक शक्तियाँ काम कर रही थीं और, स्वाभाविकतया,कबीर के भक्ति-वाद पर उनका प्रभाव पड़ा है। कबीरदास जी की भक्ति का आलम्बन इतना विशाल है कि उसके माहात्म्य-ज्ञान को एक क्षण के लिये भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। उस आलम्बन का नाम 'राम' होते हुये भी वह गोस्वामी तुलसीदास के जन-मन- हारी राम से भिन्न है। माहात्म्य-ज्ञान की प्रखरता उपासक को श्रद्धावनत कर सकती है, उसके चित्त का बल-पूर्वक हरण नहीं कर सकती। इसके लिये प्रीति को ऐसे आलम्बन की आवश्यकता होती है जो प्रीति का ही स्वरूप हो और प्रीति की सम्पूर्ण सुषमा एवं मनोहारिता लिये हो। ऐसा आलम्बन ही बलपूर्वक प्रीति को अपने प्रति केन्द्रित रख सकता है और अपनी शक्ति से सुप्त प्रीति को उद्बुद्ध कर सकता है। ऐसे आलम्बन को पाकर भक्त की असहायता उसका सबसे बड़ा बल एवं उसकी निर्व्याज दीनता उसका सबसे बड़ा आकर्षण बन जाते हैं। दीन एवं असहाय जन समाज को ऐसे ही प्रेममय आलम्बन की आवश्यकता थी।

सोलहवीं शताब्दी में, थोड़े-थोड़े अंतर से, क्रमशः प्रगट होनेवाले श्रीवल्लभाचार्य, श्रीचैतन्य एवं श्रीहित हरिवंश ने, श्रीमद्भागवत् का आधार लेकर,मनुष्य की सहज प्रीति को ऐसे ही समर्थ आलम्बन प्रदान किये। श्रीवल्लभाचार्य ने यद्यपि, एक लुप्तप्राय वेदान्त-सम्प्रदाय को पुनः स्थापित किया था, किन्तु उनका एवं उनके प्रतिभाशाली शिष्यों का प्रधान लक्ष्य

एक समृद्ध प्रेम-मार्ग की स्थापना का ही था। उनके स्वयं के सुबोधिनी आदि ग्रन्थों, एवं सूरदास, कुंभनदास आदि उनके शिष्यों की रचनाओं से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है। श्रीचैतन्य एवं श्रीहित हरिवंश ने प्रेम-भक्ति को सम्पूर्ण वेदों का सार बतलाकर उसको सब वेदान्त-वादों से परे घोषित किया एवं उसकी प्रतिष्ठा के लिये किसी वेदान्तवाद की सहायता को अनावश्यक बतलाया। भक्ति के क्षेत्र में, श्रीरामानुज के साथ प्रारम्भ होने वाली, वेदान्तवादों की प्रधानता इसके पूर्व ही अपना महत्व खो चुकी थी। श्री रामानुजाचार्य ने, जिन कारणों से प्रेरित होकर दार्शनिक विवाद में पड़ना स्वीकार किया था, वे अब नष्ट हो चुके थे और उनके स्थान में नये प्रश्न और नई समस्यायें धार्मिक जगत के सामने उपस्थित थीं। कबीरदास जी आदि संतों ने इन समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की थी और वे कितने ही अंशों में कृतकार्य भी हुए थे। सोलहवीं शताब्दी के वैष्णवाचार्यों ने देश के एक कोने से दूसरे कोने तक भगवत्-प्रेम की प्रबल मन्दाकिनी प्रवाहित करके चारों ओर ऐसी शीतलता एवं पावनता का विस्तार कर दिया जिसके कारण उस अग्निपरीक्षाकाल में भी भारतीय जीवन हरा-भरा बना रहा।

श्री चैतन्य के जीवन के पिछले अठारह वर्ष दिव्य उन्माद की अवस्था में व्यतीत हुए थे और यही वह काल था जिसमें उनके द्वारा एक प्रबल भक्ति-आन्दोलन को जन्म मिला था। रचना के नाम पर उनके दस श्लोक प्राप्त होते हैं और उनमें से एक भी उनके किसी दार्शनिक मत की ओर संकेत नहीं

करता। किन्तु, उनके प्रेममय चरित्रों में प्रीति का जो स्वरूप मूर्तिमान हुआ था, उसका विश्लेषण एवं वर्णन, उनके अनुयायिओं द्वारा रचे गये, लाखों श्लोकों में भी समाप्त नहीं हो पाया है! चैतन्य-सम्प्रदाय में एकमात्र श्रीमद्भागवत को प्रमाण माना गया है एवं उसको ब्रह्मसूत्रों का, स्वयं वेद व्यास रचित, भाष्य स्वीकार किया गया है। गौड़ीय भक्ति-सिद्धान्त के प्रथम व्याख्याता श्री सनातन गोस्वामी एवं श्रीरूप गोस्वामी के ग्रन्थों में किसी विशिष्ट दार्शनिक मत की स्थापना का उद्यम दिखलाई नहीं पड़ता किन्तु, उनके प्रतिभाशाली भ्रातुष्पुत्र श्री जीव गोस्वामी ने अपने संदर्भों में 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' को श्रीचैतन्य का दार्शनिक मत बतलाया है और उसका पोषण प्रधानतया श्रीमद्भागवत से किया है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, श्रीबलदेव विद्याभूषण ने अचिन्त्य-भेदाभेद सिद्धान्त के अनुकूल, अपने 'गोविन्द भाष्य' की रचना ब्रह्मसूत्र पर की है और गीतापर उनकी 'गीताभूषण' नामक व्याख्या प्राप्त है। श्रीमद्भागवत को ब्रह्मसूत्रों का सर्वोत्कृष्ट भाष्य स्वीकार कर लेने पर किसी स्वतन्त्र भाष्य की रचना का प्रयोजन नहीं रहता। उक्त सूत्रों पर 'गोविन्द भाष्य' की रचना एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना को लेकर हुई है, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे। यह स्पष्ट है कि आज भी चैतन्य-सम्प्रदाय का गौरव उसके विशिष्ट भक्ति-सिद्धान्त के कारण है और वही भरतीय संस्कृति को उसकी अनुपम देन है।

श्रीहित हरिवंश का जीवन भी शुद्ध प्रेम-मय एवं सर्वथा विवाद-शून्य था। विवाद के द्वारा दार्शनिक मत की प्रतिष्ठा

की जा सकती है, प्रेम सिद्धान्त की नहीं। इसके लिये तो केवल प्रेमपूर्ण मन, कर्म और वाणी की आवश्यकता है। प्रसिद्ध भक्त-कवि श्री हरिराम व्यास श्रीहित जी के एक पद को सुनकर उनकी ओर आकृष्ट हुए थे और उन्होंने वृन्दावन आकर उनके साथ शास्त्र-चर्चा करके अपने संशयों को निवृत्त करना चाहा था। इसके लिये वे अपने साथ अनेक ग्रन्थ भी लाये थे किन्तु श्रीहित हरिवंश ने एक पद के द्वारा उनकी हृदय-ग्रन्थियों को खोल दिया। उस पद में उन्होंने बतलाया है कि अनेक शास्त्रों में उलझा देने से मन को एकाग्रता प्राप्त नहीं होती और एकाग्रता के अभाव में वह सुखी नहीं होता। प्रेमस्वरूप श्यामा-श्याम के अद्भुत प्रेम की प्राप्ति ही काल-व्याल से बचने का एकमात्र उपाय है और वह प्रेम केवल उनके चरण-कमल-संगी भक्तजनों की कृपा से प्राप्त होता है। इस पद को सुनकर व्यासजी ने अपने ग्रन्थों को यमुना में प्रवाहित कर दिया और वे जीवनभर भक्तों को ही अपना इष्ट मानते रहे।

श्री हित हरिवंश अपनी बत्तीस वर्ष की आयु में देववन से वृन्दावन आगये थे और फिर व्रजभूमि से बाहर नहीं गये। वृन्दावन में अनवरत रहते हुये एक विशाल भक्ति-सम्प्रदाय का स्थापन उनकी विशुद्ध प्रेममयी 'वाणी' के द्वारा संभव हो सका था। वृन्दावन आने के समय कुछ शिष्य तो उनके साथ ही आये थे और अनेक वृन्दावन में शिष्य होगये थे। इन शिष्यों में से कतिपय श्रीहित जी के पदों को लेकर प्रचार के लिये निकलते थे और दूर-दूर प्रदेशों में जाकर इन पदों के भाव-

मय गान के द्वारा वहाँ की जनता में भगवत्प्रेम का प्रचार करते थे।

इन पदों में श्रीहित हरिवंश ने प्रेम के उस अद्भुत स्वरूप का चित्रण किया है जो उनको नित्य-नूतनतया अनुभूत होता था। यह स्वरूप श्रीमद्भागवत में वर्णित रासलीला का आधार-स्वरूप है; इस प्रेम-स्वरूप की ही एक सुन्दर छटा रासलीला में प्रत्यक्ष हुई थी। यह वह रूप है जिसमें प्रेम के भोक्ता-भोग्य अपनी सहज संयोगमयी स्थिति में नित्य प्रकाशित रहते हैं। इन पदों में प्रेम की उस सार्वभौम सत्ता का विलास वर्णन है जिसमें सविशेष और निर्विशेष, जड़ और चैतन्य भक्त और भगवान, आदि सारे द्वंद्व डूब कर एक बने हुये हैं। सारे जीवन में दिव्य आलोक फैला देने की अद्भुत शक्ति इन पदों में विद्यमान है और इनके श्रवण से जीवन में आमूल परिवर्तन होने की अनेक घटनायें राधावल्लभीय इतिहास में प्रसिद्ध हैं। श्रीहित हरिवंश ने प्रेमतत्व को जिस दृष्टि से देखा है वह सर्वथा मौलिक है। किसी भी स्थान में वह दृष्टि ज्यों-की-त्यों दिखलाई नहीं देती। श्रीमद्भागवत प्रेमलीला सम्बन्धी प्रधान भक्ति-ग्रन्थ है और इस सम्प्रदाय में वह प्रमाण कोटि में स्वीकृत भी है किन्तु, श्रीमद्भागवत के प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण से श्रीहित हरिवंश की 'वाणी' का दृष्टि कोण भिन्न है। विशेषता यह है कि दोनों दृष्टिकोण एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी सर्वथा अविरोधी माने गये हैं। इस सम्प्रदाय में, इसीलिये, श्रीहित हरिवंश की वाणी को सर्वोपरि प्रमाण माना जाता है। सर्व-विरोध-शून्य एवं निर्भ्रान्त अनुभव पर आधारित होने के कारण 'वाणी' का वेद-

वाणी के समान स्वतः प्रामाण्य स्वीकृत किया गया है एवं उसको प्रमाणित करने के लिये श्रीमद्भागवत पर या किसी अन्य ग्रन्थ पर स्वमतानुकूल टीकायें नहीं लिखी गई हैं। हाँ, वाणी में प्रदर्शित सिद्धान्त के आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना बहुत प्रारंभ से होती रही है और जो टीकायें की गई हैं वे अधिकांश श्रीहित हरिवंश की रचनाओं पर ही की गई हैं। 'हितचतुरासी' पर छोटी-बड़ी पैंतालिस टीकायें उपलब्ध हैं और 'राधा सुधा निधि' पर संस्कृत एवं व्रजभाषा में अनेक टीकायें प्राप्त हैं, जिनमें श्री हरिलाल व्यास कृत लगभग पन्द्रह हजार श्लोक संख्या वाली, एक संस्कृत टीका 'रसकुल्या' प्रधान मानी जाती है।

किसी सामान्य किंवा विशिष्ट दार्शनिक मतवाद को स्वीकार न करने के कारण, अथच प्राचीन भक्ति-ग्रन्थों पर सर्वथा निर्भर न होने के कारण, इस सम्प्रदाय को धार्मिक क्षेत्र में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। इसका स्वतन्त्र दृष्टिकोण जहाँ अनेक लोगों के आकर्षण का कारण रहा है, वहाँ कट्टर सम्प्रदायवादियों की दृष्टि में वह स्थापित-रूढ़ि एवं परम्पराओं का विघातक माना जाता रहा है। अपने पाँचसौ वर्ष के इतिहास में इस सम्प्रदाय को अनेक बार धार्मिक-उत्पीड़न सहन करना पड़ा है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वृन्दाबन, जयपुर राज्य के अन्तर्गत था। उस समय के जयपुर-नरेश जयसिंह प्रथम हिन्दू धर्म के पक्षपाती एक धर्म-प्राण राजा थे। उनकी इस ओर रुचि देखकर कुछ रूढ़ि प्रेमियों ने उनको वन्दावन,

की प्रेमोपासक सम्प्रदायों के विरुद्ध भड़का दिया। राजा ने जयपुर में एक विशाल धर्म-सभा का आयोजन किया और प्रत्येक वैष्णव-सम्प्रदाय को उसमें अपना दार्शनिक मत उपस्थित करने की आज्ञा दी। उस समय तक चैतन्य-सम्प्रदाय में ब्रह्म-सूत्र आदि पर स्वमतानुकूल भाष्य या प्रकरण ग्रन्थ की रचना नहीं हुई थी। जयपुर नरेश के आग्रह पर श्री बलदेव विद्याभूषण ने ब्रह्म-सूत्र पर 'अचिन्त्य-भेदाभेद' सिद्धान्त प्रतिपादक 'गोविन्द-भाष्य' की रचना करके अपने सिद्धान्त को श्रुति सम्मत सिद्ध कर दिया। राधावल्लभीय-सम्प्रदाय में उस समय संस्कृतज्ञ विद्वानों की संख्या पर्याप्त थी, जैसा कि उस समय के प्रौढ़ संस्कृत ग्रन्थों से मालूम होता है, किन्तु वे लोग न तो किसी नवीन दार्शनिक मत की प्रतिष्ठा करने में सहमत हुए ओर न उन्होंने प्रचिलित वेदान्त सम्प्रदायों में से किसी एक के अन्तर्गत होना स्वीकार किया। उनकी पूजा-पद्धति भी संपूर्णतया प्रेमाभक्ति पर आधारित रही। राजा का आग्रह वैदिक-पद्धति के स्वीकार के लिये था और इसको वह अपनी राज्य-शक्ति के बल पर करवाना चाहता था।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय की मौलिक मान्यताओं के उच्छेद का समय उपस्थित था और सम्प्रदाय के नेताओं को उन सिद्धान्तों पर समझौता करने को विवश किया जा रहा था जिनको लेकर इस सम्प्रदाय के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की रचना हुई है। थोड़े दिन पूर्व ही वे औरंगजेब की बर्बरता के द्वारा अपने प्राचीन एवं सुन्दर देव-स्थानों का ध्वंस होता देख चुके थे और इस वार तो उनके विचार-स्वातन्त्र्य पर ही आघात

हो रहा था । उन्होने सामूहिक रूप से राजाज्ञा मानने से इनकार कर दिया । इतिहास से मालूम होता है कि अनेकों को जैलों में रखकर कठिन यातनायें दी गईं और अनेकों को वृन्दावन से निर्वासित कर दिया गया । यह दमन बीस वर्ष तक चलता रहा और संवत १८०० में राजा की मृत्यु के साथ ही समाप्त हुआ । जयसिंह के उत्तराधिकारी राजा ईश्वरीसिंह ने राधावल्लभीयों के साथ संधि करली और उनके ऊपर से सारे प्रतिबन्ध हटा लिये । इतिहास ने करवट बदली और राजा ईश्वरीसिंह एवं उनके उत्तराधिकारियों के समय में राधावल्लभीय धर्माचार्यों का प्रभाव जयपुर में काफी बढ़ा और राधावल्लभीय मंदिरों को वहाँ से बड़ी-बड़ी जागीरें प्राप्त हुईं । भारत जैसे धर्म-सहिष्णु देश के इतिहास में धार्मिक-दमन की घटनायें विरल हैं और यह सम्प्रदाय अपने वाणी-ग्रन्थों के स्वतन्त्र एवं निर्विरोध दृष्टिकोण के प्रति अनन्य श्रद्धा रखकर ही इसको सहन कर सकी थी ।

श्रीहित हरिवंश की वाणी का वर्ण्य-विषय श्री राधा कृष्ण की प्रेम-काममयी क्रीडा ही है किन्तु जिस रस-दृष्टि से इसको देखा गया है वह इस वाणी की अपनी वस्तु है और उसका ग्रहण केवल इस वाणी के द्वारा ही होता है । इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त को सर्व प्रथम व्यवस्थित करने वाले श्री सेवक जी ने बतलाया है कि 'अनेक लोग इसी नित्य-केलि, इन्हीं निपुण नायक (श्री राधा-कृष्ण) एवं इसी वृन्दावन भूमि का वर्णन करते हैं । यह लोग विपुल रचना करके अनेक राग-रागिनियों में उसको खींच तान कर बाँध भी लेते हैं किन्तु जैसे

असली सिक्का टकसाल से बाहर नहीं मिलता और लाख सिक्कों में भी एक नकली सिक्के को पहिचान लिया जाता है, उसी प्रकार श्री हरिवंश की वाणी का आश्रय लिये बिना रस-रीति का वर्णन ठिकाने से नहीं हो सकता।' (से० वा० ४६)

श्रीमद्भागवत को श्री कृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति कहा जाता है, श्रीहित हरिवंश की वाणी उनके द्वारा दर्शित 'नित्य विहार' का वाङ्मय-स्वरूप है। प्रमेय का ग्रहण प्रमाण के द्वारा होता है, वर्ण्य का ग्रहण वाणी के द्वारा होता है किन्तु प्रमाण और प्रमेय के सम्बन्ध की अपेक्षा वाणी और वर्ण्य का सम्बन्ध कहीं अधिक निकट-का माना गया है। वैष्णव-सिद्धान्त में जिस प्रकार नाम और नामी का सम्पूर्ण अभेद स्वीकृत है, उसी प्रकार हित-सम्प्रदाय में 'वाणी' और वर्ण्य का तादात्म्य माना है। श्री मोहन जी इस अभेद को स्पष्ट करते हुये कहते हैं, 'मन रूपी वृन्दावन में वाणी ही युगल (श्री राधा कृष्ण) का शरीर है और वे युगल रसना की कुञ्जों में केलि करते रहते हैं। रस से भरे हुए वे क्रीड़ा करते हैं और परस्पर सहज रस-पूर्ण वचन बोलते हैं। बोलने से इनके दो भिन्न शरीर दिखलाई देते हैं, बिना बोले यह वाणी में समा जाते है। अक्षर रूपी शरीर से मिल कर यह उसका सहज शृङ्गार करते हैं और 'उपज' (स्फूर्ति) रूपी अनेक रंगों के वस्त्र शरीर पर धारण करते हैं। मन में जो अनेक प्रकार की बातें उदय होती हैं वही शरीर के भूषण बन जाती हैं। जिनके नेत्रों में प्रेम की कृपा समा जाती है वही इनके दर्शन पाता है। जिन नेत्रों ने वाणी में प्रगट होने वाला यह

रूप देखा है, वे ही 'नित्य-विहार' को समझते हैं। बात के स्वरूप का दर्शन जिन आँखों ने पा लिया है, वही वास्तविक आंखें है, बाकी सब हथेली हैं।

बात गात है मन बन माँहीं–रसना कुंजनि केलि कराहीं।
रसके भरे जु करैं कलोला–बोलहिं सहज रसमसे बोला ।।
बोले ते द्वै अङ्ग दिखावैं—अन बोले इन तनहिं समावैं।
अङ्ग देह मिलि सहज सिंगारहिं-उपज बसन रँग रँग तन धारहिं।
भाँति भाँति की उपजहिं बाता–तेई भूषन पहिरहिं गाता।
प्रेम कृपा जिन नैन समावै—तेई इनके दरसन पावै ।।
जिन लोइन यह रूप निहारा–तेई समुझहिं नित्य विहारा।

दरसन बात स्वरूप कौ जे चख आये चाहि।
तेई लोइन लोइना और हथेरी आँहि ।।

(केलि–कल्लोल)

श्रीहित हरिवंश की रचनाओं के साथ इस सम्प्रदाय का अन्य प्रमाण–ग्रन्थ श्रीमद्भागवत माना जाता है। सेवक जी ने श्रीमद्भागवत को प्रथम प्रमाण ग्रन्थ एवं श्री हरिवंश की वाणी को अन्तिम प्रमाण माना है।

शुक मुख वचन जु श्रवन सुनावहु।
तब श्री हरिवंश सुनाम कहावहु ।।

(से० वा० ३-४)

श्रीमद्भागवत का प्रामाण्य सामान्य भक्ति-सिद्धान्त के लिये एवं श्री हरिवंश की वाणी का प्रामाण्य उसकी विशिष्ट रस-रीति के लिये स्वीकार किया गया है।

जिस प्रकार श्रीमद्भागवत को निगम कल्प तरु का फल माना जाता है–'निगम कल्पतरोर्गलित फलं', उसी प्रकार श्रीहित हरिवंश की वाणी को निगमों का सार सिद्धान्त माना गया है— 'निगम सार सिद्धान्त संत विश्राम मधुरवर'। सेवक जी ने बतलाया है कि 'पृथ्वी को म्लेच्छों के भार से पीड़ित एवं संसार को श्रुति-पथ से विमुख देख कर श्रीहित हरिवंश ने वेदों की सार-विधि का उद्धार किया।'

धर्म रहित जानी सब दुनी–म्लेच्छनि भार दुखित मेदिनी।
धनी और दूजौ नहीं ॥
करी कृपा मन कियौ विचार–श्रुति पथ विमुख दुखित संसार।
सार वेद विधि उद्धरी ॥
(से० वा० १–५)

इस प्रकार, वाणी के प्रामाण्य के स्वीकार में, वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार किया गया है। वेद परम-तत्व को 'रस' कह कर विरत हो जाता है। 'वाणी' उस रस को रसिकों के आस्वाद के लिये प्रत्यक्ष करती है। वेद में जिस तथ्य का संकेत मात्र है, वही 'वाणी' में पल्लवित और पुष्पित हुआ है। 'वाणी' वेद के अनुकूल है, अनुरूप नहीं और इसीलिये 'वाणी' में प्रत्यक्ष किये गये रस-स्वरूप के लिये 'वाणी' ही अन्तिम प्रमाण मानी जाती है।

———

प्रमेय

श्रीहित हरिवंश की रचनाओं से सिद्ध होने वाला प्रमेय तत्व 'हित' किंवा 'प्रेम' है। उपासना के क्षेत्र में प्रेम का महत्व सभी उपासकों को स्वीकार है और सभी ने इसको भगवत्-प्राप्ति का श्रेष्ठतम साधन माना है। वैष्णवागमों एवं पुराणों से लेकर कृष्णोपासक एवं रामोपासक संप्रदायों तक सर्वत्र इसकी महिमा गाई गई है। अनेकों स्थानों में इसको भगवान का अभिन्न-स्वरूप मानकर इसकी साध्यता को स्वीकार किया गया है। यह सब होते हुये भी प्रत्येक वैष्णव-सम्प्रदाय में आराध्य-तत्व विष्णु, नारायण किंवा भगवान ही हैं और उनही को लेकर विभिन्न सम्प्रदायों के दर्शन एवं उपासना-पद्धतियों का निर्माण हुआ है। जिन्होने प्रेम की उपासना करनी चाही है, उन्होंने भगवान और प्रेम को अभिन्न मानकर ऐसा किया है। कुछ लोगों ने भगवान और प्रेम में शक्तिमान और शक्तिका सम्बन्ध और दूसरों ने गुणी और गुण का संबन्ध माना है।

शक्ति एवं गुण मानने पर प्रेम स्वभावतः भगवान केअ धीन बन जाता है, क्योंकि भगवान की सम्पूर्ण शक्तियाँ भगवान के अधीन हैं। साथ ही यह भी सर्वत्र स्वीकार किया जाता है कि भगवान सर्वथा प्रेमाधीन हैं और इन दोनों बातों का समन्वय यह कहकर किया जाता है कि भगवान प्रेम के अधीन हैं और प्रेम भगवान के अधीन है। इनमें से भगवान की प्रेमाधीनता तो बन जाती है, प्रेम की भगवदधीनता नहीं बनती। प्रेम का यह सर्वानुभूत स्वभाव है कि वह जिस

आधार में उदित होता है, उसको अधीन बनाता ही उदित होता है। भगवान में यह नित्य उदित है अतः भगवान की प्रेम-वश्यता नित्य, स्वाभाविक एवं सम्पूर्ण है। प्रेम को, इसलिये भी, भगवदधीन कहा गया है कि भगवान जिस पर कृपा करते हैं उसको प्रेम-दान देते है, किन्तु भगवान पहिले प्रेमी बनकर ही प्रेम-दान कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। प्रेम-दान करने के पूर्व वे प्रेमाधीन बनते हैं।

इस प्रकार प्रेम ही एक ऐसा तत्व सिद्ध होता है जिसके अधीन भगवान और भक्त समान रूप से रहते हैं और यहीं से श्रीहित हरिवंश का सिद्धान्त आरंभ होता है। उन्होने बतलाया है कि प्रेम ही एक मात्र स्वतन्त्र एवं अंतिम सत्ता है एवं भगवान, भक्ति और भक्त इसके ही विभिन्न रूप हैं। सम्पूर्ण दृश्य-अदृश्य प्रपंच इस प्रेम पर-तत्व का ही विलास है, जहाँ वह विभिन्न नाम-रूपों में क्रीडा करता रहता है। प्रेम ही परमाराध्य भगवत्-तत्व है और यही परम ज्ञान का प्रयोजक एवं ज्ञान-घन-स्वरूप है। प्रेम ही आत्मा है, क्योंकि श्रुति ने आत्मा को प्रियता का एकमात्र आस्पद बतलाया है*। श्रीहित हरिवंश को प्रेम-स्वरूप श्री राधा से प्रेम-मंत्र की दीक्षा मिली थी, अतः उनको प्रेम का दर्शन गुरु रूप में प्राप्त हुआ था। प्रेम-गुरु के लिये उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द 'हित' है जो परम प्रेम के अन्दर सहज रूप से स्थित अन्य को सुखी करने की वृत्ति का द्योतक है। राधावल्लभीय सम्प्रदाय में प्रेम के लिये 'हित' शब्द का ही प्रयोग बहुधा किया जाता है।

---

* आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। (वृह०उ०२-४-५)

श्रीहित हरिवंश की गुरु एवं इष्ट श्री राधा थीं, अतएव 'हित' ही गुरु है और वही इष्ट है । इष्ट और गुरु का अभेद सब वैष्णव-सम्प्रदायों को अभीष्ट है, क्योंकि इष्ट और गुरु के भिन्न बने रहने पर उपासना की अनन्यता सिद्ध नहीं होती । साधारणतया गुरु का दर्शन इष्ट में किया जाता है, इस सम्प्रदाय में इष्ट का दर्शन गुरु में किया गया है । अपने संस्कृत ग्रन्थ 'श्री राधा सुधा निधि' में श्रीहित हरवंश ने गुरु के भजन का ही विधान किया है एवं इस भजन को परम विक्रमशाली बतलाया है (रा०सु० ८१) इसी ग्रन्थ में अन्यत्र, उन्होंने अपनी परमाराध्या श्री राधिका का स्मरण, घनानंद-मूर्ति, एवं 'नित्य-नवीन प्रेम-लक्ष्मी' के रूप में किया है ।

(रा० सु० १२६)

जिन सिद्धान्तों ने भगवान को प्रेम-स्वरूप मानकर प्रेमोपासना का विधान किया है उनमें भगवत्-प्रेम को लौकिक-प्रेम से सर्वथा भिन्न बतलाया गया है । राधावल्लभीय सिद्धान्त में वही प्रेम-परिपाटी जो सबसे दूर है, इस विश्व में भरपूर बतलाई है और श्रीहिताचार्य ने उसी को अमृतत्व का मूल कहा है ।

जो रस रीति सबनि ते दूरि—सो सब विश्व रही भरपूरि ।
मूरि सजीवनि कहि दई (से० वा० २—२)

प्रथम पक्ष को मानने पर, प्रश्न यह होता है कि यदि भगवत्-प्रेम लौकिक-प्रेम से सर्वथा भिन्न है तो उसमें लगभग उन ही भावों का प्रकाश क्यों होता है जो यहाँ के प्रेम के अंग हैं एवं उसका वर्णन यहाँ की प्रेम-परिपाटी के आधार पर कैसे संभव

हो जाता है ? यह सत्य है कि भगवत्-प्रेम में ऐसे अनेक भावों का प्रकाश होता है जो यहाँ के प्रेम के लिये असम्भव है किन्तु इस बात से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि भगवत्-प्रेम यहाँ के प्रेम की अपेक्षा अधिक विशुद्ध एवं तीव्र होता है, वह यहाँ की जड़ सीमाओं से आबद्ध नहीं होता। राधावल्लभीय सिद्धान्त भी इन दोनों प्रेमों को अनेक अंशों में भिन्न ही मानता है किन्तु इनकी तात्विक एकता में उसको तनिक भी संदेह नहीं है। भक्तों की जो विमल बुद्धि जीवात्मा एवं परमात्मा जैसे सर्वथा भिन्न दिखलाई देने वाले तत्वों की आन्तरिक एकता को पहिचान लेती है, वह इन दोनों प्रेमों की तात्विक अभिन्नता को न पहिचान ले, यह संभव नहीं है। श्रीहित हरिवंश ने प्रेम-तत्व की इस मौलिक एकता के आधार पर अपने प्रेम-दर्शन को खड़ा किया है एवं शुद्ध प्रेमोपासना के लिये परात्पर प्रेम-तत्व की अद्वय एवं अखण्ड स्थिति के स्वीकार को अनिवार्य बतलाया है।

प्रेम एक सम्बन्ध-विशेष का नाम है। यह सदैव दो में रहकर उन दोनों को एक बनाये रखता है। मोहन जी ने कहा है कि 'दो मिलकर जिस एक पंथ का दर्शन कराते हैं, वही जग में प्रेम कहलाता है'।

द्वै मिलि एक पंथ दिखरावहि—सोई जग में प्रेम कहावहि।

(केलि—कल्लोल)

प्रेम का अद्वय-पंथ 'दो' के द्वारा प्रकाशित होता है, अतः प्रेम की रचना इन दो एवं इन दोनों के अद्वय प्रेम-सम्बन्ध के द्वारा हुई है। प्रेम की उत्पत्ति एवं प्रकाश के लिये 'दो' एवं 'एक' दोनों ही आवश्यक हैं। साधारणतया इन दो को प्रेमी

और प्रेमपात्र एवं एक को प्रेम कहा जाता है। वास्तव में, प्रेमी, प्रेमपात्र और प्रेमसम्बन्ध, इन तीनों के योग से प्रेम का सम्पूर्ण स्वरूप बनता है और वह सम्पूर्ण स्वरूप इन तीनों में से प्रत्येक के अन्दर पूर्ण रूप से प्रकाशित रहता है। विचार करने पर मालुम होता है कि प्रेम और प्रियतम दोनो ही प्रेम-स्वरूप हैं और इन दोनों का अन्तर कहने भर का है। जो एक स्थिति में प्रेम कहलाता है, वही भिन्न स्थिति में प्रियतम बन जाता है। प्रेम और प्रियतम में उतना ही अन्तर है जितना तीन बार बीस और साठ में।

प्रेमहि प्रियहि बीच है एतौ—बीसी तीन साठ है जेतौ।

(केलि-कल्लोल)

लौलिक-प्रेम को देखकर इस बात को समझना कठिन होता है। यहाँ का प्रेम इतने रंग-बिरंगे आवरणों से ढका रहता है कि कुछ का कुछ दिखलाई देता हैं। मनुष्य-स्वभाव की जड़ता और विचित्रता प्रीति के शुद्ध प्रकाश में बाधक होती रहती है। प्रेमोपासकों ने मनुष्य की जड़ सीमाओं से प्रेम को दूर हटा कर देखा है, इसीलिये वे उसके विशुद्ध रूप का दर्शन कर सके हैं। विशुद्ध प्रेम में प्रेमी, प्रेमपात्र और प्रेमसम्बन्ध एक ही प्रेम के विभिन्न प्रकारों के रूप में स्पष्ट दिखलाई देते हैं और राधावल्लभीय सिद्धान्त में इन तीनों के योग से हित की रचना मानी गई है। इन तीनों की प्रधान वृत्तियों को लक्षित कराने के लिये इस सम्प्रदाय में इनको भोक्ता, भोग्य और प्रेरक-प्रेम कहा गया है। प्रेमी भोक्ता है,

प्रेमपात्र भोग्य है और इन दोनों की पारस्परिक रति का मिलित रूप प्रेरक प्रेम है।

प्रेरक प्रेम को ही साधारणतया प्रेम किंवा प्रेम–सम्बन्ध कहा जाता है। प्रेरक प्रेम को इस सम्प्रदाय में 'हित सन्धि' भी कहते हैं। भोक्ता और भोग्य की हित-सन्धि ही उनके विभिन्न प्रेम-स्वरूपों की प्रेरक एवं नियामक होती है। विशुद्ध प्रेम के भोक्ता और भोग्य प्रति-क्षण एक दूसरे में डूब जाने के लिये उत्सुक रहते हैं, किन्तु इनका अद्‌भुत प्रेम–सम्बन्ध ही इनको भिन्न स्वरूपों में स्थित रखकर प्रेम की अनादि-अनंत क्रीडा चालू रखता है। श्वेताश्वतर श्रुति ने त्रिविध ब्रह्म स्वरूप का वर्णन किया है और उस अद्वय ब्रह्म के तीनों रूपों में परस्पर भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता का सम्बन्ध माना है एवं बिलकुल इन्हीं शब्दों का प्रयोग भी किया है।

एतज्ज्ञेयं नित्य मेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं न किंचित्
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारंच मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्
(श्वेता० १-१२)

साधारणतया भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता से क्रमशः जीव जगत और ईश्वर को लक्षित माना जाता है और भोक्तृत्व, भोग्यत्व एवं प्रेरकत्व सम्बन्ध से सम्बन्धित यह तीनों हैं भी, किन्तु इन सम्बन्धों की पूर्णता परात्पर प्रेम-तत्व में ही प्रकाशित होती है। प्रेम में यह सम्बन्ध परस्पर परम आनन्द के विधायक होते हैं, क्योंकि प्रेम के भोक्ता और भोग्य अपने विभिन्न स्वरूपों में स्वतन्त्र होते हुए भी एक दूसरे के सर्वथा अधीन हैं और 'प्रेरिता' प्रेम इन दोनों की पारस्परिक रति का रूप

होने के कारण दास किंवा सखा के समान इनका प्रेरक होता है, ईश्वर के समान नहीं।

परात्पर प्रेम-तत्व अनंत नाम-रूप एवं भावों में नित्य प्रगट है। इसके इस स्वरूप को ज्ञेय माना गया है और उसका ध्येय रूप वह बतलाया गया है जहाँ वह अपनी भोक्ता-भोग्य-प्रेरकमयी शुद्ध एवं सहज स्थिति में नित्य प्रकाशित रहता है। इस स्थिति के प्रेम के विशिष्ट नाम और रूप हैं जिनको प्रेम का 'सहज नाम' एवं 'सहज रूप' कहा गया है। साधारणतया नाम के द्वारा रूप तक पहुँच होती है, प्रेम रस के रसिकों ने रूप को देख कर उसका नाम जाना है। भोक्ता-प्रेम अभिलाषा-मय है, निरतिशय अभिलाषा ही उसका रूप है। सघन अभिलाषा ही निरतिशय अभिलाषा है और सघन अभिलाषा का वर्ण श्याम है। भोग्य-प्रेम स्वभावतः उदार होता है, प्रसन्न-उदारता ही उदारता है और प्रसन्न-उदारता का वर्ण गौर है। प्रेम ने जिन-जिन रूपों में पृथ्वी पर अवतार लिया है उनमें श्री राधाकृष्ण रूप में ही प्रेम का उत्कर्ष सर्वाधिक प्रगट हुआ है अतः यह निश्चय हो जाता है कि प्रेम के इन श्याम-गौर भोक्ता-भोग्य का नाम श्री नंदनंदन एवं वृषभानु-नंदिनी है। प्रेरक-प्रेम भोक्ता और भोग्य की हित-सन्धि है, अतः इसमें श्याम और गौर दोनों रूप प्रकाशित रहते हैं। भोक्ता-भोग्य की दो प्रीतियों को अपने एक व्यक्तित्व में प्रतिबिंबित करने वाली व्रज की सखीगण हैं अतः प्रेरक-प्रेम का नाम सखी है। प्रेम-विलास में प्रेरक-प्रेम के दो रूप प्रगट होते हैं। प्रेम रस की जड़िमा श्री वृन्दावन के रूप में मूर्तिमती हुई है और

उसकी चपलता सहचरी रूप धारण किये हुए है। प्रेम के स्वरूप की यह एक विचित्रता है कि उसकी जड़ता और चपलता दोनों ही विभिन्न अवसरों पर अथवा एक साथ ही उसकी प्रेरक बनती हैं।

एक हित ही श्री नंदनंदन, श्री वृषभानु-नंदिनी, सहचरी गण एवं श्री वृन्दावन के रूप में नित्य प्रगट है। इस त्रिविध'-हित की उज्ज्वल-रसमयी प्रेम-क्रीडा का नाम 'नित्य-विहार' है। भजनदास जी बतलाते हैं कि यह नित्यविहार–रस हित की हितमय अभिलाषा का वैभव है, हित ही खिलाड़ी है और वही खेल है, वह स्वयं ही विलास कर रहा है।

जो है नित्य विहार रस, वैभव हित अभिलाष।
सोइ खिलारी, खेल सो, आपुहि करत विलास॥

श्री हित हरिवंश ने अपनी वाणी में हित के इस नित्य प्रगट-विहार का ही गान किया है। नित्य प्रगट होने का अर्थ नित्य वर्तमान होना है और 'हित चतुरासी' के अनेक पद 'आजु' (वर्तमान-काल-वाची-शब्द) से आरम्भ होते हैं।
'आजु प्रभात लता मंदिर में सुख बरसत अति हरषि युगल वर'
'आजु नीकी बनी श्री राधिका नागरी'
'आजु अति राजत दंपति भोर'
'आजु बन नीकौ रास बनायौ'। इत्यादि।

इसी प्रकार लीला-रस में विभोर होकर उन्होंने जहाँ हित-दंपति को आशीश दी, वह यह कह कर दी है कि वृन्दावन-भूतल पर यह जोड़ी संतत अविचल बनी रहै।
'हित हरिवंश असीस देत मुख चिरजीवहु भूतल यह जोरी'
(चतुरासी-५४)

प्रेम-स्वरूप भगवान की लीला अनादि एवं अनंत बतलाई गई है। भगवत्-स्वरूप प्रेम की, हित की, लीला भी अनादि है किन्तु इसका आदि (आरंभ) नित्य होने के कारण यह अनादि है। प्रेम नित्य-नूतन तत्व है। नित्य-नूतन का अर्थ नित्य-नूतन आरंभ होना है। प्रेम क्षण-क्षण में नूतन रूप से प्रगट होता रहता है, इसीलिये इसको प्रेम-प्रवाह कहा जाता है। प्रवाह में जैसे नवीन जल आकर धारा को अविच्छिन्न बनाये रखता है उसी प्रकार प्रेम का स्वरूप नित्य-नवीन प्रागट्यों के द्वारा बनता है। नित्य नवीन प्रगट होने वाले प्रेम की लीला, इस नवीन अर्थ में ही, अनादि कही जाती है। क्योंकि प्रत्येक नवीन-प्रागट्य के साथ नवीन लीला का आदि होता है और यह क्रम अनंत काल तक चलता रहता है।

इस नित्य-आरंभ के कारण नित्य-विहार में उस परम सौंदर्य की अभिव्यक्ति होती है, जो नित्य-नूतन बन कर नित्य रमणीय बना रहता है। नित्य-नूतन हित के अद्वय-युगल-स्वरूप श्री नंदनंदन एवं वृषभानु-नंदिनी है। इनकी वर्षाकालीन सहज शोभा का गान करते हुए श्री हिताचार्य ने वर्णन किया है, 'आज के नित्य-विहार में नया नेह है, नयारंग है, नयारस है, नये श्याम सुन्दर हैं और नई वृषभानु नंदिनी हैं। आज नया पीताम्बर है, नई चूनरी है एवं नई बूँदों से गोरी भींग रही हैं।'

नयौ नेह, नवरंग, नयौ रस, नवल श्याम, वृषभान-किशोरी।
नव पीतांवर, नवल चूनरी, नई-नई बूँदन भींजत गोरी ॥

(हित चतु० ५४)

इस नित्य-नूतन आरंभ के अनादित्व का लीला में दर्शन करते हुए श्री ध्रुवदास गान करते हैं 'यह अद्भुत युगल अनादि अनंत रूप से प्रेमविहार करते रहते हैं, किन्तु आज तक इनमें परस्पर पहिचान नहीं हो पाई है! कारण यह है कि नये-नये प्रकार से इनकी छवि-कांति नई-नई होती रहती है और नई नवला एवं नवीन प्रेम-विहारी का प्रकाश होता रहता है। यह दोनों चित्त लगाकर एक दूसरे के मुख को देख रहे हैं एवं सर्वस्व हारकर प्रीति रस में पड़े हैं। प्रेम की यह अकथनीय कथा है कि यह दोनों नित्य-नूतन बनकर सदैव एक दूसरे के साथ रहते हैं और नित्य-नूतन मिलन के आनंद में मंद हास्य करते रहते हैं—

न आदि न अंत विलास करैं दोउ लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।
नई-नई भाँति, नई छवि काँति, नई नवला, नव नेह विहारी ।।
रहे मुख चाहि, दिये चित आहि, परे रसरीति सु सर्वसु हारी।
रहैं इक पास, करैं मृदु हास, सुनौं ध्रुव प्रेम अकत्थ कथारी ।।

प्रेम का यह नित्य-नूतन आरंभ किस प्रकार घटित होता है, इसको स्पष्ट करते हुये श्री भजनदास कहते हैं 'प्रेमानुभव दो के, भोक्ता-भोग्य के, बिना हो नहीं सकता और इन दोनों के मिलकर एक बन जाने का नाम ही प्रेमानुभव है। अद्वय-हित दो के बिना बन नहीं सकता और यह दोनों एक दूसरे में डूब कर अद्वय-हित कहलाते हैं। विवश (अपने में डूबा हुआ) हित ही अद्वय-हित है, एक से दो होना उसकी चैतन्य स्थिति है। अद्वय-हित, दो बन कर अपना अनुभव करने के लिये, सदैव व्याकुल बना रहता है और क्षण-क्षण में चैतन्य होता रहता है।

अद्वय-हित का नित्य-नूतन दो के रूप में दिखलाई देना ही उसका नित्य प्रगट होना है।'

इक हित द्वै बिनु होत नहि दोऊ मिलि इक होइ।
विवस एक हित जानिये चेतन इक तें दोइ॥
जब हित व्याकुल होत फिरि आवत सुधि तन माँहि।
यह प्रागट नित होत जहाँ एकहि द्वै दरसाहिं॥

भोक्ता-भोग्य की पारस्परिक रति का मिलित रूप ही अद्वय-हित है, यही हित-संधि है, यही सहचरि रूप है और यही प्रेरक-प्रेम है। भजनदास जी बतलाते हैं।' 'जब भोक्ता-भोग्य के एक दूसरे में डूब जाने पर हित-संधि रूपा सहचरी (प्रेरक प्रेम) अतिशय व्याकुल हो जाती है, तभी हित के हृदय में से एक प्राण वाले दो देह प्रगट हो जाते हैं। परात्पर–हित रूपी सरोवर में से प्रिया रूपी कमल उत्पन्न होता है और उस परम रमणीय कमल के आस्वाद के लिये प्रियतम रूपी अनुपम भ्रमर हित में से ही प्रगट हो जाता है। रसधाम, सुखद एवं गौर वर्ण प्रिया भोग्य रूपा हैं, सकाम प्रियतम भोक्ता हैं, इसीलिये उनका शरीर श्याम है।

सो हित-संधि सखी जु जब अतिशय व्याकुल होइ।
तब प्रगटैं हित हीय तैं एक प्रान तन दोइ॥
श्रीमद् हित हृद तैं प्रगट प्यारी कंज स्वरूप।
प्रगट भये आस्वाद हित षट्पद लाल अनूप॥
गौर बरन प्यारी सुखद भोगरूप रस धाम।
भोगी पीय सकाम है ताही तें तन श्याम॥

हित के सहज भोक्ता-भोग्य श्री राधा माधव हैं और श्री

हिताचार्य ने इन दोनों को नित्य प्रगट माना है। उन्होंने श्री नंदनंदन की बधाई का प्रारम्भ भी उसी 'आजु' से किया है जिससे नित्य विहार के अनेक पद प्रारंभ हुए हैं; 'आनंद आजु नंद के द्वार।' राधा-माधव के नित्य विहार की भाँति इनका जन्म भी नित्य-वर्तमान है। नित्य-जन्म का अर्थ नित्य आरंभ होना है और हित का नित्य-नूतनत्व उसके नित्य-नूतन आरंभ को लेकर ही है। यह दोनों नित्य–किशोर रूप में नित्य जन्म ग्रहण करते हैं।

हित प्रभु ने राधा कृष्ण के पौराणिक रूप को उतने ही अंश में ग्रहण किया है, जितना उनकी अनन्य प्रेमोपासना के लिये आवश्यक था। सेवक जी ने श्री हरिवंश के उपासना मार्ग को ग्रहण करने के अपने कारणों को बतलाते हुए कहा है "मैंने सब अवतारों का भजन करके देख लिया है किन्तु उनमें, प्रीति का प्रकाश उतना न होने के कारण, मन का पूर्ण आकर्षण नहीं होता। इसके बाद, मैंने प्रेम-स्वरूप व्रजेन्द्रनंदन के महा व्रज-वैभव का भजन करके देखा है, किन्तु वहाँ अनेक प्रकार की लीलाओं का चक्र चित्त को जमने नहीं देता। अब तो मेरा मन एक ही रीति की प्रतीति में बँध गया है और यह रीति वह है जिसका गान ही हरि ने अपनी वंशी में करके समस्त प्रमदागण को मोहित किया था। श्री हरि की वंशी के रूप श्री हरिवंश का, इसीलिये, मैंने दृढ़ता से आश्रय लिया है।"

(से० वा० ८-११)

श्री हरि ने वंशी में प्रेम-गान किया था और उस गान को सुनकर व्रजस्त्रियों के चित्त में अनंग का-उज्वल प्रेम का-वर्धन

हुआ था। (भा० १०-२६-४) श्री हरिवंश ने अपनी वाणी में केवल इस उज्ज्वल-प्रेम का गान किया है,अतः उनको वंशी-स्वरूप माना जाता है। श्री नंदनंदन की वंशी द्वारा उद्भावित लीला शुद्ध प्रेम की लीला है, उनकी अन्य लीलाओं में प्रेम-भिन्न वस्तुओं की मिलावट पाई जाती है जो अनन्य प्रेमियों को रुचिकर नहीं होती। एक ही रस-रीति का आग्रह एवं उस रस-रीति की मिलावट-रहित शुद्धता श्री हिताचार्य की उपासना की विशेषताएँ मानी जाती हैं।

वंशीनाद की शुद्ध प्रेम-स्वरूपता एवं अन्य लीलाओं में मिलावट की स्थिति को स्पष्ट करते हुए सेवक जी कहते हैं "अन्तर्यामी प्रभु को मन में भजने से अनन्य-प्रेमियों का भजन नहीं बनता, क्योंकि प्रेम नित्य-प्रगट तत्व है और नित्य-प्रकट रह कर ही वह अपनी उपलब्धि करता है। प्रेम-भजन की प्राप्ति के लिए, मैंने जब प्रगट-प्रेमस्वरूप श्री यशोदानंदन का भजन किया तो उनको अपने सारे शरीर में ब्रह्मांड का दर्शन कराते देखा। साथ ही पुत्र-वत्सला माँ यशोदा की सहज वत्सल रति को मैंने सहम कर दूर हटते देखा ! यह स्थिति उन सभी रतियों की है जो वंशीनाद से प्रेरित नहीं हैं, किन्तु जो व्रज-गोपिकायें वेणुनाद से विमोहित हुईं वे एक क्षण में शुद्ध प्रेम-स्वरूप के निकट पहुँच गईं। अतः वंशीनाद द्वारा उद्भावित नित्य-रास क्रीडा में किसी प्रकार की मिलावट की संभावना नहीं है।" (से० वा ८-५)

रासलीला किशोरावस्था की लीला है। किशोरावस्था में ही प्रेम का नित्य-नूतन उत्कर्ष होता है और यह भी एक कारण

है जिससे हितप्रभु ने अपनी उपासना को नित्य-रास पर केन्द्रित किया है। उनके श्री राधामाधव नित्य किशोर हैं और नित्य किशोर रूप से ही वे नित्य प्रगट होते रहते हैं। नंदालय एवं वृषभानु-गृह में इन दोनों के जन्म की बधाई गाने के दूसरे क्षण में ही हितप्रभु इनके नित्य-कैशोर के गान में प्रवृत्त हो जाते हैं। जन्म-गान के द्वारा उनको केवल यह व्यंजित करना है कि उनके नित्य-किशोर अजन्मा नहीं हैं। वे प्रेम-स्वरूप हैं और प्रेम नित्य-नूतन रूप में प्रगट होता रहता है। अजन्मा स्थिति प्रेम की शिथिल स्थिति है, शिथिल प्रेम ही अजन्मा-अनूतन-होता है।

पुराणों में राधामाधव की दो प्रकार की लीलायें मानी गई हैं, एक प्रगट लीला और दूसरी अप्रगट लीला। जो लीला समय पर लोक नयनों के गोचर होती है उसका नाम प्रगट लीला है और जो लीला कभी लोक दृष्टि में नहीं आती, वह अप्रगट लीला है। लीला का इस प्रकार का विभाजन राधा-श्यामसुन्दर को प्रेम-स्वरूप भगवान एवं उनकी अंतरंगा शक्ति मान कर ही संभव है। उनको एक हित के दो स्वरूप मानने पर उनकी प्रत्येक लीला प्रगट होगी, लोक नयनों के गोचर होगी। लौकिक प्रेम भी एक वार उत्पन्न होने पर लोक नयनों के अगोचर नहीं रह सकता। संसार में प्रेम ही एक ऐसी वस्तु है जो छिपाई नहीं जा सकती। प्रेम का इतिहास उसको छिपाने के विफल प्रयासों से भरा पड़ा है। अनेकों प्रकार की मिलावट वाले सांसारिक प्रेम में जब प्रगट होने की यह

अद्भुत् क्षमता विद्यमान है तो शुद्ध तत्सुखमय प्रेम का तो कहना ही क्या है !

उपासना की दृष्टि से हित के विभिन्न स्वरूपों का प्रागट्य हित-नाम से माना गया है । जिस प्रकार नामी से नाम प्रगट होता है उसी प्रकार नाम से नामी प्रत्यक्ष होता है । नामी में नाम प्रगट है और नाम में नामी प्रगट है । नाम के प्रगट रहते नामी को अप्रगट कहा नहीं जासकता। अत: राधावल्लभीय सिद्धान्त में, श्यामा-श्याम के नाम एवं गुणों का प्रगट रहना, स्वयं उनका एवं उनकी लीला का प्रगट रहना है । मोहन जी कहते हैं 'जिस भक्त के मुख से जो नाम निकलकर संसार में प्रगट होगया' बहुरंगी श्याम भी उसी स्वरूप में लोक नयनों के गोचर हो गये ।

जिहि मुखतें जो नाम निकसि जगत परगट भयौ ।
सो बहुरंगी श्याम ह्वै सरूप आँखिन लग्यौ ॥
(केलि—कल्लोल)

मोहन जी के पूर्व, सेवक जी ने प्रगट-अप्रगट संबधी राधा-वल्लभीय सिद्धान्त का परिचय यह कह कर दिया था 'भक्त की परम प्रीति देखकर श्री श्याम-श्यामा नाम और वाणी के निकट नित्य प्रगट रहते हैं" ।

नाम वाणी निकट, श्याम श्यामा प्रगट
रहत निशिदिन परम प्रीति जानी ।

सेवकवाणी के विवृत्तिकार लाडिलीदासजी कहते हैं 'राधारानी, श्याम सुन्दर, सहचरी गण, एवं वृन्दावन यह चारों रस-सिंधु के सार रूप चार चन्द्रमा हैं । यह चारों नाम से प्रगट हुए हैं और नाम इनसे प्रगट हुआ है । नाम और नामी

का सम्बन्ध बीज और वृक्ष जैसा है, बीज से वृक्ष प्रगट होता है और वृक्ष से बीज ।

चारौं मिलि रस सिन्धु के सार चार वर चंद ।
गौर श्याम सहचरि विपिन विलसत परमानंद ।।
चारौं प्रगटे नाम तें इनतें प्रगट्यौ नाम ।
वृक्ष फूल फल बीज तें फल तें बीज सुधाम ।।
(सु० बो० ५७-५८)

यदि हित के यह चारों स्वरूप नित्य-प्रगट हैं तो अवतार काल की भाँति हर एक के दृष्टिगोचर क्यों नहीं होते ? वृन्दावन के स्वरूप का वर्णन करते हुए ध्रुवदास जी इस प्रश्न का उत्तर देते हैं । वे बतलाते हैं 'इस जगत में अनुपम वृन्दाविपिन प्रगट स्थित होकर जगमगा रहा है, आँख रहते हुए न दीखना ही माया का रूप है' ।

प्रगट जगत में जगमगै वृन्दाविपिन अनूप ।
नैन अछत दीसत नहीं यह माया कौ रूप ।।
(वृन्दा०शत)

वास्तव में, किसी वस्तु का दिखलाई देना देखने वाले की स्थिति पर बहुत अंशों में आधारित होता है । भगवान को अपनी प्रगट-लीला काल में ही अर्जुन से कहना पड़ा था 'मूढ़ लोग मुझको मनुष्य रूप में देखकर मेरी अवज्ञा करते हैं'- 'अवजानंति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रित:' ।

श्रीमद्भागवत, दशम स्कंध के तेईसवें अध्याय में उन 'स्वर्ग कामी, बालिश एवं वृद्धमानी' ब्राह्मणों की कथा है जिन्होंने भगवान को साधारण मनुष्य मानकर उनकी आज्ञा की अवहेलना

की थी और क्षुधार्त गोप बालकों को अन्न देना अस्वीकार कर दिया था। प्रगट होने का अर्थ उनही के लिये है जिनके पास उसको देखने की आँखें हैं। प्रेम के नित्य-प्रगट होने के प्रमाण प्रेमीजन हैं और उनका अनुभव इस सम्बन्ध में समान है।

हित के चारों स्वरूप अपने नामों में प्रगट हैं। वे चारों जिस एक नाम में प्रगट हैं वह हित-नाम है और हितनाम ही श्री हरिवंश नाम है। हित-स्वरूप श्री हरिवंश ही इन चार रूपों में प्रगट हैं। श्रीहित हरिवंश की रचनाओं के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने सर्वत्र अपने स्वरूप-गत प्रीति-वैभव का ही गान किया है। जिस प्रेम-विहार के वे द्रष्टा हैं वह उनके स्वरूप से अभिन्न है। उपास्य और उपासक के दो रूपों में उनका एक हित ही प्रकाशित हो रहा है। हित में भोक्ता उपासक है और भोग्य उपास्य है, आश्रित उपासक है और आश्रय उपास्य है। 'जो सुख-धाम हित सबका आश्रय है वही आश्रित भी है। हित-स्वरूप श्री हरिवंश, इसीलिये, राधानाम का नित्य आराधन करते हैं'।

जाकौ सब आश्रय करैं सो आश्रित सुखधाम।
श्री हित आराधन करत यातें राधानाम ॥
(भजनदास जी)

संसार में श्री हित हरिवंश आराधक स्वरूप में प्रगट हुये थे किन्तु उनको अपने ही आराध्य-स्वरूप की आराधना करते देखा गया था। उनके शिष्य श्री हरिराम व्यास ने उनको 'रस और रसिकों का आधार रूप' कहा है एवं सेवक जी ने उनको पूर्ण हित का स्वरूप मानकर उनके रस-सिद्धान्त की व्याख्या की है

एवं उस सिद्धान्त को उनके स्वरूप का ही सहज विकास बतलाया है। सेवक वाणी के प्रथम प्रकरण में हित-प्रभु द्वारा सब प्रकार की भक्तियों का निर्विरोध विचार दिखलाकर सेवकजी अन्त में कहते हैं 'अब मैं उनके अपने सहज-धर्म का कथन करता हूँ। यह हति-धर्म वहाँ स्थित है जहां प्रेम का सागर बहता रहता हैं और प्रेम-स्वरूप बृन्दावन नित्य प्रगट रहता है। सब प्रकार की भक्ति इस धर्म का साधन हैं और इस धर्म के रूप में श्री हितप्रभु का अपना अवर्णनीय प्रेम-वैभव ही प्रगट होता है। यह धर्म सम्पूर्ण रूप से श्रीराधा के युगल चरणों के आश्रित है। इसके कथन के द्वारा मैं श्री हरिवंश के प्रेम-विलास का यश वर्णन कर रहा हूँ और उन ही का गान करूंगा।'

(से० वा० १-१४)

लगभग सभी वैष्णव-सम्प्रदायों में सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य को उस सम्प्रदाय के आराध्य-स्वरूप के समान सम्मान प्राप्त है और कहीं-कहीं आराध्य-तत्व से आचार्य का गौरव अधिक माना जाता है एवं उनके नाम का स्मरण और उनके रूप का ध्यान भी किया जाता है। गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय में व्रजेन्द्र-नंदन की लीला, धाम, परिकर आदि की भाँति श्री चैतन्य की लीला, धाम, परिकरादि भी बतलाये गये हैं एवं उनकी उपासना का भी विधान किया गया है। किन्तु किसी भी सम्प्रदाय के सिद्धान्त की रचना उस सम्प्रदाय के संस्थापक के स्वरूप को लेकर नहीं हुई है। कोई भी सिद्धान्त अपने द्रष्टा के स्वरूप-वैभव के रूपमें उपस्थित नहीं हुआ है। इसीलिये, गुरू के 'पारम्य' में संम्पूर्ण श्रद्धा रखते हुये भी गौड़ीय-संप्रदाय के

सिद्धान्त का विकास इष्ट को लेकर ही किया गया है । इस दिशा में हित-सम्प्रदाय की स्थिति सबसे विलक्षण है और इस बात को समझ लेना इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त को समझने में बड़ा सहायक होता है । सेवक जी ने श्रीहित हरिवंश की लीला का भिन्न रूप से कहीं वर्णन नहीं किया, उन्होने श्री श्यामा-श्याम की केलि को ही हित-स्वरूप श्री हरिवंश की केलि बतलाया है । उनकी दृष्टि में एक हित ही भोक्ता, भोग्य और प्रेरक प्रेम के नित्य-प्रगट रूप में क्रीडा कर रहा है । (से०वा०२-१,२) इस संप्रदाय की उपासना-पद्धति में, इसीलिये, श्री हरिवंश-नाम को इतना महत्व प्राप्त है ।

हित की रस-रूपता

हित नित्य क्रीडा-परायण तत्व है। यह अनंत भावों एवं रूपों में नित्य क्रीडा करता रहता है । विभिन्न क्रीडाओं में हितस्वरूप के विभिन्न प्रकाशन को लेकर क्रीडावैचित्री का निर्माण होता है । जिस लीला में जितना और जिस प्रकार हित का प्रकाशन होता है, वैसा ही लीला का स्वरूप बनता है । वात्सल्य, सख्य आदि रसों की लीलाएँ हित की ही लीलाएँ हैं किन्तु इनमें से किसी में हित के सहज पूर्णस्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं होती । सभी रसज्ञों को अनुभव है कि हित किंवा प्रेम का सहज एवं चरम परिपाक उज्ज्वल-रस में होता है । उज्ज्वल-रस में प्रेम के जितने सुन्दर और समृद्ध रूप प्रगट होते हैं, उतने अन्य किसी रस में नहीं । आलंकारिकों ने भी

संपूर्ण काव्य-रसों में शृङ्गार रस को ही रसराज माना है। शृङ्गार रस का स्थायी भाव रति है और रति मनुष्य की अत्यन्त मौलिक और प्रबल वृत्ति है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में अन्य आठ रसों के स्थायी भावों में से अनेक रति के ही विभिन्न विवर्त हैं। गौड़ीय वैष्णव-रस-शास्त्र में भी यह सब कृष्णरति के ही विभिन्न रूप माने जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि एक रति किंवा प्रेम ही विभिन्न कारण-कार्यों के योग से विभिन्न रसों के रूप में आस्वादित होता है।

रस (भाव) की स्थिति तीन स्थानों में देखी जाती है—लोक में, काव्य में और भगवद्भक्तों में। लोक का व्यक्तिगत एवं लौकिक कामभाव ही काव्य में कवि-प्रतिभाजन्य 'विभावन' नामक अलौकिक व्यापार का योग पाकर अलौकिक एवं सर्व-रसिक-संवेद्य शृङ्गार रस कहलाता है। लोक में अन्य व्यक्तियों की जिन कामचेष्टाओं को देखकर मनमें जुगुप्सा का उदय होता है, वही काव्य और नाट्य में सत्कवि द्वारा निबद्ध होकर आनंद-विधायक बन जाती है। लोक में रस (भाव) की निष्पत्ति उसके कारण, कार्य एवं सहकारी भावों के एकत्र मिलने से होती है। रस के यह कारण कार्य और सहकारी भाव काव्य में क्रमशः विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव कहलाते हैं। नाट्यरस के लिए भरत का यह सूत्र प्रसिद्ध है, 'विभावानुभाव-संचारियोगाद्रस निष्पत्तिः'—विभाव अनुभाव और संचारी के योग से रस निष्पत्ति होती है। इसी सूत्र का ग्रहण काव्यरस के विवेचन के लिये कर लिया गया है।

आलंकारिकों ने काव्यरस को अलौकिक सिद्ध करने में बड़े पराक्रम का प्रदर्शन किया है। उन्होंने उसको स्वप्रकाश, चिन्मय, अखंड एवं ब्रह्मास्वाद के समकक्ष बताया है और यह सब किया है सहृदयों के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर जिससे किसी भी काव्यरस-रसिक को इसके स्वीकार में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। सहृदयों का यह भी प्रत्यक्ष अनुभव है कि काव्य-रस सब कुछ होते हुए भी नित्य नहीं होता और आलंकारिकों ने इसको स्वीकार किया है। काव्यरस की सत्ता उसके संवेदन-काल (ज्ञानकाल) में ही रहती है; उसके पूर्व और उत्तरकाल में उसका अभाव रहता है। किन्तु नित्य-वस्तु की सत्ता उसके ज्ञानकाल के अतिरिक्त भी रहती है; जो नित्य है उसका ज्ञान हो न हो, उसकी सत्ता तो रहेगी ही—न खलु नित्य वस्तुनोऽ-संवेदनकालेऽसंभवः।

देखना यह है कि चिन्मय, स्वप्रकाश आदि होते हुए भी काव्यरस नित्य क्यों नहीं बना पाता ? इसका कारण यह प्रतीत होता है कि यह रस कई कृत्रिम व्यापारों के सहयोग से निष्पन्न होता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि मनुष्य की सहज रति को व्यक्तिगत एवं लौकिक आस्वाद से निकाल कर सार्व-जनीन आस्वाद की वस्तु बनाने वाला एक 'विभावन' किंवा 'साधारणीकरण' नामक अलौकिक व्यापार है जो सत्कवि की लोकोत्तरप्रतिभाजन्य होता है। यह व्यापार अलौकिक भले ही हो किन्तु कवि-प्रतिभा-जन्य होने के कारण यह कृत्रिम होता है। मम्मट ने कवि भारती को 'नियति-कृत नियम रहित' कहकर उसकी कृत्रिमता को स्वीकार किया है। इसी प्रकार

लोक में विभावादिक यद्यपि रति के कारण कार्य आदि होते हैं किन्तु काव्यरस के उद्बोध में यह सब कारण ही माने जाते हैं क्योंकि यह सब मिलकर रस का उद्बोधन करते हैं—यह क्रिया भी कृत्रिम है।

इस प्रकार लोक का रस संपूर्णतया व्यक्तिगत एवं लौकिक होता है और काव्यरस सार्वजनीन एवं अलौकिक होते हुए भी कृत्रिम और अनित्य होता है। अब रहा भक्तों का भक्तिरस। प्रसिद्ध तैत्तिरीय श्रुति परमतत्व को रसस्वरूप बताती है। 'रसोवै सः' रसस्वरूप होने के कारण ही उसमें आनन्द की स्थिति है—रस ह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति। भगवद्भक्त अपने भगवान को 'निखिल रसामृतमूर्ति' मानते हैं और प्रेमोपासकों की दृष्टि में उनका नित्य-क्रीडा-परायण प्रेम रस-स्वरूप है। यह रस भगवत् स्वरूप होने के कारण नित्य होता है और भगवदंशजीव के लिये सहज भी। श्रुति ने परतत्व का रसरूप होना तो घोषित किया है किन्तु संपूर्ण श्रुति–साहित्य में यह कहीं नहीं बताया गया है कि यह रस रूपता किस प्रकार सिद्ध होती है। श्री कृष्णलीला का गान करने वाले श्रीमद्भागवतादि पुराणों में कहीं इस रस की परिपाटी का वर्णन नहीं मिलता केवल अग्नि पुराण में इस विषय की चर्चा मिलती है किन्तु वह भरत की रसप्रणाली पर ही आधारित है।

सोलहवीं शताब्दी में कृष्णभक्ति–संप्रदायों के उदय के साथ रससम्बन्धी विशद ऊहापोह का प्रारम्भ होता है। भक्ति-रस का विवेचन करने वाला सर्वप्रथम ग्रन्थ श्री रूप गोस्वामी कृत 'हरिभक्ति रसामृतसिंधु' है जिसकी रचना शकाब्द १४६३

(सं० १५६८) में गोकुल में हुई थी। इस ग्रंथ में भरत की रसविवेचन की प्रणाली को आधार बनाकर भक्ति रस का विशद विवेचन किया गया है एवं भक्ति रस को व्यक्त करने के योग्य बनाने के लिये उस प्रणाली में अनेक मौलिक परिवर्त्तन किए गए हैं। इन परिवर्तनों का विस्तृत वर्णन श्री जीव गोस्वामी ने अपने विद्वत्तापूर्ण 'प्रीतिसंदर्भ' में किया है। भक्तिरस के साधारणीकरण के लिये कवि-प्रतिभा-जनित विभावन-व्यापार को उक्त ग्रंथ में स्वीकार नहीं किया गया है। भक्तिरस के विभावादिक का स्वरूप ही ऐसा बताया गया है कि समान वासना वाले भक्त के हृदय में वे स्वयं विभावित हो जाते हैं। काव्य-रस-प्रणाली की जो दो कृत्रिमताएँ ऊपर दिखाई गई हैं उनमें से प्रथम का परिहार यहाँ हो जाता है। दूसरी कृत्रिमता जो लोक में अनुभूत रति के कारण, कार्य आदि सबको काव्यरस का हेतु बनाने के कारण उत्पन्न होती है, उसका परिहार भरत की प्रणाली को स्वीकार करने के बाद असंभव प्रतीत होता है।

काव्यरस सामाजिकनिष्ठ होता है। जिस रस के उद्बोध में रति के कारण, कार्य और संचारीभाव तीनों ही कारण बन जाते हैं, वह केवल सामाजिकनिष्ठ हो सकता हैं, अनुकार्य अथवा नायक-निष्ठ नहीं। अनुकार्य जिस रस का आस्वाद करता है उसमें उसकी रति के कारण-कार्य आदि अपनी लौकिक स्थिति में रहते हैं अतः अनुकार्य-निष्ठ रस को अन्य कुछ भी नाम दें, वह काव्यरस नहीं कहा जा सकता। भक्तिरस अनुकार्य-निष्ठ भी होता है क्योंकि भगवान रसस्वरूप हैं।

भगवान जिस प्रेमरस का आस्वाद करते हैं उसमें उनकी रति के कारण, कार्य और संचारी भाव अपने स्वाभाविक रूप को छोड़कर रस के कारण नहीं बनते । अतएव भगवत्-प्रेम-रस भरत की परिपाटी से निष्पन्न होने वाले काव्यरस से सर्वथा भिन्न होता है । भगवान को यदि काव्यरस का आलंबन बनाया भी जाय तब भी वह रस सामाजिकनिष्ठ ही रहेगा, इस विशेष प्रकार की योजना के कारण भगवद्निष्ठ नहीं बन सकता । भगवान् की संपूर्ण लीला लोकवत् होती है, उनको रसानुभव भी स्वाभाविक रीति से होता है । नंदगृह में लोक के साधारण बालक की भाँति वे माता की वत्सल रति के कारण बनते हैं । लोक में बालक जिस वात्सल्य रस का विषय बनता है वह काव्यरस की भाँति कृत्रिम नहीं होता । उसमें रस के कारण, कार्य आदि यथावस्थित होते हैं । इसी भाँति अन्य रसों के संबंध में समझना चाहिये ।

लोक के रस (भाव) एवं भगवद्रस में केवल इतनी ही समानता है कि दोनों सहज हैं, इसके अतिरिक्त अन्य कोई समानता नहीं है । भगवान के रसास्वादन का अर्थ यह है कि रस ही रसास्वादन में प्रवृत्त है, और यह स्थिति सर्वथा अलौकिक है । लोक की संकुचित सीमाओं एवं अंतरायों के कारण यहाँ रस (भाव) का स्फुरण क्षणिक एवं अनित्य होता है । काव्यरस अपनी कृत्रिमता के कारण अनित्य है और लोक का रस (भाव) अपनी परिस्थिति के कारण । भगवद्-प्रेमरस कृत्रिमता एवं परिमितता दोनों से मुक्त है अतएव वह नित्य है । उसका स्फुरण शाश्वत है । शाश्वत रसस्फुरण

जैसी परमोज्ज्वल, मांगलिक एवं आनंदमयी स्थिति दूसरी नहीं हो सकती, इसलिए भगवत्प्रेम-रस को भगवत्स्वरूप माना जाता है। अपरिमित. अलौकिक एवं अन्तराय-शून्य होने के कारण यह रस सरस हृदय में स्वयं विभावित हो जाता है और भगवन्निष्ठ रहता हुआ भी भक्त-निष्ठ बना रहता है। भक्त और भगवान के बीच एक मधुर आत्मीय संबंध स्थापित रहता है जिसके कारण वह अपने-पराए का भेद भूलकर भगवत्प्रेम रस का निर्विघ्न आस्वाद कर सकता है। काव्य के क्षेत्र में इस संबंध की कल्पना नहीं की जा सकती अतएव वहाँ कवि-प्रतिभाजनित 'विभावन' व्यापार की आवश्यकता होती है।

पंडितराज जगन्नाथ से पूर्व आलंकारिकों ने रस को 'रसो वै सः' श्रुति से प्रमाणित करने की चेष्टा नहीं की है। उनकी दृष्टि में इन दोनों रसों का भेद स्पष्ट था और उन्होंने काव्यरस के लिये केवल 'सहृदय' को प्रमाण माना है। सर्वप्रथम पंडितराज ने काव्यरस को उपर्युक्त श्रुति से प्रमाणित करना चाहा है। उनके पूर्व गौड़ीय गोस्वामीगण भगवद्-प्रेमरस का व्याख्यान काव्यरस की परिपाटी से कर चुके थे और स्पष्ट है कि उनसे ही प्रभावित होकर पंडितराज ने दोनों रसों को एक करने का प्रयास किया था। उनके बाद के काव्य रसज्ञों ने जहाँ-तहाँ उनका पदानुकरण किया है किंतु इस संबंध में प्राचीनों का मत ही ठीक है।

भरत की रस-परिपाटी के साथ उसके अन्यतम अंग नायक-नायिका-भेद को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है

और इसीलिये गौड़ीय भक्तिरस-साहित्य में हम श्रीराधाकृष्ण का दर्शन नायक-नायिका के रूप में पाते हैं। वहाँ इनके भेदों का प्रचुर वर्णन मिलता है और राधाकृष्ण को ही इनके उदाहरण में दिया गया है। श्रीकृष्णलीला के पौराणिक स्वरूप के वर्णन के लिये यह शैली उपयुक्त सिद्ध हुई है और इसके द्वारा भक्तिरस के प्रचार एवं प्रभाव में वृद्धि हुई है, यह निर्विवाद है।

राधावल्लभीय रसिकों ने प्रारंभ से ही अपने रस के व्याख्यान के लिये काव्यरस परिपाटी का किसी अंश में भी अंगीकार नहीं किया है और उन्होंने रस को जिस दृष्टि से देखा है उसके अनुसार वे कर भी नहीं सकते थे। रति किंवा प्रेम ही आस्वादित होकर रस कहलाता है। यह प्रेम, इस संप्रदाय के अनुसार अद्वय युगल-स्वरूप है। प्रेम के अद्वय-युगल—स्वरूप श्यामाश्याम हैं। यह प्रेम के कारण भी हैं और कार्य भी, अतएव इनको आलंबन-विभाव, जो प्रेम का केवल कारण होता है, नहीं कहा जा सकता। साधारणतया नायक-नायिका शृंगाररस के आलंबन-विभाव एवं रसकेलि के प्रयोजक होते हैं, किन्तु जहाँ वे स्वयं रसस्वरूप भी हों वहां रस को ही रसकेलि का प्रयोजक मानना पड़ेगा। ध्रुवदास जी ने इसीलिये कहा है कि इस रस में नायक-नायिका नहीं होते, स्वयं रस ही केलि का प्रयोजक होता है।

'नायक तहाँ न नायिका रस करवावत केलि'

श्रीहित हरिवंश के उपास्य प्रेमस्वरूप श्यामाश्याम जल-तरंगवत् एक दूसरे में ओतप्रोत हैं और जलतरंग की भाँति ही वे दो भिन्न रूपों में प्रगट रहकर क्रीडा करते रहते हैं। इनकी

क्रीड़ा अनादि अनंत एवं 'प्रेम-मदन मयी' होती है। ध्रुवदास जी बताते हैं कि श्यामाश्याम के हृदय में प्रेम और मदन के दो सिंधु सदैव बहते रहते हैं। प्रेमरूपी सिंधु के तरंग जब उन पर छा जाते हैं तब वे विवश हो जाते हैं और मदनरूपी तरंगों के छा जाने पर चैतन्य लाभ करते हैं। कभी खेल खिलाड़ी के अधीन रहता है और कभी खिलाड़ी खेल के अधीन हो जाते हैं। यह दोनों प्रतिक्षण इस प्रकार मधुर रस का उपभोग करते रहते हैं। इनका प्रेम अत्यंत सूक्ष्म है और उसकी रीति-भाँति का वर्णन नहीं किया जा सकता।

प्रेम मदन के सिंधु द्वै बहत रहत दिन हीय।
कबहुँ बिबस चेतत कबहुँ छिन छिन प्यारी पीय।।
छिन छिन प्यारी पीय मधुर रस बिलसत ऐसे।
सूक्ष्म प्रेम की बात कहौ कोऊ बरनै कैसे।।

यह सूक्ष्म मधुर-रस प्रेम और मदन किंवा प्रेम और नेम के नित्य योग से नित्य निष्पन्न रहता है। इस नित्य-रस के दोनों तत्वों—प्रेम और नेम-का स्पष्टीकरण श्री ध्रुवदास ने इस प्रकार किया है। प्रेमस्वरूपतः अनादि, अनंत, एकरस, नित्य-नूतन, उज्जवल, सरस, मादक, स्निग्ध एवं स्वच्छंद भाव है। नेम भी भावरूप है। वह आदि-अंत युक्त और आकृतिरूप एवं परिणाम रूप है। 'नेम' को समझाने के लिये तीन उदाहरण दिए गए हैं। पहिला उदाहरण रँगे हुए वस्त्र का है। लाल रँगा हुआ वस्त्र वस्त्र ही रहता है, उसमें लाल रंग का योग हो जाता है। यहाँ पर वस्त्र प्रेम है और लाल रंग नेम है। दूसरा उदारहण पात्र और उसकी आकृति का है। पात्र प्रेम है और आकृति

नेम है, 'जो किया जाय और फलित हो' उसको नेम कहते हैं। तीसरा उदाहरण कनक-कुंडल का है। कनक से कुंडल गढ़े जाते हैं इसलिये वे नेम हैं और एक रस रहने वाला कनक प्रेम है। प्रेम के नेम के कुछ उदाहरण देखना, हँसना, बोलना, मान तथा कोक के विलासादिक दिए गए हैं। नित्य एकरस रहने वाले प्रेम के साथ यह सब बनने मिटने वाली क्रियाएँ, आकृतियाँ एवं परिणाम 'यंत्रित' रहते हैं। नवधा भक्ति भी नेम है जो प्रेमलक्षणा भक्ति के उदय के बाद प्रेम में लीन होकर रहती है।

साधारणतया 'नेम' से उन विधिविधानों, क्रियाकलापों एवं क्रिया-परिणामों का बोध होता है, जिनका नाश प्रेम के उदय के साथ हो जाता है। 'प्रेम में नेम नहीं होता' यह बात प्रसिद्ध है। किंतु श्रीध्रुवदास कहते हैं कि, प्रेम के उदय केसाथ वही नेम नष्ट होते हैं जो उससे भिन्न होते हैं; जो उससे जुड़े हुए हैं (यंत्रित हैं)वे कैसे नष्ट हो सकते है ? इन नित्य-यंत्रित नेमों के कारण ही मधुर प्रेम मधुर-रस बना रहता है और इसी से प्रेम और नेम को रस-पट का तानाबाना कहा गया है। श्रीध्रुवदास ने मधुर प्रेम से यंत्रित नेमों को 'मदन' किंवा काम भी कहा है। विद्वानों ने श्रृङ्गार शब्द की उत्पत्ति 'श्रृङ्ग' से बतलाई है जिसका अर्थ 'मन्मथ' का उद्‌भेद है। लोक के श्रृंगार की निष्पत्ति भी रति (प्रेम) और मन्मथ के योग से होती है किंतु यहाँ यह दोनों प्राकृत होते हैं। प्राकृत काम का अवसान उपरति में होता है और उसके साथ रति भी उपरित-सी प्रतीत होने लगती है। इसीलिये यहाँ का श्रृंगार अनित्य

होता है। अप्राकृत प्रेम नित्य नूतन बनने वाला भाव है और उसके साथ नित्य यंत्रित रहने वाला काम भी उसी के समान नित्य-नूतन बनता रहता है। नित्य नूतन बनने वाले काम को अप्राकृत काम कहा जाता है। अप्राकृत काम भी काम ही है। उसमें काम के अनेक लक्षण प्रगट रहते हैं। श्रीहित हरिवंश ने अपने एक पद में बताया है कि पशुपति ने काम को अपनी क्रोधाग्नि में भस्म कर दिया था, नागरी श्यामा ने उसको पुनः जीवित किया और उसको अंगीकार करके नित्य नूतन बना दिया। (हि० चतु० ५६)

प्रेम और मदन (अप्राकृत) के नित्य योग से यह रस नित्य निष्पन्न रहता है। वास्तव में इन दोनों के योग से ही मधुर रस की सृष्टि होती है। प्रेम (रति) ही आस्वादित होकर रस कहलाता है। मदन केलि के योग से प्रेम आस्वाद्य बनता है। श्रीध्रुवदास कहते हैं कि प्रेम-तृषा की बेलि के लिये मदनकेलि जल के समान है। परम रसिक-नागर-नवल इस जल का पान करके प्रेम-तृषा की बेलि को हरी बनाये रखते हैं।

प्रेम तृषा की बेलि कौं केलि अदन रस आहि।
परम रसिक नागर नवल पीवत जीवत ताहि॥
(भजन कुंडलियाँ)

परस्पर की काम-केलि के योग से जिस प्रकार श्यामा-श्याम का प्रेम हरा बना रहता है, आस्वाद्य बना रहता है, उसी प्रकार रसिक उपासक का प्रेम इन दोनों की केलि के योग से रसरूप बना रहता है। श्री हितहरिवंश ने केलि-रसपान

को अपना चरम सुख बताया है । 'हित चतुरासी' के एक सुंदर पद में प्रेमकेलि का वर्णन करके वे अंत में कहते हैं– 'उभय प्रेमस्वरूपों के संगम-रूपी सिंधु में शृंगारकेलि का जो कमल खिल रहा है, उससे अनवरत प्रवाहित होनेवाले मकरंद का पान हरिवंशरूपी भ्रमर करता है ।'

उभय संगम सिंधु सुरत पूषरण बंधु
द्रवत मकरंद हरिवंश अलि पावै । (पद–८१)

प्रेम और मदन के जो सिंधु श्यामाश्याम के हृदयों में प्रवाहित रहते हैं, उन्हीं का एक करण उपासक के हृदय में भी बहता रहता है और इस प्रकार यह रस राधाकृष्ण-निष्ठ रहता हुआ भी उपासक निष्ठ बना रहता है । इस रस के रसिकों का अनुभव ही इसका प्रमाण है ।

इस नित्य-निष्पन्न रस का नाम 'श्रीवृन्दावन-रस' है । वृन्दावन-रति को रस का स्थायी भाव कहा जा सकता है । वृन्दावन-रति वास्तव में प्रेम-रति है । क्योंकि इस संप्रदाय के अनुसार, राधामाधव का अत्यंत रमणीय पारस्परिक प्रेम ही वृन्दावन के रूप में मूर्तिमान हुआ है । रसिक-उपासक एवं रसिक-शिरोमणि श्यामाश्याम समान रूप से इस प्रेम से आसक्त हैं और प्रेम-रति समानरूप से दोनों के रसानुभव का आधार बनी हुई है । वृन्दावनकी प्रेमरति-रूपता के बड़े सुंदर वर्णन राधावल्भीय वाणियों में मिलते हैं । श्री ध्रुवदास एक स्थान-पर कहते हैं 'वृन्दावन सुहाग का बाग है जो रस में पगा हुआ है । यहाँ की प्रीतिलता में रूप-रंग के दो फूल (श्यामाश्याम) लग रहे हैं ।

वन है बाग सुहाग कौ राख्यौ रस में पागि ।
रूप रंग के फूल दोउ प्रीति लता रहे लागि ।।

[वृन्दावन शतक]

उपासक के चित्त में वृन्दावन-रति का उद्‌बोध करने के लिये श्रीध्रुवदास ने यह उपाय बताए हैं—'उपासक को वृन्दावन का नाम रटना चाहिये, वृन्दावन का दर्शन करना चाहिये, वृन्दावन से प्रीति करनी चाहिए और वृन्दावन को अपने हृदय में अंकित करना चाहिए। उसको यदि विश्राम की चाह है तो उसे वृन्दावन को प्रणाम करना चाहिये और उसको पहिचानना चाहिये। इस प्रकार वृन्दावन का स्मरण करने पर उपासक के समस्त प्रतिबंधक कर्म लुप्त हो जाते हैं और फिर रस-भजन की नेह-बेलि उसके हृदय में उत्पन्न हो जाती है' [वृन्दावन शतक]

इसी वृन्दावन-रस के कथन के लिए श्री हित हरिवंश का जन्म हुआ था। 'हित चतुरासी' के पदों में उन्होंने इसी का गान किया है।

करुणानिधि और कृपानिधि श्री हरिवंश उदार ।
वृन्दावन-रस कहनि कौं प्रगट धरचौ अवतार ।।

[श्री ध्रुवदास-रसमंजरी]

हिताचार्य के शिष्य श्री हरिराम व्यास ने इस रस के प्रति अपना स्वाभाविक पक्षपात व्यक्त करते हुए इसको अन्य सब रसों से विलक्षण बताया है।

वृन्दावन रस मोहि भावै हो ।
ताकी हौं बलि जाऊँ सखीरी जो मोहि आनि सुनावै हो ।।
बेद पुराण औ भारत भाखै सो मोहि कछु न सुहावै हो ।
मन वचक्रम स्मृतिहू कहत है मेरे मन नाहिं आवै हो ।।
कृष्ण कृपा तब ही भलै जानौ रसिक अनन्य मिलावै हो ।
'व्यासदास' तेई बड़भागी जिनके जिय यह आवै हो ।।

[व्यासवाणी-पृ ७३-७४]

अन्यत्र उन्होंने कहा है– 'इस रस का पान करके मेरा मन नवधाभक्ति एवं भागवत कथा की रति से ऊबने लगा है। इस रस के उपासक'अनन्य'समुदाय की रहनि-कहनि सबसे भिन्न है।'

यहि रस नवधाभक्ति उबीठी रति भागौत कथा की।
रहनि कहनि सबही तै न्यारी 'व्यास' अनन्य सभा की ।।

[व्यासवाणी-पृ० ११०]

इस नित्य-निष्पन्न रस का अनुभव केवल कृपालभ्य माना गया है। प्रेमदेव की जिस पर सहज कृपा होती है वही इसके दर्शन करता है। प्रेम की सहज कृपालुता प्रसिद्ध है। कृपा-लाभ होने पर उसी प्रेम के अन्दर, जिसका अनुभव जीव-मात्र को है, वह झरोखा खुल जाता है जिसने प्रेम के वास्तविक रूप को बन्द कर रखा है। 'सहज कृपा के बल से खुले हुये प्रेम-झरोखे से ही इस नित्य-निष्पन्न रस के दर्शन होते हैं। कृपा के अतिरिक्त उस रस की प्राप्ति का अन्य कोई साधन नहीं है।

यह रस समुझनि कौं कछू नाहिन आन उपाय ।
प्रेम दरीची जो कबहुँ सहज कृपा खुलि जाय ।।

(ध्रुवदास–प्रेमावली)

वास्तव में, हमारा परिचित प्रेम भी भोक्ता-भोग्यमय है; केवल इन दोनों के स्वरूप एवं सम्बन्ध में विपर्यय हुआ रहता है। प्रेम के शुद्धतम रूप में भोक्ता और भोग्य सर्वथा तत्सुख-मयी प्रीति में आबद्ध रहते हैं। इनकी इस अद्भुत प्रीति का सम्मिलित रूप प्रेरक प्रेम है। भोक्ता और भोग्य की स्थिति स्वभाविक न होने के कारण, लोक में, प्रेरक प्रेम किंवा प्रेम सम्बन्ध की भी स्थिति शुद्ध नहीं दिखलाई देती। प्रेम की सहज कृपा के उदय होने पर सर्व-प्रथम यह प्रेरकप्रेम हृदय में प्रकाशित होता है। प्रेरक-प्रेम का एक रूप श्री वृन्दावन है। इसको प्रेम की आधार स्थिति माना गया है। यह स्वयं प्रेम-स्वरूप होते हुए प्रेम की विविध रसकेलि का आधार बना रहता है। श्री हिताचार्य ने, इसीलिये, रसकेलि का गान प्रारंभ करते हुए सर्वप्रथम अति रमणीय श्री वृन्दावन को दीनतापूर्वक प्रणाम किया है और श्री राधाकृष्ण के बिना इसको सबके मनों के लिये अगम्य बतलाया है।

प्रथम यथामति प्रणाऊँ श्री वृन्दावन अतिरम्य।
श्री राधिका कृपा बिनु सबके मननि अगम्य ॥

(हित चतु० ५७)

अन्य रसों के साथ वृन्दावन-रस की एक भिन्नता उसकी रचना को लेकर है जिसका परिचय ऊपर दिया जा चुका है। दूसरी भिन्नता संयोग और वियोग के दृष्टि-कोण को लेकर है जिसका विचार अब किया जाता है।

द्विदल-सिद्धान्त

काव्य शास्त्र में शृ'गार-रस के दो भेद माने गये हैं—संभोग शृ'गार, विप्रलंभ शृ'गार। प्रेमोपासकों ने भी शृ'गार-तरु को द्विदल माना है। उसका एक दल (पत्ता) संयोग है और दूसरा वियोग। शृ'गार रस के दो भेद, पक्ष किंवा दल सबको स्वीकार हैं किन्तु इन दोनों दलों के स्वरूप, प्रभाव एवं पारस्परिक-सम्बन्ध के विषय में पर्याप्त मतभेद हैं। कुछ लोग शृङ्गार रस की पुष्टि संयोग में मानते हैं और कुछ वियोग में। वे दोनों यह भूल जाते हैं कि संयोग और वियोग में कोई एक यदि अपने आप में पूर्ण होता तो शृङ्गार को द्विदल होने की आवश्यकता न थी; उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति किसी एक के द्वारा हो जाती। शृङ्गार ने दो पत्ते धारण किये हैं, इसका अर्थ ही यह है कि उसके पूर्ण स्वरूप की अभिव्यक्ति इन दोनों के द्वारा होती है, एक के द्वारा नहीं। यह दोनों मिल कर ही सम्पूर्ण प्रेम को प्रकाशित करते हैं। श्री हिताचार्य ने चकई और सारस के दृष्टान्त से संयोग और वियोग की अपूर्णता को प्रगट किया है। प्रकृति में सारस नित्य-संयोग का प्रतीक है और चकई वियोग का। सारस वियुक्त होने पर जीवित नहीं रहता और चकई प्रति-रात्रि वियोगज्वाला का पान करती रहती है। चकई की यह स्थिति देखकर सारस के मन में प्रसके प्रेम के प्रति सन्देह होता है और वह उससे कहता है 'प्रियतम से वियुक्त होने पर तेरे प्राण तेरे शरीर में बेकार रहे आते हैं; और वह ऐसी स्थिति में, जब तुम दोनों के बीच में सरोवर का अन्तर, अन्धकार-पूर्ण रात्रि, बिजली की चमक

और घन की गर्जन रहती है! समझ में नही आता कि यह सब सहन कर लेने के बाद प्रातःकाल तू प्रेम-जल-विहीन नेत्रों को लेकर कैसे अपने प्रियतम के प्रति प्रेम का प्रदर्शन करती है! श्रीहित हरिवंश कहते हैं 'बुद्धिमानों को सारस के उपरोक्त वचनों पर विचार करना चाहिये। अधिक कहने से तो क्या लाभ है, सारस के मन में यह सन्देह है कि परम दुखदायी वियोग की स्थिति में चकई के शरीर में प्राण कैसे रहे आते हैं।*

सारस के बचनों को सुनकर वियोग-रस में निमग्न रहने वाली चकई को उसके ऊपर तरस आता है और वह कहती है, 'हे सारस, अपनी प्रिया के वियोग को यदि एक क्षण के लिये भी तेरा शरीर सहन कर सकता और तेरे वियोग में यदि तेरी त्रिया को कामाग्नि-पान करना पड़ता तब तू हमारी पीर को समझ सकता था। यदि वैसी स्थिति में तू अपने शरीर को वज्र का बनाकर धैर्य धारण कर सकता तब तेरी बात थी। तुम तो वियुक्त होने पर फौरन मर जाते हो; तुम्हारा मन वियोग के प्रभाव का अनुभव ही नहीं कर पाता'। श्रीहित हरिवंश कहते हैं– विरह के विना शृंगार रस की स्थिति शोचनीय है,

---

*चकई प्राण जु घट रहैं पिय बिछुरन्त निकज्ज।
सर अन्तर अरु काल निसि तरफ तेज, घन गज्ज॥
तरफ तेज घन गज्ज लज्ज तुहि बदन न आवै।
जल विहूनि करि नैंन भोर किंहि भाय बतावै॥
हित हरिवंश विचारि बाद अस कौन जु बकई॥
सारस मन संदेह प्राण घट जु रहैं चकई॥

सदैव प्रिय के पास रहने वाला सारस प्रेम के मर्म को क्या जान सकता है ? *

इस प्रकार, संयोग और वियोग दोनों के अपूर्ण होने के कारण, रस की वही स्थिति आदर्श मानी जा सकती है जिसमें संयोग और वियोग एक साथ उपस्थित रहकर अपने भिन्न प्रभावों के द्वारा, प्रेम के एकान्त अनुभव को पुष्ट बनाते हों। 'वृन्दावन रस' में इसी स्थिति का ग्रहण किया गया है। संयोग की परावधि तो यह है कि एक क्षण के लिये भी दोनों वियुक्त नहीं होते और वियोग की सीमा यह है कि नित्य संयुक्त होने पर भी अपने को अनमिले मानते हैं। भजनदास जी कहते हैं– 'युगल किशोर के अंग-अंग मिले हुए हैं, फिर भी वे अपने को अनमिले मानकर अकुलाते रहते हैं। जहाँ का संयोग ही विरह रूप है उस रस का वर्णन नहीं किया जा सकता।

मिले अनमिले रहत विवि अंग अंग अकुलाँइ।
प्रेमहि विरह सरूप जहाँ यह रस कह्यौ न जाइ ॥

ध्रुवदास जी कहते हैं, जहाँ देखना ही विरह के समान है, वहाँ के प्रेम का वर्णन कोई क्या करे ! प्रेमी कभी बिछुड़ता नहीं है और न वह कभी मिला ही रहता है। प्रेम की यह

---

*सारस सर बिछुरन्त कौं जो पल सहै शरीर।
अगनि-अनंग जु तिय भखै तौ जानैं परपीर ॥
तौ जानै परपीर धीर धरि सकै वज्र तन।
मरत सारसहिं फूटि पुनि नपर चौ जु लहत मन ॥
हित हरिवंश विचारि प्रेम-विरहा विन वारस।
निकट कंत नित रहत मरम कहा जानै सारस ॥

अद्भुत एकरस स्थिति है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता'।

देखिबौ जहाँ विरह सम होई,तहाँ कौ प्रेम कहा कहि कोई ।

[रहस्य मंजरी]

प्रेमी बिछुरत नाहिं कहुँ मिल्यौ न सो पुनि आहि।
कोन एकरस प्रेम कौ कहि न सकत ध्रुव ताहि ।।

[प्रेमावली]

मोहन जी प्रेम की इस एकत्र संयोग-वियोगमयी स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'प्रियतम की खोज में मेरा मन जब अत्यन्त अधीर होने लगा और किसी प्रकार उसका पता लगता ही न था, तब अनुभवियों ने मुझे बताया कि इस प्रेम-देश में अपनी चाह की छाया के अतिरिक्त अन्य कोई रहता ही नहीं है जिससे तुम कुछ जान सको । मैंने यह सुनकर, अपनी चाहों से पूछा कि तुम ही बताओ कि प्रियतम (प्रेम) का स्वरूप क्या है ? उन्होंने मुस्करा कर जवाब दिया कि नित्य-मिलन में अनमिलना ही उसका स्वरूप है ।'

सुनियत यहाँ दूसर कोउ नाहीं ।
बिना एक चाह परिछाहीं ।।
चाहनि सों पूछी में बाता,प्रीतम कहौ कौंन रंग राता ।
तिनि मुसकाइ बात यह कही,नित्य-मिलन अनमिलनौं सही ।

[केलि कल्लोल]

अन्यत्र वे कहते हैं, 'प्रेम में जैसे प्रेमी और प्रेम-पात्र एक प्राण, दो देहवाले होते हैं, शृङ्गार-रस में वैसी ही स्थिति संयोग और वियोग की है'। बात को स्पष्ट करने के

लिये उन्होंने नायक को विरह-रूप और नायिका को संयोग-रूप बतलाया है। 'श्याम विरह है और गोरी संयोगिन है। विचित्रता यह है कि श्याम और गौर–वियोग और संयोग–अदल-बदल होते रहते हैं। कभी संयोग विरह-जैसा प्रतीत होता है, और कभी विरह संयोग-जैसा प्रतीत होता है। दृष्टि न आने पर 'श्याम' कहलाते हैं और जब दृष्टि में आने लगते हैं तब 'गोरी' कहलाते हैं। गौर-श्याम इस प्रकार मिलकर रहते हैं कि न तो उनको संयुक्त कहा जा सकता है और न वियुक्त ही। श्री वृन्दावन श्रृङ्गार-रस है और गौर-श्याम संयोग-वियोग हैं। ये दोनों हित-मत्त होकर वहाँ विहार करते रहते हैं, इनकी अद्भुत क्रीड़ा मुझ से कही नहीं जाती'।

त्यौं सिंगार बिछुरन मिलन एक प्राण दो देह।

× × × ×

विरह नाम नायक कौ धरयौ,नाम संयोग नायिका करयौ।
स्याम विरह गोरी संजोगनि,अदल बदल तिहिं सकै न कोउ गनि ।।
डीठि न आवै श्याम कहावै,डीठि परे गोरी छवि पावै।
गौर श्याम ऐसे मिलि रहे,बिछुरे भेंटे जाहिं न कहे ।।
वृन्दावन सिंगार, गौर श्याम बिछुरन मिलन।
तिहि ठां करत विहार, हित माते कहत न बनैं ।।
[केलि-कल्लोल]

संयोग और वियोग की यह स्थिति अत्यन्त सूक्ष्म एवं तीव्र प्रेम में ही संभव है। प्रेम का जहाँ स्थूल स्वरूप होता है, वहाँ संयोग और वियोग भी स्थूल प्रकारों में व्यक्त होते हैं। श्री हिताचार्य ने वियोग के स्थूल एवं सूक्ष्म स्वरूपों के

उदाहरण अपनी रचनाओं में दिये हैं। स्थूल-गति का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि 'मधुर रस एवं मधुर स्वरों वाली वीणा को गोद में रखकर वियोगवती श्री राधा नागर-शिरोमणि श्री श्यामसुन्दर की भावमयी लीलाओं का गान करती हैं और अश्रु-वर्षा से अपार बने हुए दुःख के साथ दिनों को बिताती हैं। अहो! ऐसी श्री राधा मेरे हृदय में विराजमान हों। (रा० सु० ४८)

यहाँ श्री राधा-माधव के बीच में देश और काल का अंतर पड़ा हुआ है। जिस वियोग दशा का अनुभव इस समय श्री राधा को हो रहा है, उसका कारण केवल प्रेम ही नहीं है, उसके साथ देश और काल का अंतर भी है। प्रेम के साथ देश और काल के अंतर के योग के कारण ही यहाँ पर विरह का रूप स्थूल बन गया है। देश और काल का अन्तर जितना कम होता जाता है, उतना ही विरह सूक्ष्म होता जाता है। एक स्थिति ऐसी आती है जहाँ विजातीय पदार्थ का अन्तर शून्य हो जाता है और एक-मात्र प्रेम ही अत्यन्त तीव्र बन कर सूक्ष्म विरह में परिणत हो जाता है। विरह की सूक्ष्म स्थिति का वर्णन करते हुए श्री हितप्रभु कहते हैं—'जिन श्री राधा-माधव का वाह्य एवं अन्तर एक क्षण के वियोग के आभास-मात्र से कोटि कल्पाग्नियों के दाह का अनुभव करता है, गाढ़स्नेहानुबन्ध में गुथे हुए-से उन दोनों अद्भुत प्रेम-मूर्तियों को मैं परम-मधुर आश्रय जानता हूँ।

(सु० नि० १७३)

इससे भी अधिक सूक्ष्म विरह का उदाहरण श्रीहित-प्रभु ने हित चतुरासी में दिया है जहाँ चन्द्र-चकोर की भाँति परस्पर रूप देखते-देखते पलक ओट होने से महा-कठिन दशा हो जाती है और जहाँ अपनी देह भी न्यारी सहन नहीं होती। श्रीश्याम सुन्दर के नेत्रों की करुण स्थिति का वर्णन करती हुई एक सहचरी कहती है—'मैं इन नेत्रों की बात क्या कहूँ ! यह भ्रमर के समान प्रिया के मुख-कमल के रस में अटक रहे हैं और एक क्षण के लिये भी अन्यत्र नहीं जाते। जब-जब यह पलकों के संपुट में रुक जाते हैं, तब-तब अत्यन्त आतुर होकर अकुलाने लगते हैं। निमेषपात के एक लव के अन्तर को भी यह सैकड़ों कल्पों के अन्तर से अधिक मानते हैं। कानों के आभूषण, आखों के अंजन एवं कुचों के बीच का मृगमद बनकर भी इनको चैन नहीं मिलता। इसलिये श्री श्यामसुन्दर अपनी एवं प्रिया की देहों को एक करने की अभिलाषा करते रहते हैं'। (चतु० ६०)

भजनदास जी बतलाते हैं—'तीव्र प्रेम का यह रूप है कि तन से तन, मन से मन, प्राण से प्राण एवं नेत्र से नेत्र मिले रहने पर भी चैन नहीं मिलता'।

तन सौं तन मन सौं जु मन मिले प्राण अरु नैन।
तीव्र प्रेम को रूप यह तऊ हिये नहि चैन ।।

साधारणतया विप्रलम्भ से संयोग की पुष्टि मानी जाती है। इस सम्बन्ध में यह कारिका प्रसिद्ध है:—

न विना विप्रलंभेन सभोगः पुष्टिमश्नुते ।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागोहि वर्धते ।।

श्री रूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमरिण' में इस कारिका को स्वीकृति-पूर्वक उद्धृत किया है एवं मधुर रस का पूर्ण परिपाक 'समृद्धिमान संयाग' में माना है । समृद्धिमान् संयोग का लक्षरण यह किया है 'पारतन्त्र्य के कारण वियुक्त एवं एक-दूसरे को देखने में असमर्थ नायिका-नायक के उपभोग के आधिक्य को समृद्धिमान संयोग कहते हैं ।

दुर्लभालोकयो र्यूनोः पारतन्त्र्याद्वियुक्तयोः ।
उपभोगातिरेको यः कीर्त्यते स समृद्धिमान् ।।
(उ०नी०पृ०५०७)

नित्य-विहार में श्री युगलकिशोर अत्यन्त समृद्ध संयोग का ही अनुभव करते हैं, किन्तु उसका नियोजक दुर्लभ-दर्शन एवं पारतन्त्र्य नहीं है । यहां प्रेम का स्वरूप ही ऐसा है कि क्षरण-क्षरण में नवीन रुचि के तरंग उठते रहते हैं और श्रीराधा-माधव प्रतिक्षरण एक दूसरे के सर्वथा नवीन स्वरूप का आस्वाद करते रहते हैं ।

आलङ्कारिकों ने विप्रलम्भ शृंगार के चार भेद बतलाये हैं—पूर्वानुराग, प्रवास, मान, एवं करुरण । नित्य-विहार में पूर्वानुराग, प्रवास एवं करुरण के लिये तो स्थान ही नहीं है, केवल 'प्रणय-मान' का ग्रहण किया गया है, और वह इसलिये नहीं कि मान के द्वारा संयोग की पुष्टि होती है, किन्तु इसलिये कि इसमें प्रेम के एक आवश्यक अंग का प्रकाशन होता है । प्रेम का वह अंग है उसकी सहज कुटिल गति, उसकी स्वाभाविक वामता ।

एक श्लोक प्रसिद्ध है कि 'नदियों की, वधुओं की, भुजंगों की एवं प्रेम की गति अकारण वक्र होती है'।

नदीनां च वधूनां च भुजंगानां च सर्वदा ।
प्रेम्णामपि गतिर्वक्रा कारणं तत्र नेष्यते ।।

जहाँ प्रेम उत्कर्ष को प्राप्त होता है वहाँ उसकी वामता प्रकाशित हुए विना नहीं रहती। इसीलिये नित्य-विहार में निर्हेतुक प्रणय-मान को स्वीकार किया गया है और यहाँ इसके बड़े सुन्दर स्वरूप प्रत्यक्ष हुए हैं। प्रणय-मान की निर्हेतुकता व्यञ्जित करने के लिये श्री वृन्दावन में ऐसी कुंजों का वर्णन किया गया है जो 'मान-कुंज' कहलाती हैं। वृन्दावन में प्रेम-विहार करते हुए नव-दंपति जब अनायास इनमें प्रविष्ट होते हैं, तब प्रिया की भ्रू-लता अकारण भंग हो जाती है और यह देख कर श्री श्यामसुन्दर अत्यन्त कातर भाव से अनुनय में प्रवृत्त हो जाते हैं।

मान कुंज आये जबहिं कुंवरि भौंह भई भंग ।
चितै लाल पाँइनि परैं समुझि मान कौ अंग ।।
ऐसे रस में हो प्रिये ऐसी जिय न विचार ।
तासौं इती न चाहिये तन मन जो रह्यो हार ।।
मेरें है गति एक, तुम पद-पंकज की प्रिये ।
अपने हठ की टेक, छाँड़ि कृपा करि लाड़िली ।।
(श्री ध्रुवदास)

अहैतुक मान प्रेम का सहज अंग होने के कारण अनंत प्रकारों में घटित होता है। हित-चतुरासी में मान के अनेक प्रकार दिये हुए हैं। मोटे तौर पर इनको दो भेदों में

बाँटा गया है—निकुंजान्तर-मान और निकट-मान । निकुंजान्तर-मान में श्री राधा अहैतुक मानवती होकर कुंजान्तर में चली जाती हैं और जब सहचरी-गण उनको उनके प्रियतम की करुणा-स्थिति का वर्णन सुनाती हैं, तब वह आतुर गति से उस कुंज की ओर चल पड़ती हैं जहाँ बैठे हुए श्री श्याम-सुन्दर उनके आगमन-मार्ग की ओर अधीर नेत्रों से देख रहे हैं । इस प्रकार के एक निकुंजांतर-मान का वर्णन करते हुए श्री हितप्रभु ने बतलाया है कि मान के समय श्री राधा की अगाध प्रीति 'अन्तर्गति' बन गई थी, अपने आप में डूब गई थी । सखियों ने जब विदग्धता-पूर्वक उनको प्रियतम का स्मरण दिलाया, तब वह प्रीति उनके मन में मुकुलित हो उठी और दोनों रस-सागर निविड़-निकुंज में एक-दूसरे से मिलकर उद्वेलित हो उठे ।

अतिशय प्रीति हुती अन्तर-गति हित हरिवंश चली मुकलित मन।
निविड़ निकुंज मिले रस सागर जीते सत रतिराज सुरत रन ॥
(हि० च० ४४)

श्री हित प्रभु को निकट-मान अधिक रुचिकर है और सेवक जी ने अपनी वाणी के अंतिम प्रकरण में उसी का व्याख्यान किया है । निकट-मान का बड़ा सरस वर्णन श्री हितप्रभु ने अपने एक पद में किया है । उन्होंने बतलाया है—'एक वार प्रेम-विहार करते हुए श्री श्यामसुन्दर अपनी प्रिया की अद्भुद अंग-शोभा का दर्शन करके 'विथकित वेपथगात' हो गये । नागरी प्रिया ने अधर-रस-दान के द्वार उनको सावधान किया, किन्तु दूसरे क्षण में हो वे प्रेम की दूसरं

प्रबल तरंग में पड़ गये । उनको ऐसा प्रतीत हुआ कि उन्होंने प्रिया के मुख में 'रसाल विंबाधरों' को प्रथम वार ही देखा है और वे अत्यन्त दीनतापूर्वक प्रिया से अधर-रस-दान की प्रार्थना करने लगे । उनके इस विभ्रम को देख कर प्रिया मानवती हो गईं और उनके इस अप्रत्याशित मान को देख कर श्यामसुन्दर विरह-दुख से अत्यन्त कातर एवं अधीर बन गये । प्रिया ने सदय होकर उनको भुजाओं में भर लिया और दोनों के प्रीति-पूर्वक मिलने से कुछ ऐसे सुख की निष्पत्ति हुई कि उस दिन की सन्ध्या एक निमेष के समान व्यतीत हो गई ।

हित हरिवंश भुजनि आकर्षे लै राखे उर माँझ ।
मिथुन मिलत जु कछुक सुख उपज्यौ त्रुटिलव मिव भई साँझ ।।

(हि० च ६६)

संयोग और वियोग के युगपत् अनुभव से केवल बाह्य आकार में कुछ-कुछ मिलने वाली प्रेम की एक तंरग है, जिसका वर्णन वृन्दावन-रस के रसिकों ने किया है और गौड़ीय-भक्ति-रस-साहित्य में भी जिसके वर्णन प्राप्त होते हैं । इस प्रेम-तंरग को 'प्रेम-वैचित्य' कहते हैं । श्रीहितप्रभु ने इसका उदाहरण अपने राधा-सुधानिधि स्तोत्र में दिया है । उन्होंने कहा है— 'प्रियतम के अंक में स्थित होते हुए भी अकस्मात् 'हा मोहन'! कह कर प्रलाप करनेवाली, श्यामसुन्दर के अनुराग मद की विह्वलता से मोहन अंगों वाली कोई अनिर्वचनीय श्यामा-मणि निकुंज की सीमा में उत्कर्ष को प्राप्त है' ।

(रा०सु०४६)

की छवि का पान करने लगे और प्रतिक्षण उसकी रस-तृषा बढ़ती रहे, तब उसको विलक्षण ही आस्वाद आवे। यह दूसरी भूमिका है। किन्तु इसमें चकोर और चन्द्र के समान-प्रेमी न होने के कारण प्रेम एकांगी रहता है, और यह भी अच्छा नहीं लगता कि चन्द्रमा चकोर के प्रेम-पाश में बँधकर एकटक उसकी ओर देखता रहे। इसमें प्रेम-पात्र की सहज-सलज्ज प्रीति के अत्यन्त व्यक्त हो जाने से रस–हानि हो जायगी। प्रेम का पूर्ण स्वरूप तब बनता है जब चकोर चन्द्र बनकर चन्द्र से प्रेम करे और चन्द्र चकोर बनकर चकोर से, और प्रेम के अद्भुत फंद में उलझ कर दोनों क्षण-क्षण में अपने शरीरों को बदलते रहें। जब चकोर अपने प्रेम को चन्द्र में और चन्द्र अपने प्रेम को चकोर में ज्यौं-का-त्यौं पाता है, तब, इन दोनों प्रेमों के संगम से, प्रेम-पयोनिधि अमर्यादित बढ़ता है। जिस प्रकार दो दर्पणों के बीच में एक दीपक रख देने से वह अगणित रूपों में प्रतिबिंबित हो उठता है, उसी प्रकार समान आश्रयों को पाकर प्रेम भी अनंत बन जाता है। मैंने प्रेम का यह वर्णन अपने अनुमान के आधार पर किया है। वास्तव में, प्रेम अनिर्वचनीय तत्व है। जब उसको दूर से देखकर ही बुद्धि बावली हो जाती है तो उसकी गहराई कौन जान सकता है।' *

---

* प्रीति रीति कैसे कहि आवै।
करि विचार हिय हार रहत हौं, क्यों हूँ मन न समावै।।
चंदहि रहत एक टक देखत, सो जग धन्य चकोरी।

श्री हितप्रभु ने, जैसा हम देख चुके हैं, श्री राधा-माधव को जल-तरंगवत् एक-दूसरे में ओत-प्रोत बतलाया है। अतः इनके स्वरूपों में थोड़ा-सा भी तारतम्य कर देने से प्रीति का वह उज्ज्वलतम रूप निष्पन्न नहीं हो सकता, जिसका वर्णन हितभोरी ने अपने पद में किया है। ध्रुवदास जी कहते हैं, 'श्यामा-श्याम की एक-सी रुचि है, एक-सी वय है और एक ही प्रकार की परस्पर प्रीति है। इन दोनों का शील एक-सा है और एक-सा ही मृदुल स्वभाव है। इन्होंने तो रस-विलास के लिये दो देह धारण किये हैं।

टूटै सीस दीठ नहि छूटै, तदपि प्रीति अति थोरी ॥
तन-मन होइ चकोरी चंदा, शशि ह्वै शशि छवि पीवै।
तौ कछु स्वाद और ही पावै, पियत जु प्यासी जीवै ॥
तद्यपि प्रीति इकंगी कहिये, जहाँ न प्रेमी दोऊ।
उघरहि रस जु चकोरहि, इक-टक चाहै चंदा सोऊ ॥
ह्वै चकोर वह चहैं चकोरहि, यह चंदा ह्वै चंदहि।
छिन-छिन में तन पलटैं दोऊ, अरुझि प्रेम के फंदहि ॥
याकौ वामें, वाकौ यामें, पलटि पलटि हित पावै।
छिन-छिन प्रेम-पयोनिधि संगम, अधिक अधिक अधिकावै ॥
ज्यों द्वै दरपन बीच दीप की, अगनित आभा दरसै।
द्विगुन, चौगुनौं,, फेरि अठ गुनौं, त्यौं अनंत हित सरसै ॥
अनु प्रमान अनुमान कह्यौ, यह प्रीति बात कछु औरै।
ताकी थाह कौन अवगाहै, दूरहि तें मति बौरे ॥
'भोरीहित' जब द्रवहिं व्यास-सुत गूँगे लौं गुर खाऊँ।
रोम रोम भरि रहै मिठाई ना कछु कहौं, कहाऊँ ॥
(श्री हित भोरी की वाणी)

एक रंग, रुचि, एक वय, एकै भाँति सनेह ।
एकै शील, सुभाव मृदु, रस के हित दो देह ।।
(रति-मंजरी)

इन दोनों की प्रीति को अपने लता-गुल्म में प्रतिबिंबित करने का वृन्दावन का स्वभाव है । रसिक संतों ने वर्णन किया है कि वृन्दावन में कहीं तो मर्कत-मणि (श्याम मनि) के तमालों से कंचन की कोमल बेलि लिपटी हुई है और कहीं कंचन के तमालों से मर्कत-मणि की बेलि उलझ रही है । कहीं गौर श्याम के आश्रित हैं और कहीं श्याम गौर के । विलक्षणता यह है कि दोनों स्थानों में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति समान है ।

भोक्ता और भोग्य में समान रस-स्थिति का यह सिद्धान्त भरत की रस-परिपाटी के अनुकूल एवं गौड़ीय भक्ति-रस-सिद्धान्त के प्रतिकूल है । गौड़ीय-सिद्धान्त में राधा-माधव की पारस्परिक प्रीति में तारतम्य स्वीकार किया गया है । श्री राधा का प्रेम श्री कृष्ण के प्रेम की अपेक्षा कहीं अधिक गुरु एवं गंभीर तथा उससे विलक्षण बतलाया गया है । मादन महाभाव का प्रकाश केवल श्री राधा में होता है, श्री कृष्ण में नहीं । प्रेमाधिक्य के कारण ही श्रीराधा वृन्दावनेश्वरी हैं एवं श्रीकृष्ण सब प्रकार पूर्ण एवं स्वतन्त्र होते हुए भी उनके सर्वथा अधीन हैं । राधाबल्लभीय सिद्धान्त में श्री राधा-कृष्ण एक ही रस की दो मूर्तियाँ हैं, अतः उनमें किसी तारतम्य को अवकाश नहीं है । यहाँ भी श्री कृष्ण सर्वथा श्री राधा के अधीन हैं । नाभा जी ने अपने छप्पय

में श्री हित प्रभु का परिचय उनको 'राधाचरणप्रधान' कह कर दिया है और यह बात समस्त राधाकृष्ण-उपासक आचार्यों में केवल श्रीहिताचार्य के सम्बन्ध में ही कही है। हित-सम्प्रदाय में श्री राधा को अपूर्व प्रधानता प्राप्त है, किन्तु वह किसी कारण-विशेष को लेकर नहीं है, वह सहज है। श्री राधा भोग्य-सरूपा हैं, वे रस-दात्री हैं, और रसभोक्ता श्री श्यामसुन्दर स्वा-भाविक रूप से उनके अधीन हैं। सेवक जी ने श्री राधा को वृंदावन की नित्य-उदित सहज चन्द्रिका कहा है—'सहजविपिन-वर उदित चाँदिनी'। राधा-माधव में सब प्रकार से समान रस की स्थिति होते हुए भी श्री राधा की प्रधानता प्रेम के क्षेत्र में प्रेम-पात्र की स्वाभाविक प्रधानता को लेकर है। श्री बल्लभ-रसिक ने बतलाया है कि यद्यपि दोनों की प्रीति सब लोग समान कहते हैं, किन्तु प्रिया महबूब (प्रेम-पात्र) हैं एवं प्रिय-तम आशिक (प्रेमी) हैं।

जद्यपि दोउन की लगन, सब मिलि कहैं समान।
पै प्यारी महबूब है, प्यारौ आशिक जान॥
(बारह बाट अठारह पैड़े)

महबूब होने के नाते वृन्दावन-रस में श्री राधाचरणों की सहज प्रधानता है।

विशुद्ध प्रेम का स्वरूप

राधाबल्लभीय सम्प्रदाय में जिस विशुद्ध प्रेम की उपासना की गई है वह अत्यन्त उज्ज्वल एवं रंगीन तत्व है। रसिकों ने इसकी प्रकृति और प्रताप का बड़ा विशद वर्णन किया है, किन्तु कहीं भी इसका पृथकरण करके इसके विविध अंगों का वर्गीकरण करने की चेष्टा नहीं की है। इन लोगों का मत है कि प्रेम वस्तुत: एक अंगविहीन 'कौतुक'—अनिर्वचनीय पदार्थ है। यह जहाँ-कहीं भी उदित होता है, इसमें नाना रंग की तरंगें उठती रहती हैं और यह अंग-विहीन होते हुए भी सब अंगों का सुख देता रहता है।

पल पल औरै और विधि, उपजत नाना रंग।
सब अंगनि कौ देत सुख, यह कौतुक बिनु अंग।।

ध्रुवदास जी ने बतलाया है कि शुद्ध प्रेम का स्वरूप उज्ज्वलता, निर्मलता सरसता, स्निग्धता एवं मृदुता की सीमाओं के मिलने से बनता है। इसमें माधुर्य के मादक अंग नित्य प्रकाशित रहते हैं एवं दुर्लभता की तरंगें उठती रहती हैं। यह नित्य-नूतन, एक-रस एवं नित्य-नई रुचि उत्पन्न करनेवाला होता है। यह अत्यन्त अनुपम, सहज, स्वच्छन्द एवं सोलहों कलाओं से सदैव पूर्ण रहता है। संसार में प्रेम की अनेक छटाएँ देखी जाती हैं और जिसकी जैसी रुचि होती है वह इसको वैसा ही समझ लेता है। वास्तव में, अद्भुत और सरस प्रेम वह है जिसके उदय के साथ मन को सम्पूर्ण एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। जिसके दु:ख

(वियोग-दुःख) की समता संसार का कोई सुख नहीं कर सकता, उसके सुख की गति का वर्णन कौन कर सकता है ? इस बात को समझ कर प्रेम के ऊपर चौदहों भुवन के राज-सुख को न्यौछावर किया जा सकता है !

जहाँ लगि उज्ज्वल निर्मलताई, सरस सनिग्ध सहज मृदुलाई ।
मादक मधुर माधुरी अंगा, दुर्लभता के उठत तरंगा ।।
नूतन नित्य छिनहिं छिन माहीं, इक रस रहत घटत रुचि नाहीं ।
अतिहि अनूप सहज स्वच्छन्दा, पूरण कला प्रेमवर चन्दा ।।

× × × ×

प्रेम की छटा बहुत विधि आही, समुझि लई जिनि जैसी चाही ।
अद्भुत सरस प्रेम निज सोई, चित्त चलनि की जिहिं गति खोई ।।

× × × ×

जिहि दुख सम नहिं और सुख, सुख की गति कहै कौंन ।
वारि डारि ध्रुव प्रेम पर, राज चतुर्दश भौंन ।।

(नेह-मंजरी)

रसिक संतों ने नित्य-विहारी प्रेम की दो स्वभावगत वृत्तियों का वर्णन किया है जो उसके प्रकाश के साथ प्रकाशित होती हैं एवं जिनके प्रकाशित होने पर प्रेम के अनंत गुण प्रकाशित हो जाते हैं। प्रेम के विशुद्ध रूप को प्रकाशित करने-वाली उसकी प्रथम वृत्ति तत्सुख-सुखित्व है । प्रियतम के सुख में सुखानुभव करना, शुद्ध प्रेम का सहज स्वभाव है। प्रेम में जहाँ तक अपने सुख की कामना है, वहाँ तक वह काम-वासनासे अधिक ऊँचा नहीं उठता । अपने सुख की मरीचिका नष्ट हो जाने पर ही प्रेम-देव के दर्शन होते हैं ।

नित्य-विहार में इस वृत्ति का चरम उत्कर्ष प्रत्यक्ष हुआ है। यहाँ श्री राधा-माधव, सहचरिगण एवं वृन्दावन सहज ढंग से एक-दूसरे के सुख से सुखी होने की चेष्टा में रत हैं। हित-चतुरासी के प्रथम पद में श्री राधा ने इस वृत्ति को आगे रख कर अपनी एवं अपने प्रियतम की प्रीति का वर्णन किया है और अपनी एवं श्यामसुन्दर की सम्पूर्ण चेष्टाओं, दृष्टि एवं प्राणों का नियामक इस वृत्ति को ही बतलाया है। वे कहती हैं—'प्रियतम जो कुछ भी करते हैं, वह मुझे अच्छा लगता है एवं जो मुझको अच्छा लगता है, प्रियतम वही करते हैं।' पूर्ण रूप से तत्सुख-मयी क्रिया का यही रूप है। तत्सुखमयी दृष्टि की चरम स्थिति यह है–'मुझको तो प्रियतम के नेत्रों में रहना अच्छा लगता है और प्रियतम मेरे नैनों के तारे बन जाना चाहते हैं।' श्री राधा की दृष्टि का सुख सदैव प्रियतम को देखने में है और प्रियतम का सुख सदैव प्रिया के दर्शन में है। अतः एक-दूसरे के सुख के लिए यह दोनों एक दूसरे की दृष्टि में समा जाना चाहते हैं। तत्सुख-मय प्राणों का रूप यह है–'प्रियतम मेरे तन, मन, और प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं, और प्यारे ने अपने करोड़ों प्राण मेरे ऊपर न्यौछावर कर दिये हैं।'

प्रेम के इन दो स्वरूपों को अपने-अपने प्रेम का एक ही रूप बतलाते देख कर हितरूपा सखी कहती हैं—'आप दोनों श्याम और गौर हंस-हंसिनी हैं। जिस प्रकार जल और तरंग को न्यारा नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार आपके दो

स्वरूपों में प्रगट होने वाली एकही शुद्ध-तत्सुख-मयी प्रीति को अलग करके नहीं समझाया जा सकता।'

[हि० च० ५७]

सहचरि-गण तो शुद्ध रति की साक्षात् मूर्ति ही हैं। श्री राधा-माधव परस्पर सुख देने की चेष्टा में संलग्न हैं और सहचरि-गण इन दोनों को परस्पर सुख पाते देखकर सुखी हैं। उज्ज्वल-प्रेम के यह दो घन एक दूसरे पर प्यार की वर्षा करते रहैं, तत्सुख-मयी सखियों के प्राणों के सिंचन के लिये यह पर्याप्त है। हित-प्रभु कहते हैं-'लाल और ललना परस्पर मिलित होकर मेरे हृदय को शीतल करते हैं'– 'हितहरिवंश लाल ललना मिलि हियौ सिरावत मोर।' 'राधामाधव के हित का चिंतन करनेवाली उनकी दासियाँ इस शुद्ध नेत्र-सुख को देखकर फूली नहीं समातीं और उसके ऊपर अपने प्राणों को न्यौछावर करती रहती हैं।'

हित चिंतक निज चेरिनु उर आनँद न समात।
निरखि निपट नैननि सुख तृण तोरति बलि जात॥

(हि०च० ५७)

ध्रुवदास जी इसीलिये कहते हैं–'इस प्रेम की सूक्ष्म गति है; खाता है कोई और, तृप्त होता है कोई और*।' श्री वृन्दावन की भी यही स्थिति है। राधा-माधव की रुचि लेकर रुचिपूर्वक उनकी सेवा करने में श्री वृन्दावन ने अपनी सम्पूर्ण सार्थकता मान ली है।

प्रेम जब सम्पूर्ण रूप से तत्सुख-मय बन जाता है, तब उसमें उसके दोनों पक्ष, संयोग और वियोग, एक ही काल में प्रकाशित

---

* सिद्धान्त-विचार

होने लगते हैं। जहाँ दोनों ओर से प्रिय का सुख ही प्राणों का सर्वस्व होता है, वहाँ स्थूल विरह को अवकाश नहीं रहता। स्थूल प्रेम में ही स्थूल विरह होता है। प्रेम को स्थूल बनाने वाली सकामता है, अपना सुख है। प्रेम पर अपने सुख की छाया पड़ते ही वह स्थूल बनने लगता है और उसमें देश और काल की सीमाओं के प्रविष्ट होने का मार्ग बन जाता है। अपना सुख एक अत्यन्त सीमित भाव है और उसके उदित होते ही प्रेम में बाधायें खड़ी हो जाती हैं। ये बाधायें ही स्थूल विरह की सृष्टि करती हैं।

श्रीमद् भागवत में ब्रज-देवियों एवं श्रीकृष्ण के स्थूल विरह का वर्णन आता है। ध्रुवदास जी कहते हैं—'गोपियों के समान भक्त नहीं हैं, उद्धव और ब्रह्मा ने उनकी चरण-रज की आकांक्षा की है, किन्तु उनके मन में कुछ सकामता आजाने से उनके और श्री कृष्ण के बीच में अन्तर पड़ गया। सम्पूर्ण दुःखों का मूल सकामता है और सुखों का मूल निष्कामता है। पूर्ण तत्सुख-मय रस में स्थूल विरह आदि कुछ नही होता'।

गोपिनु के सम भक्त न आही, उद्धव विधि तिनकी रज चाही।
तिन मन कछु सकामता आई, तातें बिच अन्तर परचौ माई ॥
दुख कौ मूल सकामता, सुख कौ मूल निहकाम।
विरह वियोग न तहाँ कछु, रसमय ध्रुव सुखधाम ॥

(आनंद-लता)

गोपीजन सर्वस्व त्यागकर भगवान् के पास आईं थीं। भगवान ने लोक एवं वेद का भय दिखला कर उनकी प्रीति को टटोला, किन्तु गोपीजनों की भाव-सरिता एक हिलोर में इन

बाधाओं को पार कर गई। भगवान ने हर्षित होकर रास आरंभ कर दिया। भगवत्-प्रेम की वर्षा होने लगी। इस अद्भुत कृपा को देखकर गोपीजनों का ध्यान अपनपे की ओर चला गया और वे अपने को 'संसार की सब स्त्रियों से अधिक मानवती मानने लगी'—

'आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां, मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि।'

अपनपे के उभर आने के कारण उनके और भगवान के बीच में एक व्यवधान खड़ा होगया और भगवान उनकी दृष्टि से ओझल हो गये।

गोपीजन एवं श्रीकृष्ण के प्रेम का रूप लोक में अनुभूत प्रेम-स्वरूप से मिलता जुलता है। इस रूप में सम्पूर्णतः तत्सुख-मय बनने की क्षमता नहीं है। इस प्रेमरस के आलम्बन स्वयं भगवान एवं उनकी आल्हादिनी शक्ति-स्वरूपा गोपीगण हैं, अतएव यह इतना आकर्षक बन गया है। शुद्ध तत्सुख-मय प्रेम का स्वरूप इससे विलक्षण होता है। ध्रुवदास जी बतलाते हैं 'नित्य-विहारी श्रीराधा-माधव का प्रेम और ही प्रकार का है, उसकी रीति-भाँति अद्भुत है और वह मुझसे कही नहीं जाती। शुद्ध तत्सुख-मय नेह की रीति यह है कि जिसका मन जिससे मान जाता है वह उसके हाथों बिक जाता है, और इसी नाते उससे सम्बन्धित सब बातें उसको प्यारी लगती हैं। उसको वही बात रुचती है जो प्रियतम को भाती है। जिन व्रजदेवियों के प्रेम की धुजा अत्यन्त ऊँची बँधी है और जिनकी चरण-रज की कामना ब्रह्मादिक भी करते है, उन गोपीजनों का मन भी उस नेह की रीति को स्पर्श नहीं करता जिसकी

छवि का दर्शन ललितादिक सखी-गण करती हैं। इस रसरीति में दोनों परस्पर प्रियतम हैं और दोनों परस्पर अति-आसक्त हैं। इन दोनों का एक स्वभाव है और दोनों ने परस्पर अपने मनों को हार रखा है। महा-मधुर प्रेम-रस में नेह की एक बेलि बढ़ी हुई है और यह दोनों नवल–नवेली उसका अवलम्ब लेकर स्थित हैं'।

तिनकौ प्रेम और ही भाँति, अद्भुत रीति कही नहिं जाति।

[रहस्य–मंजरी]

जाकौ है जासौं मन मान्यौ, सो है ताके हाथ बिकान्यौ।।
अरु ताके अँग सँग की बातें, प्यारी लगत सबै तिहि नाते।
रुचै सोइ जो ताकौं भावै, एसी नेह की रीति कहावै ।।

ब्रज देविन के प्रेम की, बँधी धुजा अति दूरि।
ब्रह्मादिक बांछित रहैं, तिनके पद की धूरि ।।

तिनहूँ कौ मन तहां न परसै, ललितादिक जिहिं ठाँ छवि दरसै

[प्रेमलता]

अति आसक्त परस्पर प्यारे,एक स्वभाव दुहुनि मन हारे।
रस में बढ़ी नेह की बेली, तिहि अवलम्बे नवल-नवेली ।।

प्रेम की यह रीति विलक्षण है। गोपीजनों की नेह-रीति से इसकी भिन्नता समझे विना यह समझ में नहीं आती। मन जब गोपी-प्रेम से निकल जाता है, तभी वह रस-रीति में प्रवेश करता है। जिनके हृदय में ब्रज-देवियों के प्रेम ने आड़े होकर मार्ग रोक लिया है, वे इस रस का कथन-श्रवण करके व्यर्थ श्रमित होते हैं और अन्तिम धाम तक नहीं पहुँचते।

व्रज देविन कौ प्रेम ह्वै गयौ आड़े जिन उर ।
श्रोता वक्ता जके–थके पहुँचे न धाम धुर ॥
[भक्ति प्रार्थनाबेली–चाचा वृन्दावनदासजी]

इस प्रेम की दूसरी स्वभावगत वृत्ति प्रेम-पात्र के प्रति सम्पूर्ण अधीनता किंवा परवशता के रूप में प्रगट होती है । शुद्ध तत्सुखमयी वृत्ति के द्वारा इस प्रेम की उत्कृष्टता सूचित होती है । आधीनता के द्वारा इसकी सहज-रूपता प्रकाशित होती है । यह सभी के अनुभव की बात है कि प्रेम के उदय के साथ ही चित्त किसी के अधीन बन जाता है । प्रेम की मात्रा जितनी अधिक बढ़ती जाती है, स्ववशता भी उसी अनु-पात से कम होती जाती है । सम्पूर्ण प्रेम में सम्पूर्ण परवशता अविचल भाव से स्थित रहती है । प्रेम का यह स्वभाव है कि वह सदैव अधीनता की ओर धावित होता है । ध्रुवदास जी बतलाते हैं–'जल और प्रेम सदैव उस तरफ ही जाते हैं जिधर नीचा होता है'

सहजहि जल अरु प्रेम कौ एक सुभावहि जान ।
चलत अधिक तिहि ठाँव कौं पावत जहाँ निवान ॥
(भजनशत)

अधीन बनकर ही प्रेम अपनी उपलब्धि करता है, वह प्रेम बनता है । प्रेमी और प्रेमपात्र दोनों ही परस्पर प्रेमी हैं अतः परवशता दोनों में ही रहती है । प्रेमपात्र में इसका प्रकाश विरल एवं संयमित होता है; प्रेमी में वह नित्य एवं उन्मुक्त रहता है । वृन्दावन-रस में श्यामसुन्दर प्रेमी हैं, अतएव वे अधीनता एवं दीनता की मूर्ति हैं । श्री हितप्रभु कहते हैं कि 'प्रेम के रंग में रँगे हुए श्यामसुन्दर ही प्रीति की रीति को जानते

हैं और इसीलिये सम्पूर्ण लोकों के चूड़ामणि होते हुए भी अपने को दीन मानते हैं। जब यमुना-पुलिन के निकुंज-भवन में श्रीराधा मान ठानती हैं तो कोटि नवीन कामिनि-कुल के निकट रहते भी वे धैर्य धारण नहीं कर पाते। मधुकर की तरह का चपल नेह नश्वर होता है और अनेकों के साथ घटित होता रहता है। नेह के इस मर्यादित रूप को छोड़ कर जो श्याम-सुन्दर को पहिचानता है, वही चतुर है।'

प्रीति की रीति रँगीलौई जानैं।
जद्यपि सकल लोक चूड़ामणि, दीन अपनपौ मानैं ॥
यमुना पुलिन निकुंज भवन में, मान मानिनी ठानैं।
निकट नवीन कोटि कामिनि कुल, धीरज मनहिं न आनैं।
नश्वर नेह चपल मधुकर ज्यौं आन आन सौं बानैं ॥
हित हरिवंश चतुर सोइ लालहिं छाँड़ि मैंड़ पहिंचानैं ॥
(हि०च० ४१)

रसास्वाद के लिये मधुकर-वृत्ति आदर्श मानी जाती है। श्रीमद् भागवत में नंदनंदन की मधुकर-केलि का ही वर्णन है। वहाँ गोपीजनों को मधुकर के दर्शन से घनश्याम का स्मरण हो आता है। श्री हितप्रभु ने अपने एक पद में शारदीय रास का वर्णन किया है। पद के अन्त में आप कहते हैं कि इस मधुकर-केलि को देखकर रसिकों को सुख मिलता है—'हित हरिवंश रसिक सचु पावत देखत मधुकर केली।' [हि०च० ६३]

निस्सन्देह, मधुकर-वृत्ति रसिकता का प्रतीक है और भगवान ने भी इसका आश्रय लिया है, किन्तु सम्पूर्ण रसास्वाद के लिये एक यही वृत्ति पर्याप्त नहीं होती। मधुकर की

चपलता प्रसिद्ध है। वह नूतनता की खोज में भिन्न-भिन्न पुष्पों का ग्रहण करता रहता है और किसी एक के सर्वथा अधीन बनकर प्रीति का निर्वाह नहीं करता। उसको यह मालूम नहीं रहता कि प्रीति का निर्वाह करने से वह नित्य-नूतन आस्वादित होने लगती है और फिर विभिन्न स्थानों में नूतनता की खोज में भटकना नहीं पड़ता। मधुकर-वृत्ति की यही एक 'मैंड़'-मर्यादा-है जिसको छोड़ कर नित्य विहारी-श्याम-सुन्दर को पहिचानना चाहिये। मधुकर का प्रेम नश्वर होता है; उसमें प्रेम के अखण्ड-स्वरूप के दर्शन नहीं होते। नित्य-विहारी श्यामसुन्दर मधुकर होते हुए भी अखण्ड प्रीति के पुजारी हैं। एकमात्र श्री राधा के प्रति सर्वस्व-हारा बनकर वे मधुकर- वृत्ति से अपने प्रेम का आस्वाद करते हैं। 'श्री राधा के भ्रकुटि-नर्तन, मृदु वदन-कमल, सरस हास एवं मधुबोलनि ने इस अत्यन्त आसक्त 'अलि लम्पट' को विना मोल के वश कर लिया है। उनके हाथों यह 'अलि लम्पट' बिना मोल के बिक गया है।'

निर्तनि भ्रुकुटि, वदन अंबुज मृदु, सरस हास, मधु बोलनि ।
अति आसक्त लाल अलि लंपट वश कीने बिनु मोलनि ।।
(हि० च० ३४)

अन्यत्र, श्री राधा के नेत्रों से बिंध कर मोहन-मृग को गति भूल गई है—'बिधयौ मोहन मृग सकत चल न री।'
(हि० च० ८)

अनन्य-गति अधीन होता है और अधीन अनन्य-गति होता है। अधोनता मीन की प्रसिद्ध है। मीन का जीवन जल

के अधीन होता है; जल के विना उसको कोई गति नहीं होती। श्री राधा अद्भुत पुष्प हैं और श्यामसुन्दर उसके मधुकर हैं। श्री राधा अद्भुत रस-समुद्र हैं और श्याम–सुन्दर उसके मीन हैं। मधुकर पुष्प से आसक्त तो पूर्ण रूप से होता है, किन्तु पुष्प उसका जीवन नहीं होता, उधर मीन का जीवन तो जल होता है, मगर वह उससे आसक्त नहीं होता। वृंदावन-रस में मधुकर एवं मीन की वृत्तियों को एकत्र मिला कर रसास्वाद किया जाता है। ध्रुवदास जी कहते हैं–'प्यारी प्रिया प्रेम का सुन्दर, सुवासित और रंगीन पुष्प हैं। हरि-मधुकर सदैव इसके पास रहे आते हैं; क्योंकि यह उनका जीवन भी है और वे इससे आसक्त भी हैं। श्री श्यामसुन्दर प्रेम की सहज रीति में प्रवीण हैं और अपने अंग–अंग हार कर दीन बने हुए हैं। महाप्रेम में रँग कर उन्होंने एक-रस दीनता का आश्रय ले रखा है और अपने-ऐसे प्रियतम को देखकर श्री राधा कभी अघाती नहीं हैं।'

प्रेम फूल प्यारी प्रिया, सुरँग सरूप सुबास।
इकजीवन, आसक्त पुनि, मधुप लाल रहैं पास ॥
प्रेम रीति निज आहि जो, तामें लाल प्रवीण।
अंग अंग सब हारि कैं, रहे आपु ह्वै दीन ॥
लिये दीनता एक रस, महाँ प्रेम रँग रात।
प्यारी एसे पीय कौं, देखत हूँ न अघात ॥

(श्री ध्रुवदास–प्रेमावली)

प्रेम के इस स्वभाव के कारण ही भक्ति-मार्ग में अनन्यता

के सिद्धान्त का इतना गौरव है । एक श्याम सुन्दर ही नहीं, श्री राधा, सहचरीगण एवं वृन्दावन सम्पूर्णतया एक दूसरे के अधीन एवं अनन्य-गति हैं । इनकी अधीनता प्रेम की अधीनता है और प्रेम की अधीनता ही उसका स्वामित्व, एवं उसकी पराजय ही विजय होती है। प्रेम-रस के रसिक ही नेहखेत की इस रीति को जानते हैं कि यहाँ हारने पर ही जीत मिलती है ।

जिनि कै है यह प्रेम रस, सोई जानत रीति ।
जो हारै तौ पाइये, नेह-खेत में जीति ।।

[श्री ध्रुवदास—प्रेमावली]

प्रियतम के सर्वथा अधीन रह कर उसके सुख को अपना सुख समझने वाला प्रेम परमोज्ज्वल होता है । प्रेम में इन दोनों वृत्तियों का प्रकाश होते ही सौन्दर्य की अनंत रेखायें फूट निकलती हैं और इन सौन्दर्य-रेखाओं के द्वारा नित्य बिहार की ललित लीलाओं का निर्माण होता है ।

प्रेम और रूप

प्रेम के समान रूप–सौन्दर्य–भी अनिर्देश्य तत्व है। भारतीय-साहित्य में सौन्दर्य संबंधी अधिक ऊहापोह नहीं मिलती। इसका कारण शायद यह हो कि यहाँ सौन्दर्य 'रस' का अंग माना जाता है और भारतीय विचारकों ने 'रस' के संबंध में विस्तृत विचार करने के बाद, सौन्दर्य पर विचार करना अनावश्यक समझा है। सौन्दर्य की यह प्राचीन परिभाषा प्रसिद्ध है, 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' क्षण-क्षण में जो नवत्व धारण करता है वही रमणीय है। इसके अतिरिक्त श्री रूप गोस्वामी ने अपने 'भक्ति रसामृत सिन्धु' (दक्षिण विभाग प्रथम लहरी) में कहा है—'भवेत्सौन्दर्यमङ्गानां सन्निवेशो यथोचितम्' अर्थात् अंगों का यथोचित सन्निवेश ही सौन्दर्य है।

इन दोनों उक्तियों में सौन्दर्य के केवल एक-एक अंग का ही परिचय मिलता है, अतः संपूर्ण सौन्दर्य-तत्व को समझने में यह अधिक सहायक नहीं होती।

पाश्चात्य मनीषियों ने सौन्दर्य पर विस्तृत विचार किया है, किन्तु वे भी सौन्दर्य की पूरी परिभाषा देने में असमर्थ रहे हैं। वहाँ जिन विद्वानों ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सौन्दर्य पर विचार किया है, उनमें से कुछ उसको वस्तुगत मानते हैं और कुछ ने सौन्दर्य-बोध को अंतःकरण का एक धर्म माना है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण वाले विद्वानों ने सौन्दर्य को न तो दृश्य-

गत माना है और न द्रष्टा के अन्तःकरण-गत। वे सौन्दर्य को कोई अतीन्द्रिय वस्तु मानते हैं जो सुन्दर कहे जाने वाले पदार्थों में प्रतिभासित होती है। इस वस्तु के कारण ही भौतिक दृश्य सुन्दर दिखाई देते हैं। यह अतीन्द्रिय वस्तु क्या है? इसका उत्तर हर विचारक भिन्न देता है।

आध्यात्मिक विचारकों में से अनेक भगवान् और सौन्दर्य को अभिन्न मानते हैं और सुन्दर वस्तु-समूह में भगवान के सौन्दर्य को ही प्रतिभासित बतलाते हैं। किन्तु सौन्दर्य और भगवान को एक बतला देने से सौन्दर्य-संबंधी जिज्ञासा पूर्णतया शांत नहीं होती। प्रश्न यह उठता है कि यदि भगवान ही संपूर्ण सौन्दर्य के अधिष्ठान हैं और सुन्दर दिखलाई देने वाली वस्तुएँ उन ही की सौन्दर्य-रश्मि से आलोकित हैं, तो फिर सौन्दर्य की प्रतीति सब लोगों को समान क्यों नहीं होती? सौन्दर्य के दर्शन से जहाँ एक व्यक्ति आनंद-विभोर बन जाता है, वहाँ दूसरे के चित्त में मामूली-सी विक्रिया होती है। इससे सिद्ध होता है कि सौन्दर्य की प्रतीति बहुत अंशों में द्रष्टा के अंतःकरण पर आधारित है। वैज्ञानिकों की भाँति सौन्दर्य द्रष्टा के अंतकरण का धर्म-विशेष तो नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह अनेक अंशों में दृश्य के गठन-प्रकार पर भी अवलंबित रहता है। सुन्दर वस्तु का गठन विशेष प्रकार से होता है। जिन वस्तुओं को हम सुन्दर कहते हैं उनमें एकत्व, सामंजस्य, अनुपात, शुद्धता, आरोह-अवरोह (रिथ्म) सुचारु-विन्यास आदि कुछ बाह्य गुण दिखाई पड़ते हैं। अतः सौन्दर्य की

परिभाषा ऐसी होनी चाहिये जिसमें द्रष्टा, दृश्य और 'अतीन्द्रिय-वस्तु' तीनों को उचित स्थान मिल सके।

राधावल्लभीय विचारकों ने ऐसी ही परिभाषा देने की चेष्टा की है। इनका सौन्दर्य-संबन्धी एक विशेष दृष्टिकोण है जो नवीन होने के साथ स्वाभाविक भी है। हम देखते हैं कि सौन्दर्य का बोध सरस चित्त में ही होता है; नीरस व्यक्ति उसका यथोचित ग्रहण नहीं कर पाता। सरसता के तारतम्य के साथ सौन्दर्य-बोध का तारतम्य देखा जाता है। प्रेमवान चित्त ही सरस होता है और प्रेमी व्यक्ति ही सौन्दर्य का सम्यक् आस्वाद कर सकता है। इससे प्रतीत होता है कि प्रेम और सौन्दर्य में कोई सहज संबंध है। प्रेम के बिना जिस प्रकार सौन्दर्य की सम्यक् प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार सौन्दर्य के बिना प्रेम सम्यक् रूप से आस्वादनीय नहीं बनता।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रेम और सौन्दर्य का ग्रहण एक काम-वृत्ति के द्वारा ही होता है। प्रेम को तो सभी मनोवैज्ञानिक काम-वृत्ति का परिपाक मानते हैं। सौन्दर्य को इस वृत्ति से संबधित नहीं किया गया है किन्तु मनुष्य रचित सौंदर्य—जैसे कला कृतियों, संगीत और काव्य के सौन्दर्य—को कई आधुनिक मनोवैज्ञानिक काम वृत्ति का ही विकास मानते हैं। अब रह जाता है प्राकृतिक सौन्दर्य और नैतिक गुणों का सौन्दर्य। इनका ग्रहण भी सहृदय व्यक्ति ही करता है। अतः यह दोनों भी मनुष्य की सहज प्रेम वृत्ति से ही संबंधित मानने चाहिये।

प्रेम और सौन्दर्य के इस नित्य एवं सहज साहचर्य को देखकर राधावल्लभीय विचारकों ने निर्णय किया है कि यह दोनों किसी एक ही तत्व की दो अभिव्यक्तियाँ हैं और वह तत्व परात्पर प्रेम किंवा 'हित' है। परात्पर प्रेम ही प्रेम और सौन्दर्य के दो रूपों में नित्य व्यक्त है। एक ही तत्व के दो रूप होने के कारण यह दोनों स्वभावतः परस्पर-संबंधित हैं। इन दोनों में भोक्ता-भोग्य का संबंध माना गया है। प्रेम भोक्ता है और सौन्दर्य भोग्य।

प्रेम और सौन्दर्य का प्रथम परिचय हमको लोक में होता है। यहाँ प्रत्यक्ष रूप से सौन्दर्य भोग्य होता है और मनुष्य की प्रेम-वृत्ति उसकी भोक्ता। यह दोनों सहज-रूप से एक दूसरे की ओर आकृष्ट भी रहते हैं, किन्तु देश-काल-पात्र की स्थूल मर्यादायें यहाँ इस बात को स्पष्ट नहीं होने देतीं कि ये दोनों एक ही प्रेम-तत्व के दो रूप हैं और स्वभावतः एक-दूसरे से नित्य-संबंधित हैं।

कलाकार, कवि और गायक अपनी कृतियों में, प्रतिभा के बल से, स्थूलता का अतिक्रमण करके प्रेम और सौन्दर्य को एक सूत्र में ग्रथित करने की चेष्टा करते हैं। ताजमहल के कलाकार ने शाहजहाँ के प्रेम और मुमताज बेगम के सौन्दर्य को मिलाकर इस अनुपम कला कृति की रचना की है, इसीलिये, इसके दर्शन से एक अखंड प्रेम-सौन्दर्य गरिमा की अनुभूति हमको होती है। कवि और गायक की भी वही कृतियाँ उत्तम मानी जाती हैं जिनमें प्रेम के साथ सौन्दर्य की और सौन्दर्य के साथ प्रेम की व्यंजना होती है।

प्रेम और सौन्दर्य की तीसरी स्थिति परात्पर प्रेम की उस अनाद्यनंत आनंदमयी लीला में है जिसको 'नित्य-विहार' कहा जाता है। इस स्थिति में पहुँच कर प्रेम और सौन्दर्य एक-दूसरे के साथ 'एक रस' बन जाते हैं। 'एक रस' शब्द का कोष-लब्ध अर्थ है—एक भाव, एक रुचि, एक स्वाद। इसका मतलब यह हुआ कि नित्य-विहार में प्रेम और सौन्दर्य एक ही भाव से आवेशित, एक ही रुचि से प्रेरित और एक ही स्वाद से पूर्ण रहते हैं। श्री ध्रुवदास ने कहा है कि प्रेम और सौन्दर्य की एक रस स्थिति वृन्दावन की सघन कुंजों को छोड़कर तीनों लोकों में कहीं नहीं है—

ढूंढ़ि फिरै त्रैलोक में बसत कहूँ ध्रुव नाहिं।
प्रेम रूप दोउ एक रस बसत निकुंजनि माहिं ॥

(प्रेमावली)

वास्तव में हम, लोक में और लोक-संबंधित काव्य में, प्रेम और सौन्दर्य की एक-रस स्थिति की कल्पना नहीं कर सकते। यहाँ इनका एक साथ व्यंजित हो जाना ही, बड़ी उपलब्धि है। प्रेम-स्वरूप वृन्दावन की सघन कुंजों में प्रेम की यह दो सहज अभिव्यक्तियाँ—प्रेम और सौन्दर्य—प्रेम के ही मधुर बंधन में बँधती हैं और परस्पर एक भाव, एक स्वाद एक रुचि रहकर प्रेम-सौन्दर्य रस का पान करती हैं। सौन्दर्य का फूल—अत्यन्त उन्नत और उज्ज्वल रूप श्री राधा हैं और प्रेम का फूल श्यामसुन्दर हैं। यह दोनों अनुराग के बाग में खिल रहे हैं और दोनों में राग (प्रेम) का रुचिकारी रंग बढ़ा हुआ है—

रूप कौ फूल रँगीली बिहारिनि, प्रेम कौ फूल रसीलौ बिहारी।
फूलि रहे अनुराग के बाग में, राग कौ रंग बढ़्यौ रुचिकारी ।।
(श्री ध्रुवदास-आनन्दलता)

भोक्ता-भोग्य के अपने पृथक् रूपों में स्थित रहते हुए प्रेम और सौन्दर्य, यहाँ, एक दूसरे में इस प्रकार ओत-प्रोत रहते हैं कि हम इन दोनों को प्रेम भी कह सकते हैं और सौन्दर्य भी। ध्रुवदास जी दोनों रूपों को, पहिले तो, यह कह कर निर्दिष्ट कर देते हैं कि भोक्ता-रूप घनश्याम प्रेम के तमाल हैं और भोग्य-रूपा श्रीराधा रूप की बेलि हैं, और फिर दोनों को, एक स्थान में प्रेम-शय्या पर परस्पर उलझी हुई रूप की दो बेलियाँ कहते हैं* और दूसरे स्थान में उनको सहज प्रेम की दो सीमायें बतलाते हैं–'सहज प्रेम को सींव दोउ नव किशोरवर जोर' ।

वृन्दावन-रस के रसिक सौन्दर्य को रूप कहते हैं । रूप से इनका तात्पर्य आकृतिवान सौन्दर्य से है। प्रेम और सौन्दर्य आकृति-हीन भी होते हैं, जैसे प्रेम-वासना और स्वर-सौन्दर्य, किंतु आकृति-हीन प्रेम-वासना आकृतिवान प्रिय-पदार्थ के भोग से ही निबिड़ बनती है और सुंदर रमणी के कंठ से निकली हुई स्वर-लहरी ही स्वर-सौंदर्य की निबिड़ अनुभूति कराती है। अतः प्रेम और सौंदर्य की निबिड़ अनुभूतियाँ आकृति-सापेक्ष होती हैं। इसके विरुद्ध विज्ञानानंद आकृति हीन होता है, क्योंकि उसमें ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान का लय हो

---

*लपटि रहे दोऊ लाडिले अलबेली लपटानि ।
रूप बेलि विवि अरुझि परीं प्रेम सेज पर आनि ।।

जाता है। प्रेमानंद किंवा प्रेम-सौन्दर्यानंद में भोक्ता-भोग्य सदैव प्रकाशित रहकर उसको आस्वादनीय बनाये रखते हैं। विज्ञानानंद कभी आस्वाद्य किंवा रस नहीं बनता, इसलिये उसमें आकृति का निषेध किया जा सकता है। आस्वाद के लिये भोक्ता-भोग्य एवं उनकी आकृति और गुण अनिवार्य हैं और इनको मनुष्य-कल्पित अथवा माया-कल्पित कहकर छोड़ा नहीं जा सकता। रसरूपता को प्राप्त होकर आकृति और गुण उस महा-आनंद के अंग बन जाते हैं जिसको सभी प्रेमीगण विज्ञानानंद से कहीं अधिक श्रेष्ठ बतलाते हैं। प्रेमियों ने तो ब्रह्मानंद को प्रेमानंद का सबसे बड़ा आवरण माना है; क्योंकि प्रेमानंद के आधारभूत आकृति और गुण ब्रह्मानंद में माया-कल्पित कह कर छोड़ दिये जाते हैं—

ब्रह्म जोति कौ तेज जहाँ, जोगेस्वर धरैं ध्यान।
ताही कौ आवरण तहाँ, नहिं पावै कोऊ जान॥

(श्री ध्रुवदास—नेह मंजरी)

बिनु रसिकनि वृन्दाविपिन, को है सकत निहार।
ब्रह्म कोटि ऐस्वर्ज के, वैभव की तहाँ बार॥

(श्री ध्रुवदास—प्रेमावली)

आगे के पृष्ठों में हम नित्य-प्रेम-विहार के चारों अंगों—श्री राधा, श्यामसुन्दर, सहचरी और श्री वृन्दावन—के प्रेम-रूप का परिचय, रसिक संतों की दृष्टि से, देने की चेष्टा करेंगे।

———

हित-वृन्दावन

उपास्य तत्व के साथ उसके परम-पद, लोक किंवा स्थान की योजना वेदों के समय से ही होती चली आई है। वेदों और उपनिषदों में त्रिपाद्विभूति, महिमा, विष्णुपद, ब्रह्मलोक, परमव्योम, गुहा आदि की योजनाएँ देखने को मिलती हैं। ऋग्वेद और यजुर्वेद में जहाँ 'गोपविष्णु' का उल्लेख है वहाँ उनके लोक का भी है, जिसमें बड़े-बड़े सींग वाली गायें इधर-उधर घूमती रहती हैं—"यत्र गावो भूरि श्रृंगा अयासः"। वृहदारण्यक उपनिषद् (६-२-१६) और छान्दोग्य उपनिषद्-(८-१२-६) में ब्रह्मलोक का वर्णन है जहाँ पहुँच कर जीव को फिर भव-विप्लव में लौटना नहीं पड़ता—"ब्रह्मलोक मभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।" (छा० ८-१५-१) इसके अतिरिक्त हर एक देवता के भी लोक निर्दिष्ट हैं—जैसे अग्निलोक, वायुलोक, वरुणलोक, आदित्यलोक आदि। इन सब लोकों, पदों और स्थानों का स्वरूप, स्वभावतः, इनके अधिष्ठातृ देवता के अनुरूप होता है।

वैष्णव संप्रदायों के उदय के साथ, प्रधानतया आगमों और पुराणों पर आधारित, वैष्णव उपास्य-तत्व का विकास हुआ और विभिन्न उपास्य स्वरूपों के अनुरूप वैकुण्ठ, गो-लोक आदि स्थानों की योजना को महत्व मिला। इस योजना में वृन्दावन गोलोक का एक विशेष भाग है और रासलीला का स्थान होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है। प्रकट लीला और अप्रकट लीला के भेद से वृन्दावन के दो रूप माने गये हैं—एक भू-वृन्दावन

और दूसरा त्रिपाद्विभूतिस्थ किंवा गोलोकस्थ वृन्दावन, और दोनों का अभेद प्रतिपादित किया गया है। विष्णु पुराण में भगवान की तीन शक्तियाँ मानी गई हैं—ह्लादिनी, संधिनी और संवित्। इनमें से वृन्दावन संधिनी शक्ति का विलास है और चिन्मय रूप है।

राधावल्लभीय सिद्धान्त में प्रेम का प्रथम सहज रूप, उसकी सहज सुन्दर आकृति, श्री वृन्दावन है। इस सिद्धान्त में सभी रूप प्रेम के ही रूप हैं, किन्तु इन सब में प्रेम के प्रकाश का तारतम्य रहता है, इनमे प्रेम की शुद्ध, पूर्ण एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति नहीं होती। अपने जिन चार रूपों में प्रेम पूर्ण शुद्ध स्थिति में व्यक्त होता है, उनको प्रेम का 'सहज रूप' कहा गया है।

पूर्ण प्रेम नित्य, नूतन और एकरस होता है। स्वभावतः वृन्दावन भी नित्य नूतन और नित्य एकरस रहता है। नित्य-नूतन रहने के कारण वह परम सौन्दर्य का और नित्य एक-रस रहने के कारण परम प्रेम का धाम है। भारतीय रस-परंपरा में कामदेव को परम सौन्दर्य का प्रतीक माना जाता है। इन कामदेवों के समूह अपने परिकर-सहित वृन्दावन के नवल-निकुंज-मंदिर को रात-दिन सँवारते रहते हैं ;

अति कमनीय विराजत मंदिर नवल निकुंज ।
सेवत सगन प्रीतिजुत दिन मीनध्वज पुंज ॥

(हि०च० ५७)

'वृन्दावन की भूमि सहज रूप से हेममयी है जिसमें अनेक रंग के रत्न इस प्रकार जड़े हुए हैं कि उनके द्वारा विचित्र प्रकार के चित्रों की रचना हो रही है और उनमें से छवि की तरंगें उठती रहती हैं। वृन्दावन में कपूर की रज झलकती रहती है और उसको देखकर नेत्र और हृदय शीतल हो जाते हैं। यहाँ की प्रत्येक लता कल्पतरु है और प्रत्येक फूल परिजात है जो सहज एकरस रह कर यमुनाकूल पर झलमलाता रहता है। यहाँ सुन्दर, सुभग तमाल से कंचन की लता लिपट रही हैं जिसे देख कर नेत्रों को चकाचौंधी होती है। यहाँ की कुंजें ऐसे अद्भुत प्रकाश से झलमलाती रहती हैं कि करोड़ों सूर्य-चन्द्र भी उसकी समानता नहीं कर सकते। वृन्दावन के चारों ओर अथाह शोभा लिये यमुना बहती रहती है, मानों शृंगार-रस कुंडल बाँधकर प्रवाहित हो रहा है।'

'वृन्दावन में मधुर गुंजार करती हुई मधुपावली मत्त घूमा करती है, मानो अनुराग के मेघ मंद गर्जन कर रहे हैं। यहाँ के विहंग मधुर गति-ताल से कूजते रहते हैं, मानों द्रुमों पर चढ़ी रागनियाँ तान-तरंग गा रही हैं। यहाँ मृगी, मयूरी और हंसिनी प्रेमानंद से भरी हुई श्यामश्यामा रूप युगलकमलों का मकरंद मत्त होकर पान करती रहती हैं। वृन्दावन-बाग अनेक भाँति से फूल रहा है और यहाँ रति और श्री सोहनी हाथ में लिये पुष्प—पराग झाड़ती रहती हैं। वृन्दावन की प्रत्येक कुंज में शय्या-रूपी आसन झलमलाता रहता है और प्रत्येक कुंज युगल की सेवा में उपयोगी नित्य नूतन और सहज सामग्री

से पूर्ण रहती है, जिसकी छवि के कण का भी वर्णन नहीं किया जा सकता। यह वन नाना प्रकार के सुगंधि-द्रव्यों से सुवासित रहता है और यहाँ मोद के उद्गार उठते रहते हैं। सारा वन इस प्रकार जगमगाता रहता है मानों करोड़ों दामिनी घन में सुशोभित हैं।'

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वृन्दावन-रस के रसिकों ने जिस वृन्दावन को अपनी वाणी में प्रत्यक्ष करने की चेष्टा की है, वह अनंत सौन्दर्य का धाम है। उसका कण-कण सुन्दर है और उसमें सौन्दर्य की तरगें उठती रहती हैं। अनंत सौन्दर्य सहज रूप से एकरस प्रेम के साथ बँधा होता है और, वास्तव में तो, गुँथा होता है। वृन्दावन प्रेम की वह भूमिका है जहाँ प्रेम और सौन्दर्य एक दूसरे में ओत-प्रोत रहते हैं और जहाँ एकरस प्रेम का ही स्फुरण नित्य होता है। एक-रस प्रेम में लेश-मात्र भी सोच और दुचित्तता नहीं होती। श्री ध्रुवदास बतलाते हैं—'वृन्दावन में आनन्द का रंग नित्य छाया रहता है; वहाँ सोच और दुचित्तता का लेश भी नहीं है। वृन्दाविपिन-नरेश वहाँ एक-छत्र रस-राज्य का उपभोग करते रहते हैं;

आनंद कौ रँग नित जहाँ सोच न दुचितई लेस।
इक छत राजत राजरस वृन्दाविपिन नरेस॥

(प्रेमावली)

प्रेम के साथ कामना का योग होते ही उसमें सोच और दुचित्तता का प्रवेश हो जाता है। संपूर्णतया निष्काम प्रेम ही

एकरस होता है और एकरस प्रेम में ही सोच और चित्त-चांचल्य को स्थान नहीं होता।

एकरस प्रेम की गति धारावाहिक होती है और वह धारा अखंड होती है। प्रेम की अखंडित धारा में अन्तर को–विरह-वियोग—को अवकाश नहीं होता। वृन्दावन वह एक-रस स्थान बतलाया गया है जहाँ प्रेम का एक-रस पान होता है और जहाँ कामदेवों की सेना सेवा में नियुक्त रहती है—

अब सोई ठाँव कहौं सुनि लीजै। तहाँ सुप्रेम एक रस पीजै।।
वृन्दा विपिन एक रस ऐना। तहाँ सेवत मैननि की सैना।।
(अनुरागलता)

वृन्दावन की एकरस प्रेमरूपता को अनेक सुन्दर प्रकारों में व्यक्त किया गया है। 'श्री वृन्दावन में आनन्द-सिन्धु की तरंगें उठती रहती हैं। वहाँ अनुराग के मेघों के मन्द वर्षणी में छवि के दो फूल श्याम-श्यामा फूले रहते हैं। वृन्दावन-रूप सरोवर में गम्भीर प्रेम-नीर भरा है जिसमें दोनों रसिक मुग्ध भाव से मज्जन करते रहते हैं:—

श्री वृंदावन माँहि, आनंद सिंधु तरंग उठैं।
घन अनुराग चुचाँहि, फूले छवि के फूल द्वै।।
वृन्दावन सरवर भर्‌यौ, प्रेम-नीर गंभीर।
तामें मज्जत रसिक दोऊ, बिसरे नैननि-चीर।।
(श्री ध्रुवदास)

काव्य-रस की दृष्टि से वृन्दावन को उद्दीपन विभाव माना जा सकता है और वह श्याम-श्यामा की प्रीति का उद्दीपन करता भी है।

किन्तु वृन्दावन-रस-रीति में श्यामाश्याम की उज्वल-रस-मयी लीलाओं के निर्माण में वृन्दावन का सक्रिय सहयोग रहता है। अनेक लीलायें ऐसी होती हैं जिनका प्रवर्तन ही वृन्दावन के द्वारा होता है। वृन्दावन के द्वारा आयोजित लीलाओं की विशेषता यह है कि उनमें रस के बड़े विरल अंगों का प्रकाशन होता है। हिताचार्य ने अपने एक पद में इस प्रकार की एक लीला का वर्णन किया है। वे कहते हैं, 'वृन्दावन के द्वारा आयोजित लीलायें श्यामसुन्दर को प्रिय हैं। बृन्दावन के पत्र-प्रसून इतने निर्मल हैं कि उनमें श्याम-श्यामा के प्रतिविंब पड़ते रहते हैं। किन्तु कभी ऐसा होता है कि इनमें पड़ा हुआ श्याम सुन्दर का प्रतिविंब भी श्रीराधा का ही प्रतिविंब मालूम होता है। अपने और अपनी प्रियतमा के प्रतिविंबों की समता होने पर श्याम सुन्दर संकोच में पड़ जाते हैं और इस विचार से कि प्रिया का परिरंभण करने की चेष्टा करने पर कहीं वे अपने प्रतिविंब का ही आलिंगन न करलें, वे श्रीराधा के स्वाभाविक अंग-सौरभ का अनुसंधान पकड़ कर अपने प्रतिविंब को बचाते हुए चलते हैं। उधर श्री राधा भी अपने प्रियतम को संभ्रम देती हैं और नायक की भाँति रतिरण-कलह मचाती हैं। अपनी प्रिया का स्पर्श करने की प्रत्येक चेष्टा विफल होती देख कर और यह समझ कर कि इस समय सारी बातें उलटी हो रही

है, वे अपने हाथ से अपने नेत्रों में अंजन की रेखा बनाते हैं और इस प्रकार अपनी प्रिया की सखी बन कर उनको प्राप्त कर लेते हैं। क्यों कि वृन्दावन के पत्र-प्रसूनों में सखियों का प्रतिबिंब प्रिया-रूप में नहीं पड़ता'।

बन की लीला लालहिं भावै।
पत्र-प्रसून बीच प्रतिबिंबहिं नखसिख प्रिया जनावै ॥
सकुचि न सकत प्रगट परिरंभन अलि-लंपट दुरि धावै।
संभ्रम देति कुलकि कल कामिनि रतिरण-कलह मचावै ॥
उलटी सबै समुझि नैननि मैं अंजन-रेख बनावै।
(जैश्री) हितहरिवंश प्रीतिरीति बस सजनी श्याम कहावै ॥

रस-लीलाओं के निर्माण में बृन्दावन के सहयोग के अन्य अनेक सुन्दर उदाहरण राधाबल्लभीय रसिकों की वाणियों में देखे जा सकते हैं। वास्तव में, वृन्दावन के सहयोग से ही राधा-माधव की प्रीति का विशदीकरण होता है और वे प्रेम रस का नित्य-नूतन आस्वाद करने में समर्थ बनते हैं। प्रबोधानंद सरस्वती कृत एक शतक में वृन्दावन के इस कार्य के लिये कृतज्ञता प्रकाशित करते हुए श्री श्यामसुन्दर कहते हैं,—'अहो मेरी और श्री राधा की जो केलि-चातुर्यधारा है, एवं हम दोनों की एक-दूसरे के प्रति जो अत्युच्च काम-तृष्णा निरवधि बढ़ती रहती है, तथा हम दोनों के प्रेम-बंधन में जो नित्य गाढ़ बल लगते हैं, हे रसखान वृन्दावन, यह सब तेरी शक्ति का ही चमत्कार है'—

श्री राधाया ममच यदहो केलिचातुर्यधारा,
यच्चात्युच्चैर्निरवधि वरीवृद्धयते कामतृष्णा ॥
गाढ़ं गाढ़ं यदतिवलते कोऽपि नौ प्रेमबन्ध,
सर्वं वृन्दावन-रस-खने ! शक्ति-विस्फूर्जितं ते ॥
(शतक ११-३०)

वृन्दावन को, रसिकों ने, प्रेरक प्रेम की मूर्ति माना है । प्रेरक प्रेम में भोक्ता-भोग्य की उभय रतियाँ एक बन कर मूर्तिमान होती हैं । अतः प्रेरक प्रेम युगल का समान पक्षपाती और पोषक होता है, किन्तु प्रेम में भोग्य की स्वाभाविक प्रधानता होती है और प्रेरक प्रेम भी भोग्य-प्रधान है । हितप्रभु ने, इसीलिये, वृन्दावन को 'राधा-विहार-विपिन' कहा है और अपने मन को उसी में रम जाने के लिये प्रोत्साहित किया है,

राधा करावचित पल्लववल्लरीके,
राधापदांकविलसन् मधुरस्थलीके ।
राधायशोमुखरमत्तखगावलीके,
राधा-विहार-विपिने रमतां मनो मे ॥
(रा.सु. नि १३)

उन्होंने श्री राधा को केवल बृन्दावन में ही प्रकट बतलाया है—'यद् बृन्दावनमात्रगोचरमहो',* और अपनी कोटि जन्मान्तरों की मधुर आशा को सर्वत्र से हटा कर वृन्दावन-भूमि पर स्थापित किया है—

---

* (रा. सु. नि. ७६)

किं वा नस्तैः सुशास्त्रैः किमथ तदुदितैर्वर्त्मभिः सद्गृहीतै ।
यंत्रास्ति प्रेममूर्त्ते र्नहि महिमसुधा नापि भावस्तदीयः ।।
किंवा वैकुण्ठलक्ष्म्याप्यहह परमया यत्र मे नास्ति राधा ।
किंत्वाशाप्यस्तु बृन्दावनभुवि मधुराकोटिजन्मान्तरेऽपि ।।

[रा.सु.नि. २१६]

(हमको उन सुशास्त्रों से अथवा उनके द्वारा प्रवर्तित तथा सज्जनों के द्वारा गृहीत उन मार्गों से क्या प्रयोजन है जिनमें न तो प्रेम-मूर्ति श्री राधा की महिमा-सुधा है और न उनका भाव है। इसी प्रकार, उस परम वैकुण्ठ-लक्ष्मी को भी लेकर हम क्या करें जहाँ हमारी श्री राधा नहीं हैं। हम तो यह चाहते हैं कि कोटि जन्मांतरों में भी हमारी मधुर-आशा वृन्दावन-भूमि पर लगी रहे।)

रस-रूपा श्री राधा का यह अद्भुत रस-धाम उन्हीं की कृपा से उपासक के दृष्टि-पथ में आता है। हिताचार्य ने अपने एक पद में लीलागान से पूर्व वृन्दावन को प्रणाम किया है और श्री राधा की कृपा के बिना उसको सबके मनों के लिये अगम्य बताया है।

प्रथम यथामति प्रणऊँ वृन्दावन अतिरम्य ।
श्री राधिका कृपा बिनु सबके मननि अगम्य ।।

[हि. च. ५७]

श्री राधा और वृन्दावन का इस प्रकार का सम्बन्ध देख कर हितप्रभु के शिष्य श्री प्रबोधानंद सरस्वती ने अपने शतक में इन दोनों की प्राप्ति को एक दूसरे के आश्रित बताया है।

वे कहते हैं–'जब तक श्री राधा के पद-नख-मणि की चन्द्रिका का आविर्भाव नहीं होता, तब तक मन-चकोरी को मोद प्राप्त नहीं होता, और जब तक वृन्दावन भूमि में गाढ़-निष्ठा नहीं होती तब तक श्री राधा-चरणों की करुणा का पूर्ण उदय नहीं होता।'

यावद्राधा पदनखमणी चन्द्रिका नाविरास्ते,
तावद् वृन्दावन भुवि मुदं नैति चेतश्चकोरी ।
यावद् वृन्दावन भुवि भवेन्नापि निष्ठा गरिष्ठा,
तावद्राधा चरणकरुणा नैव तादृश्युदेति ॥

[वृंदा. महिमा. १३-२]

प्रेम के सहज-विलास में प्रेरक प्रेम की दो परिणतियाँ होती हैं—वृन्दावन और सहचरी-गण। जड़ता और चेतनता प्रेम की दो अवस्थायें हैं। एक अवस्था में जो प्रेम जड़वत् प्रतीत होता है, वही अपनी दूसरी अवस्था में चेतन दिखलाई देता है। श्रीहित प्रभु ने श्री राधा के हृदय में रस के द्वारा उत्पन्न जड़िमा को अपने एक श्लोक में लक्षित किया है— 'श्री राधे, हृदि ते रसेन जड़िमा ध्यानेऽस्तु मे गोचरः।' श्रीराधा के हृदय में रस-जड़िमा सदैव छाई रहती है और उस के ऊपर चेतन-प्रेम के सम्पूर्ण विलास होते रहते हैं। जड़िमा प्रेम की घनीभूत स्थिति है। प्रेम सघन बन कर जड़वत् प्रतीत होता है। प्रेम के नित्य-विहार में जड़ीभूत प्रेम के आधार पर चेतन प्रेम की क्रीड़ा होती है और उसके द्वारा एक अद्‌भुत प्रेम-स्वरूप का प्रकाश होता है। प्रेम की जड़ता वृन्दावन में और चपलता सहचरियों में मूर्तिमती हुई है।

यह जड़ता प्रेम की जड़ता होने के कारण, स्वभावतः चिन्मय होती है, ज्ञानमय होती है। हितप्रभु की—

बन की कुंजनि-कुंजनि डोलनि,
निकसत निपट साँकरी बीथिन परसत नांहि निचोलनि ॥
(हि. च.)

इन पंक्तियों का आशय स्पष्ट करते हुए सेवक जी ने कहा है— 'श्री हरिवंश ने, उक्त पद में, श्यामश्यामा के उस बन-विहार का वर्णन किया है जिसमें वे दोनों अत्यन्त सघन-वीथियों में से इस प्रकार निकल जाते हैं कि उनके वस्त्रों का स्पर्श भी लताओं से नहीं होता और यह उस स्थिति में जब दोनों प्रेम से विह्वल होते हैं और उनको अपनी देह का भी अनुसंधान नहीं होता। वे प्रेम-मग्न दशा में एक क्षरण के लिये एक दूसरे से हट कर इधर-उधर चलने लगते हैं और फिर व्याकुल होकर डगमगाते हुए एक दूसरे से मिल जाते हैं। उनका अत्यन्त स्नेह देखकर वृन्दावन ही उनको मार्ग देता चलता है'।

कही नित केलि रस खेल वृन्दाविपिन
कुंजतैं कुंज डोलनि बखानी।
पट न परसंत, निकसंत बीथिनु सघन-
प्रेम विह्वल सुनहिं देहमानी ॥
मगन जित तित चलत छिन सु डगमग मिलत,
पंथ बन देत अति हेत जानी।
रसिक हित परम आनंद अवलोकितन,
सरस विस्तरत हरिवंश बानी ॥
[से० वा० ४८ १०]

ध्रुवदासजी ने बतलाया है—'जिन कोमल फूली लताओं में युगल रस-विहार करते हैं, वहाँ की बल्लरियाँ सकुच कर प्रेम-विवस हो जाती हैं'—

कोमल फूली लतनि में करत केलि रस माँहि।
तहँ-तहँ की बल्ली सबै सकुचि विवस ह्वै जांहि॥
(रंग विनोद)

हित प्रभु ने प्रेम-स्वरूप वृन्दावन को इस भूतल पर ही स्थित माना है और इसके अतिरिक्त किसी अन्य गौलोकस्थ वृन्दावन का उल्लेख कहीं नहीं किया। प्रेमोपासना भाव की उपासना है और प्रकट-भाव ही उपासनीय होता है। अप्रकट-भाव की उपासना नहीं की जा सकती। प्रकट-वृन्दावन ही नित्य-वृन्दावन है। ध्रुवदास जी बतलाते हैं—'यद्यपि वृन्दावन पृथ्वी पर स्थित है, किन्तु वह सबसे ऊँचा है। जिसकी वंदना स्वयं विष्णु करते हैं, उसकी समता मैं किसके साथ करूं? 'जो लोग वृन्दावन को छोड़ कर अन्य तीर्थों में जाते हैं वे विमल चिंतामणि को छोड़ कर कौड़ी के लिये ललचाते हैं।'

यद्यपि राजत अवनि पर सबते ऊँचौ आहि।
ताकी सम कहिये कहा श्रीपति बंदत ताहि॥
तजि के वृंदा विपिन कौं और तीर्थ जे जात।
छाँड़ि विमल चिंतामणिहिं कौड़ी कौं ललचात॥

प्रश्न यह होता है कि यदि भूतल-स्थित प्रकट-वृंदावन ही नित्य-वृंदावन है, तो उसकी इस प्रकार की प्रतीति हर एक को क्यों नहीं होती? श्री ध्रुवदास जी उत्तर देते हैं:—

'इसमें दोष दृष्टि का है, दृश्य का नहीं। वृंदावन अपने अनंत प्रेम-वैभव को लेकर नित्य प्रकाशित है। आँख रहते हुए न दीखना माया का रूप है। दृश्यमान रज्जु में सर्प की मिथ्या प्रतीति को ही माया कहते हैं। सारे संसार को मोह-गर्त में डालने वाली यह श्री कृष्ण की माया ही है, जिसके कारण वृंदावन-रूपी रत्न को अपने बीच में पाकर भी हम उसको पहिचान नहीं पाते और उसका निरादर कर देते हैं'—

प्रकट जगत में जगमगै वृंदा विपिन अनूप।
नैन अछत दीसत नहीं यह माया कौ रूप॥
पाइ रतन चीन्हौं नहीं दीन्हौं करतें डार।
यह माया श्री कृष्ण की मोह्यौ सब संसार॥

[वृन्दावन शतक]

जिन रसिक उपासकों की दृष्टि सहज प्रेम के उन्मेष से निर्मल बनी है, उनको भूतल-स्थित वृंदावन के खग, मृग, वन-बेली प्रेममय दिखलाई दिये हैं और उन्होंने इन सबका दुलार अपनी रचनाओं में किया है। वृंदावन के वृक्षों का गान करते हुए व्यासजी कहते हैं—'मुझको वृन्दावन के वृक्ष प्यारे लगते हैं। जिनको देखकर सम्पूर्ण कामनायें विलीन हो जाती हैं वे राधा-मोहन इनके नीचे विहार करते हैं। यह प्रेमामृत से सींचे हुए हैं, इसीलिये इनके नीचे माया-काल प्रवेश नहीं कर पाते। इन वृक्षों की एक शाखा तोड़ने से श्री हरि को कोटि गौ-ब्राह्मणों की हत्या से अधिक कष्ट होता है। रसिकों को यह सब कल्पवृक्ष मालूम होते हैं और विमुखों को ढ़ाक-पिलूख

दिखलाई देते हैं। इनका भजन जिह्वा के सम्पूर्ण स्वादों को छोड़ कर किया जाता है। गोपियों ने गृहादिक की सुख-संपत्ति को छोड़ कर इनका भजन किया था। यही रस पान करके परीक्षित ने भोजन छोड़ दिया था और शुक-मुनि को अपने ब्रह्मज्ञान से असंतोष होगया था। मैंने पपीहा बन कर वृन्दावन-घन का सेवन किया है और मेरे दुख के सर-सरिता सूख गये हैं।'

प्यारे वृन्दावन के रूख।
जिनितर राधा-मोहन विहरत देखत भाजत भूख ।।
माया काल न व्यापै जिनितर सींचे प्रेम-पियूख।
कोटि गाय बाँभन हत शाखा तोरत हरिहिं विदूख ।।
रसिकनि पारिजात सूभत हैं विमुखनि ढ़ाक-पिलूख।
जो भजिये तौ तजिये पान मिठाई मेवा ऊख ।।
जिनि के रस-बस गोपिनु छाँड़े सुख-संपति गृहतूख।
मणि कंचन मय कुंज विराजत रंध्रनि चन्द्र-मयूख ।।
जिहिं रस भोजन तज्यौ परीक्षित उपज्यौ शुकहिं अतूख।
व्यास पपीहा बन-घन सेयौ दुख-सलिता-सर सूख ।।
(व्यासवाणी--२०)

रसलीला का आधार होने के कारण वृन्दावन को रसोपासना का भी स्वाभाविक आधार माना गया है। उपासना की दृष्टि से वह रस का सहज धर्म है। आधार का काम धारण करना है और जो धारण करता है वह धर्म कहलाता है, 'धारणात् धर्ममित्याहुः।' हितप्रभु के निज-धर्म का वर्णन करते हुए सेवक जी कहते हैं—'वहाँ वृन्दावन की स्थिति है, जहाँ प्रेम का सागर बहता है'

अब निजु धर्म आपुनौं कहत,तहाँ नित्य वृंदावन रहत।
बहत प्रेम सागर जहाँ ॥ (से०वा०)

वृन्दावन की स्थिति के आधार पर ही प्रेम-सागर बहता है। वृन्दावन ने ही प्रेम के सागर को धारण कर रखा है और धारण करने के कारण ही वह धर्म है। श्री वृन्दावन किंवा प्रेम-धर्म का साधन नवधा-भक्ति है। 'साधन सकल भक्ति जा तनौ'।

नवधा-भक्ति भी धर्म है, क्योंकि उसको धारण करने से प्रेम-धर्म-स्वरूप वृंदावन की प्राप्ति होती है। धर्म के दो रूप होते हैं। एक रूप में वह धारण करता है और दूसरे में वह धारण किया जाता है। धर्म का 'धारण करने वाला' रूप उसका सहज मौलिक रूप है, अतएव वह साध्य है। धर्म का 'धारण किये जाने वाला' रूप उसका साधन है। धर्म की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये उसके दोनों रूप आवश्यक हैं और सेवकजी ने दोनों का वर्णन अपनी वाणी में किया है।

वृन्दावन हित का सहज-धर्म है, अतः इसके रूप में हित का अपना सहज एवं अनिर्वचनीय प्रीति-वैभव प्रकट होता है— 'निजु वैभव प्रगटत आपुनौ'। इस धर्म का निवास श्री राधा के युगल चरणों में है—'श्री राधा जुग चरन निवास'। श्री राधा के युगल चरणों के आश्रित होते हुए भी यह धर्म उन चरणों का आधार बना हुआ है। सेवक जी ने, इसीलिये, अन्यत्र कहा है—'धर्मी के बिना धर्म की और धर्म के बिना धर्मी की स्थिति नहीं है। श्री हरिवंश के प्रताप के मर्मज्ञ लोग ही इस मर्म को जानते हैं'—

धर्मी बिनु नहिं धर्म, नाहिं बिनु धर्म जु धर्मी।
श्री हरिवंश प्रताप मरम जानहिं जे मर्मी।।
(से०वा० १३–११)

साधारणतया रस को समस्त धर्मों से परे माना जाता है और वह है भी। किंतु रस का भी कोई अपना 'धर्म' है जो उसके समस्त विलासों को धारण करता है। रस की उपासना का पूर्ण रूप रस के धर्म और धर्मी को लेकर बनता है। रस की शुद्धतम स्थिति उसके सहज धर्म के द्वारा और उसका निष्कपट आचरण उसके धर्मी के द्वारा प्रकट होता है। अपने कण-कण में रस का शुद्धतम प्रकाश धारण करने वाला श्री वृन्दावन यदि प्रेम का सहज धर्म है, तो एक-मात्र प्रेम को अपने सम्पूर्ण आचरणों का नियामक मानने वाले प्रेम-स्वरूप श्री राधा-श्यामसुंदर उसके सहज धर्मी हैं। प्रेम के इन सहज धर्म एवं धर्मी के योग से श्री हित प्रभु की शुद्ध रस-उपासना का निर्माण हुआ है। सहचरि सुखजी ने श्री हित प्रभु की एक जन्म-बधाई में गाया है कि उन्होंने 'नव कुंज, नित्य निकुंज एवं निभृत-निकुंज के आश्रित रस का दर्शन कराकर रस के क्षेत्र में भी धर्म और धर्मी को स्पष्ट दिखला दिया है'—

नव कुंज, नित्य निकुंज, निभृत-निकुंज-रस दरसाइकै।
धर्म-धर्मी रहसि हू मैं दिये प्रगट दिखाइकै।।

श्री हरिराम व्यास ने वृन्दावन को प्रेम की राजधानी बतलाया है जिसके 'राजा नायक शिरोमणि श्री श्याम सुन्दर और तरुणि-मणि श्री राधिका हैं'। पाताल से वैकुंठ तक के

सब लोक इस राजधानी के थाने हैं। छयानवै कोटि मेघ वृन्दावन के बागों को सींचते हैं और चारों प्रकार की मुक्ति वहाँ पानी भरती रहती है। सूर्य-चन्द्र वहाँ के पहरेदार हैं, पवन खिदमतगार है, इन्दिरा चरणदासी है और निगमवाणी भाट हैं। धर्म वहाँ का कोतवाल है और सनकादि ज्ञानी चार गुप्तचर हैं। सतोगुण वहाँ का द्वारपाल है, काल राज-बन्दी है, कर्म दण्डदाता है और काम-रति-सुख वहाँ की ध्वजा है। वहाँ कनक और मरकत-मणि की भूमि है और कुसुमित कुंज-महल में कमनीय शयनीय की नित्य रचना हो रही है। यह स्थान सबके लिये अगम है। यहाँ के राजा-रानी कभी वियुक्त नहीं होते और व्यासदास इस महल में पीकदानी लिये हुए सदैव उपस्थित रहते हैं।'

नव कुँवर चक्र चूडा नृपति साँवरो राधिका तरुणि मणि पट्टरानी।
शेष-गृह आदि वैकुंठ पर्यंत सब लोक थानैंत, बन राजधानी॥
मेघ छयानवै कोटि बाग सींचत जहाँ, मुक्ति चारौं जहाँ भरत पानी।
सूर-ससि पाहरू, पवन जन, इंदिरा चरणदासी, भाट निगम बानी॥
धर्म कुतवाल, शुक सूत नारद चारु फिरत चर चार सनकादि ज्ञानी।
सतोगुन पौरिया, काल बँधुआ, कर्म डाँडिये, काम-रति सुख निसानी॥
कनक मर्कत धरनि कुंज कुसुमित महल मध्य कमनीन शयनीय ठानी।
पल न बिछुरत दोऊ, तहाँ नहिं जात कोऊ, व्यास महलनि लियें पीकदानी॥

(व्या० वा० ४६)

कृष्णदासजी कहते हैं—'जहाँ प्रत्येक कुंज में सुखद शयनीय की रचना हो रही है, जहाँ प्रत्येक कुंज प्रेम का अयन है, जहाँ प्रत्येक कुंज में प्रेम-संयोग हो रहा है, जहाँ प्रत्येक कुंज में

शृंगार की नित्य-नूतन सामग्री सजी हुई है, जहाँ प्रत्येक कुंज अत्यन्त सुवासित है, जहाँ कुंज-कुंज में मणिजटित रासमंडल विद्यमान हैं, जहाँ कुंज-कुंज में सहचरियों के समूह सेवा में नियुक्त हैं, श्रीवृन्दावन-रानी का वह अभिराम धाम वृन्दावन शोभा से झलमला रहा है।'

कुंज-कुंज सैन सुखद, मैन ऐन कुंज-कुंज,
कुंज-कुंज संगम संजोग सुख निशानी कौ।
कुंज-कुंज सज्जित शृङ्गार सौंज नई-नई,
कुंज-कुंज भोग जोग सौंधौ मनमानी कौ॥
कुंज-कुंज मंडल-मणि रास तत्त थेइ-थेइ,
कुंज-कुंज गानतान तरलित सुरसानी कौ।
कुंज-कुंज वनितागन जूथनि अभिराम धाम,
झलमलात वृन्दावन वृन्दावन-रानी कौ॥

[वृन्दावनाष्टक]

राधावल्लभीय रसोपासना वृन्दावन-रस की उपासना है। वृन्दावन-रति ही वृन्दावन-रस के रूप में आस्वादित होती है। वृन्दावन-रति, वास्तव में, प्रेम-रति है। प्रेम के प्रति प्रेम है और वृन्दावन-रस प्रेम-रस है। 'प्रेम' के स्थान में 'वृन्दावन' शब्द के प्रयोग का हेतु यह है कि यहाँ रसिक की रति उस एकरस और नित्य नूतन प्रेम के प्रति है जो वृन्दावन कहलाता है। रसिक श्याम-श्यामा हैं, सखी गण हैं, उपासक हैं। तीनों प्रेम के इसी स्वरूप के रसिक हैं। वृन्दावन में ही वह प्रीति-लता उत्पन्न है जिस में रंग-रूप के दो फ़ूल श्याम-श्यामा लगे हैं। यह प्रीति-लता श्याम-श्यामा का ही अवलंब

नहीं, सखी-गण और सखी-भावापन्न रसिक-उपासकों का भी है। वृन्दावन से रति करके ही रसिक-उपासक वहाँ के सहज प्रेम विलास का आस्वाद कर सकता है, उस में प्रविष्ट हो सकता है।

श्री प्रबोधानंद सरस्वती ने तीन वृन्दावनों का उल्लेख किया है। पहिला है, 'गोष्ठ वृन्दावन' जहाँ श्री कृष्ण गो-चारण करते हैं। दूसरा है, गोपियों का क्रीडा-स्थल वृन्दावन, जहाँ ब्रज-गोपिकाओं के साथ भगवान रास-विलास करते हैं। तीसरा और इन दोनों से विलक्षण, अत्यन्त आश्चर्यमय वृन्दावन वह है जहाँ श्री राधा की निकुंज-वाटी है। यह उस रति का सहज रूप है जो अत्यन्त शुद्ध और पूर्ण है। सर्वथा स्व-सुख-वासना शून्य होने के कारण वह अत्यन्त शुद्ध है और सर्वथा समृद्ध होने के कारण वह अत्यन्त पूर्ण है।

कृष्णस्याथो गोष्ठ वृन्दावनं तत्।
गोप्या क्रीडं धाम वृन्दावनान्तः॥
अत्याश्चर्या सर्वतोस्माद् विचित्रा।
श्रीमद्राधा-कुंज-वाटी चकास्ति॥
आद्योभावो यो विशुद्धोति पूर्णे—
स्तद्रूपा सा तादृशोन्मादि सर्वाः॥

(वृन्दा०शतक, १—८,६)

इस दृष्टि से वृन्दावन-रति का अर्थ है, वृन्दावनात्मिका रति, वृदावन रूपा रति। यह रति प्रेम की वह भूमि है, भूमिका है, "जिसके चारों ओर श्यामवर्णा यमुना के रूप में शृंगार रस कुंडल बाँधकर प्रवाहित होता रहता है और जिसके

परम पावन पुलिन पर प्रेम-स्वरूप श्याम-श्यामा शृंगार-क्रीडा करते रहते हैं। श्याम-श्यामा वृन्दावन से उसी प्रकार नित्य सम्बन्धित हैं जैसे रस रति से सम्बन्धित हैं। 'यह न तो कहीं से वृन्दावन में आये हैं और न यहाँ से कहीं जायँगे। यहाँ यह दोनों पारावार-विवर्जित और अत्यन्त विषम काम-सागर में अनाद्यनंत क्रीडा करते रहते हैं। इनकी दिव्य कांति सहज रूप से गौर और श्यामल है, इनका नित्य-कैशोर अति आश्चर्यमय है और यह परस्पर अंगों के मिले रहने पर ही जीवन धारण करते हैं। ऐसे युगल जहाँ रहते हैं, मैं उस वृन्दावन की वंदना करता हूँ।

आयातं न कुतश्चन नो गन्तृ स्मरैकाबुधौ—
पारावार विवर्जितेति विषमे नाद्यन्त कालं लुठत्।
गौर-श्यामल दिव्य कांति सहजात्याश्चर्य कैशोरकं।
यत्रास्ते मिथुनं मिथोऽङ्ग मिलनाज्जीवन्नुमस्तद्वनम्॥

(श्री प्रबोधानंद सरस्वती-श० ६-६८)

हित-युगल

उज्ज्वल-रस की उपासना के लिये युगल का होना आवश्यक है। भरत ने प्रमदा युक्त पुरुष को ही शृङ्गार कहा है—'पुरुषः प्रमदा-युक्तः शृङ्गार इति संज्ञितः।' शृङ्गार रस की उपासना अपने देश में प्रचीन काल से चली आ रही है। पुराणों में तथा अन्यत्र इस के अनेक प्रमाण मिलते हैं और इतिहासज्ञों की दृष्टि में इसकी प्राचीनता सिद्ध हो चुकी है।

सोलहवीं शती में उत्पन्न होने वाले आचार्यों और महात्माओं ने इसको बहुत पल्लिवत किया और उसी समय इस उपासना की परिपाटियाँ बनीं। सभी रस-उपासकों के उपास्य राधाकृष्णात्मक युगल हैं, किन्तु राधाकृष्ण के स्वरूप और परस्पर संबंध को लेकर इन लोगों में काफी मतभेद है। यह मतभेद मूलतः प्रत्येक आचार्य की भिन्न प्रेम-रस संबंधिनी दृष्टि के ऊपर आधारित है।

राधावल्लभीय प्रेम-सिद्धान्त में युगल की स्थिति का संक्षिप्त परिचय पीछे दिया जा चुका है। वे प्रेम के दो खिलौने हैं जो प्रेम का ही खेल खेल रहे हैं–'प्रेम के खिलौना दोऊ खेलत हैं प्रेम खेल'। परात्पर 'हित' प्रेम और सौन्दर्य के दो रूपों में नित्य व्यक्त रहकर अनाद्यनंत प्रेम-क्रीडा में प्रवृत्त है। प्रेम और रूप ही हित के सहज युगल हैं। इन दोनों में भोक्ता-भोग्य का संबंध है, प्रेम भोक्ता है और रूप भोग्य। प्रेम की मूर्ति श्याम सुन्दर हैं और सौन्दर्य की श्री राधा। जिस प्रकार प्रेम और सौन्दर्य अपनी उज्वलतम परिणति में एक-दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते, उसी प्रकार राधा-श्यामसुन्दर को परस्पर एक क्षण का वियोग भी असह्य है।

प्रेम सदैव प्रेम-तृषा से पूर्ण होता है। प्रेम को प्रेम की प्यास सदैव लगी होती है। श्याम-श्यामा में प्रेम की स्थिति समान है, अतः इनकी प्रेम-तृषा भी समान है। 'यह दोनों परस्पर अंशों पर भुजा रखे हुए एक-दूसरे के मुख-चन्द्र

को देखते रहते हैं और इनके नेत्र तृषित चकोरों की भाँति मत्त बनकर परस्पर रस-पान करते रहते हैं ।'

अंसनि पर भुज दिये विलोकत इंदु-वदन विवि ओर ।
करत पान रस मत्त परस्पर लोचन तृषित चकोर ॥
(हि० च०)

इसका अर्थ यह हुआ कि यह दोनों ही चन्द्र हैं और दोनों तृषित चकोर हैं । दोनों ओर चन्द्र ही चकोर बन कर चन्द्र का रसपान कर रहा है । जल ही प्यास बनकर जल को पी रहा है । प्यासे पानी की प्यास को बुझाने का कोई उपाय नहीं रह जाता । पानी को यदि प्यास लग आवे तो निकट-स्थित कुए से भी क्या लाभ ? 'पानी लागै प्यास जो कहा करै ढिग कूप ?' प्रेम की तृषा रूप-जल से सिंचित होकर शान्त होती है, किन्तु यदि रूप-दर्शन से वह बढ़ने लगे, तो उसकी निवृत्ति का कोई साधन नहीं रहता । राधा-श्यामसुन्दर की प्रेमतृषा परस्पर रूप-दर्शन से अनंत और नित्य-वर्धमान बनी हुई है ।

इस समान और अनंत प्रेम-तृषा का प्रभाव युगल के **स्वरूप** संबंध और क्रीडा पर अद्भुत पड़ा है । इसी के कारण उनके तन-मन घुल-मिलकर एक बने हैं और इसी से विवश बनकर वे प्रेम का एक रस उपभोग करने में समर्थ बने हैं । उनकी रसिकता का आधार भी यह तृषा ही है । रस-तृषित ही रसिक कहलाता है । रस-तृषा जितनी तीव्र होती है, रसिकता भी उतनी ही परिष्कृत और गंभीर होती है । श्याम-श्यामा श्यामा, इसीलिये, रसिक शिरोमणि हैं कि वे एक-दूसरे के

प्रेम-रूप का आस्वाद अनंत तृषा लेकर करते हैं । युगल के ऊपर उनकी अनंत प्रेम-तृषा के प्रभाव का वर्णन करते हुए श्री ध्रुवदास कहते हैं, 'यह दोनों एक मन और एक हृदय हैं और इनको एक ही बात सुहाती है। इनकी एक ही वय है, एकसे भूषण-पट हैं और इनके अंगों में एक-सी छबीली छटा सुशोभित है। यद दोनों रूप के रंग में ही भीग रहे हैं और दोनों ने अपने नेत्रों को परस्पर चकोर बना रखा है। यह दोनों एक-दूसरे के संग को इस प्रकार चाहते हैं जैसे मीन जल के संग को चाहता है । इनको देखकर सखीगण परस्पर यह कहती रहती हैं कि रसिक-शिरोमणि युगल के बिना और कौन प्रेम-व्रत का एक रस निर्वाह कर सकता है।

हितध्रुव रसिक सिरोमणि युगल बिनु,
आली, को निबाहै एक रस प्रेम-पान कौं।

(शृंगार शत-द्वितीय शृंखला)

वृन्दावन-रस के रसिकों ने इसीलिये इनको सदैव साथ ही चित्रित किया है। साथ रहने से प्रेम और रूप एक दूसरे में प्रतिविम्बित हो उठते हैं और रूपमय प्रेम तथा प्रेम मय रूप की सृष्टि हो जाती है। श्यामसुन्दर रूपमय प्रेम हैं, और श्री राधा प्रेम मय रूप हैं। प्रेम में रूप ओतप्रोत है, और रूप में प्रेम। श्री राधा और श्यामसुन्दर इस प्रकार प्रेमालिंगन में आबद्ध हैं कि उनमें श्याम और गौर का विवेक नहीं किया जा सकता, 'रति रस-रंग साने एसे अंग लपटाने, परत न सुधि कछु को है श्याम गौर री'। इनको देखकर सखीगण यह विचार करती रहती हैं कि कौनसा प्रेम और कौनसा

रूप एक स्थान में एकत्रित हुआ है, 'हितध्रुव हेरि-हेरि करत विचार सखी, कौन प्रेम, कौन रूप जुरयौ इक ठौर री,।

नित्य-वर्धमान, समान प्रेम-तृषा ने यद्यपि युगल को एक दूसरे में ओत-प्रोत बना दिया है किन्तु प्रेम-क्रीडा के लिये दोनों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व होना आवश्यक है । राधा-श्यामसुन्दर एक-प्राण, एक-मन, एक-शील और एक-स्वभाव होते हुए भी अपने स्वरूपों में सर्वथा स्वतन्त्र हैं । युगल की परस्पर विलक्षणता को स्पष्ट करते हुए श्री हितप्रभु कहते हैं—'इनमें से एक की छवि तो सुवर्ण के चंपक जैसी है और दूसरा नील मेघ के समान श्यामल है । एक काम के द्वारा चंचल बन रहा है और दूसरे ने बाह्य प्रतिकूलता धारण कर रखी है । एक मान की अनेक भंगियों से मंडित है और दूसरा रसपूर्ण चाटुता कर रहा है । निकुंज की सीमा में क्रीडा करते हुए इस महामोहन युगल को मैं देख पाऊँगा ?'

एकं कांचनचंपकच्छवि परं नीलाम्बुदश्यामलं,
कंदर्पोत्तरलं तथैकमपरं नैवानुकूलं बहिः ।
किंचैकं बहुमानभंगि रसवच्चाटूनि कुर्वत्परं,
वीक्षे क्रीडनिकुंजसीम्नि तदहो द्वन्द्वं महामोहनम् ।।

(रा० सु० १६६)

एक ही प्रेम के दो 'खिलौने' होते हुए भी युगल के प्रेम-स्वरूपों में भिन्नता है । श्यामसुन्दर प्रेमी हैं और स्वभावतः उनका प्रेम आवेशयुक्त है । उनकी प्रीति वेगवती जलधारा की भाँति अपने किनारों को तोड़ती हुई अपने लक्ष्य की ओर धावित होती रहती है । श्रीराधा प्रेमपात्र हैं, अतः उनका

प्रेम उस गंभीर सागर की भाँति है जो अपनी लहरों को अपने अंदर समा लेता है। उनके प्रेम में वाणी का प्रवेश नहीं होता। यह गंभीर सागर यदि अपनी मर्यादा छोड़कर उमड़ पड़े तो इसको रोकने की क्षमता किसमें है ?

यद्यपि प्यारे पीय कौं रहत है प्रेम अवेस ।
कुंवरि प्रेम गंभीर तहाँ नाहिन वचन प्रवेश ॥
प्रिया-प्रेम सागर अमल लहरिनु लेत समाय ।
उमड़ै जो मर्जाद तजि कापै रोक्यौ जाय ॥

[श्री ध्रुवदास-हित शृंगार]

युगल-केलि (प्रेम-विहार)

राधा-श्यामसुन्दर अपने प्राणों में अनंत प्रेम-तृषा लेकर प्रेम-मार्ग में अग्रसर हुए हैं। प्रेम-तृषा का सिंचन रूप-जल से होता है। रूप-सौंदर्य का सर्वांगपूर्ण और विशद प्रकाश शृंगार-केलि में होता है। अतः ध्रुवदासजी ने प्रेम-तृषा की बेलि के लिये शृंगार-केलि को 'अदन-रस' (प्रपानक-रस) बतलाया है। प्रेम तृषा-प्रधान होता है और रूप केलि-प्रधान। श्यामसुन्दर में प्रेम की तृषा मूर्तिमती हुई है और श्रीराधा में अनंग की केलि। हितप्रभु ने अपने एक पद में श्रीराधा को 'रसिक काम की केलि' कहा है—'तू व ललना रसिक काम की केलि री'। प्रेम और रूप के, तृषा और केलि के नित्य संयोग से प्रेम का विहार अखण्ड एक रस चलता रहता है।

प्रत्येक शृंगार-क्रीडा की भाँति इस प्रेम-विहार का आरंभ भी रूप-दर्शन से होता है। श्यामसुन्दर स्वयं सौन्दर्य के अनन्य धाम हैं, उनको देखकर करोड़ों रति-काम लज्जित

हो जाते हैं। किन्तु रूप-सौन्दर्य की साक्षात् मूर्ति प्रेम स्वरूपा श्री राधा की प्रेममई चितवनि और रसमई भ्रकुटियों से जिस प्रेममय अनंग की उत्पत्ति होती है, उसने इन मदनमोहन को भी मोहित कर लिया है। श्रीराधा के अद्भुत रूप को देखकर वे विथकित हो जाते हैं और उनके शरीर में वे पथ–कंप–उत्पन्न हो जाता है—'अद्भुत छटा विलोकि अवनि पर विथकित वे पथ गात'। रूप-दर्शन से उनका मन प्रेम-समुद्र में डूबने लगता है और उन को अपने देह की सुध-बुध भूल जाती है। उसी समय 'नागरता की राशि' श्री राधा उनको अपनी कोमल बाहु-लताओं में आवद्ध कर लेती हैं और उनको अधरामृत का पान कराकर बल पूर्वक प्रेम-भँवर से निकाल लेती हैं। महामधु का पान करके श्यामसुन्दर के प्राणों को वैसा ही अवलंब मिल जाता है जैसा जल के मिलने से मीन को और वे महामन्मथ के रंग में रंगकर सावधान बन जाते हैं।

दोनों ओर से समान सिंचन पाकर केलि-बेलि बढ़ने लगतीहै। प्रियतम के द्वारा उरज-स्पर्श की चेष्टा और प्रिया के द्वारा उनका गोपन, 'प्रतिपद-प्रतिकूल' कामिनी के द्वारा 'कुटिल भृकुटि-अवलोकन, और अनुराग-विवश आतुर प्रियतम के द्वारा प्रिया का गाढ़ आलिंगन, नागर प्रियतम के द्वारा नीवी-बंधन-मोचन और नागरी प्रिया का कपट पूर्ण कोप-प्रदर्शन और रसपूर्ण 'नेति-नेति' कथन, प्रिया द्वारा प्रियतम का परिरंभन और विपरीत-रति-वितरण आदि प्रेम-प्रसंगों के द्वारा प्रेम और रूप की यह अनादि-क्राडा नित्य-नूतन प्रकारों में प्रकाशित होती रहती है। सुरत

के अंत में युगल के सुन्दर ललाट-पटल पर श्रम-जल-सीकर झलक आते हैं और अभंग अनुराग वाली ललितादिक सखी-गण अंचल-पवन के द्वारा युगल का श्रम-अपनोदन करती हैं ।
[हि० च० ३०]

इस प्रेम-विहार में नृत्य, संगीत और शृंगार की कलाओं का क्षण-क्षण में प्रकाश होता रहता है । युगल नृत्य, संगीत और अभिनय की परावधि हैं । उन में रस और रसिकता दोनों की सीमाएँ आकर मिली हैं । उनकी रसिकता उनके गुणों को उभारती है और उन के गुण उनकी रसिकता को उद्दीप्त बनाते रहते हैं । 'हंस सुता के तट पर अति मधुर और महामोहन ध्वनि सदैव उत्पन्न होती रहती है और युगल के मुख से 'थेई-थेई' वचन निकलते रहते हैं, जिनको सुनकर सखीजनों को देह-दशा भूल जाती है । युगल के मृदु पद-न्यास से कुंकुम-रज उठती है और नृत्य की गति से उनके दुकूल अद्भुत रीति से उड़ते रहते हैं । नृत्य के बीच-बीच में श्यामसुन्दर श्यामा के अधर, कच, कुच, हार और भुज-मूल का स्पर्श करते हैं । इन दोनों के लावण्य रूप और अभिनय-गुणों की समता कोटि कामदेव भी नहीं कर सकते । इनके भृकुटि-विलास और मृदु हास से प्रेम-रस की वर्षा होती रहती है ।' [हि० च० ६२]

केवल रास-क्रीड़ा ही नहीं युगल का संपूर्ण रास-विलास प्रेममय, सौन्दर्यमय, संगीतमय, नृत्यमय और अभिनय मय होता है । युगल की कटि-किंकिणी और चरण—नूपुरों से सदैव संगीत की मंद-मंद तरंगें उठती रहती हैं, उनके आभू-

षणों की ध्वनि सुनकर यमुना-तीर के हंस बोलने लगते हैं। 'उनके गान को सुनकर खग-मृग पुलकित हो जाते हैं और जल का प्रवाह रुक जाता है।'

गावत सुन्दरि-हरि सरस धमारि ।
पुलकित खग मृग बहत न वारि ॥

[हि० च० २७]

'उनके नृत्य-अभिनय को देखकर उडुगण चकित हो जाते हैं; शशि-मंडल थकित हो जाता है और कोटि कामदेवों के मन लुट जाते हैं।'

उडुगण चकित थकित ससि-मंडल कोटि मदन-मन लूटे ।

[हि० च० ६३]

यह दोनों शृंगार की कलाओं में भी अत्यन्त कुशल हैं, और परस्पर प्रेम-सौन्दर्य का आस्वाद बड़ी नागरता से करते हैं। श्रीहित हरिवंश को इनका नागर-नागरी रूप ही प्रिय है, और उसी का गान उन्होंने अपने पदों में किया है। एक पद में वे कहते हैं, 'नवल नागरी और नवल नागर किशोर ने मिलकर, निकुंज-भवन में, कोमल कमल-दलों से शय्या की रचना की है। उस पर रुचिर 'गौर-साँवल अंग' इस प्रकार मिले हैं मानो सरस नीलमणि मृदुल कंचन में जड़ गई है। 'सुरत नीवी-निबंध' के लिये मानिनी प्रिया की भुजाओं में मनोहर कलह मची है। सुभग उरजों के स्पर्श करते ही नागरी प्रिया प्रणय-कोप से हुँकार करती है और रूप-गर्व से उनके दृग भंगिमा-मंडित हो जाते हैं। नागर-नागरी के इस एकान्त विलास में शृंगार की करोड़ों समृद्ध कलाएँ प्रकाशित होती

हैं। प्रणय मय रसिक ललितादिक सखियाँ अपने नेत्र रूपी, चषकों (पान पात्रों) से रस-मकरंद का पान करती रहती हैं।'

नवल नागरि, नवल नागर किशोर मिलि,
कुंज कोमल कमल-दलनि सिज्या रची।
गौर साँवल अंग रुचिर तापर मिले,
सरस मणि-नील मानो मृदुल कंचन खची॥
सुरत नीवी निबन्ध हेत प्रिय मानिनी,
प्रिया की भुजनि में कलह मोहन मची।
सुभग श्री फल उरज पानि परसत रोष,
हुंकार गर्व दृग-भंगिम भामिनि लची॥
कोक कोटिक रभस रहसि हरिवंश हित,
विविध कल माधुरी किमपि नाहिन बची।
प्रणय मय रसिक ललितादि लोचन चषक,
पिवत मकरंद सुख-रासि अंतर सची॥

(हि० च० ५०)

इसीलिये, श्री ध्रुवदास ने कहा है 'युगल की अद्भुत् काम केलि राग-रंग से युक्त प्रेम-रस है और उस में क्षण-क्षण में आनंद-सिन्धु के तरंग उठते रहते हैं।

राग-रंग जुत प्रेम-रस अद्भुत् केलि-अनंग।
छिन-छिन आनंद-सिन्धु के उठिबौ करत तरंग॥

नृत्य, संगीत और अभिनय का सहज योग पाकर युगल के अद्भुत् सौन्दर्य ने अनंत-गुणित बन कर वृन्दावन की कुंज-कुंज को पूरित कर दिया है। 'शोभा का नीर युगल के अंगों को, पटों को, भूषणों को और भवन को पूरित करके वृन्दावन में चारों ओर उमड़ पड़ा है। उस की तरंगों में सखियों के

नैन-मीन पड़े हैं, और उनको यह पता नहीं है कि रात-दिन कहाँ होते हैं। इस उफनती हुई शोभा के कारण वृन्दावन की कुंज-कुंज में सुख का पुंज भर रहा है, और वहाँ की हंसी मयूरी और मृगी भी चकोर बन गये हैं। वहाँ रस के दो सागर एकरस बन कर अनंग केलि कर रहे हैं।'

अंगभरि, पटभरि, भूषण भवन भरि,
चल्यौ हैं उमड़ि छवि-अंबु चहुँ ओर री।
सखिनु के नैन-मीन परे हैं तरंगनि में,
जानत न कहाँ होत आली निसि-भोर री॥
वृंदावन कुंज-कुंज रह्यौ पूरि सुख-पुंज,
हंसी और मोरी मृगी भये हैं चकोर री।
हितध्रुव एकरस रस के समुद्र दोऊ,
नागर अनंग-केलि नवल किशोर री।

प्रेम-विहार में युगल के प्रेम और रूप परस्पर एक रस बनकर अपनी रसोन्मत्त स्थितियों में सदैव स्थिति रहते हैं। हितप्रभु ने श्यामा-श्याम को 'विविध गुणों से रमणीय बने हुए करिणी-गज' कहा है—करिनी-करि मत्त मानो विविध गुन रामिनी।' और इस रूप में वर्णन करने का हेतु यह बतलाया है कि इन दोनों के हृदय में प्रेम की अत्यन्त फूलन (उल्लास) एक समान है—'हृदय अति फूल समतूल प्रिय-नागरी।' यह अत्यन्त फूलन ही युगल को उन्मत बनाती रहती है और इसी ने संपूर्ण प्रेम-विहार को रसमत्त बना रखा है। श्रीध्रुवदास कहते हैं 'इस अद्भुत विहार में यौवन का मद, नव-नेह का मद, रूप तथा मदन का मद-मोद,

रसमद, रतिमद और चाहमद उन्मत्त बनकर विनोद करते रहते हैं।'

> **जोबन-मद, नव नेह-मद, रूप मदन मद-मोद ।**
> **रस मद, रतिमद, चाहमद उन्मद करत विनोद ॥**

मदों का मत्त बनना असाधारण बात है और वह इस प्रेम-विहार में ही संभव बनता है। मत्त बनने का परिणाम झूमना है। वृन्दावन के लता-गुल्म और खग-मृग, वहाँ के आकाश-पवन और दिशायें रसोन्मत्ता बनकर सदैव झूमते रहते हैं और इन सब के बीच में रसमत्त श्याम-श्यामा एक दूसरे पर झूम-झूमकर प्रेम-रूप की वर्षा करते रहते हैं। विलक्षण बात यह है कि सदैव रसोन्मत स्थिति में रहते हुए भी युगल प्रीति के सहज अंगों का निर्वाह पूर्ण रूप से करते रहते हैं।

हम देख चुके हैं कि इनकी प्रीति पूर्णतया तत्सुख-मई है। श्रीराधा जो विलास करती हैं, वह श्यामसुन्दर के सुख के लिये होता है और श्यामसुन्दर की प्रत्येक क्रिया प्रिया के सुख के लिये होती है। परम रूप लावण्यवती श्री राधा जब प्रियतम के अनुराग-मद से भरकर अनंग-केलि में प्रवृत्त होती हैं तब 'उनके सुरत-रंग से भरे अंगों से' और उनके 'हाव-भाव भृकुटि भंग' से माधुरी की तरंगें उठने लगती हैं, जिनके द्वारा कोटि कामदेवों के मन मथित हो जाते हैं! वे प्रियतम को संपूर्ण सुख देने के लिये उन पर प्यार की वर्षा कर देती हैं। अपनी उस परम-सुखमई स्थिति में भी श्यामसुन्दर केवल प्रिया

के सुख को ही देखते हैं और इस भय से कि कहीं सुखदान में प्रिया को श्रम न हो गया हो वे उनसे 'विरम-विरम' कह उठते हैं।

नागरी निकुंज ऐन, किसलय दल रचित सैन,
कोक-कला कुसल कुंवरि अति उदार री।
सुरत-रंग अंग-अंग, हाव भाव भृकुटि-भंग।
माधुरी तरंग मथत कोटि मार री।
मुखर नूपुरनि सुभाव, किंकिनी विचित्र राव,
'विरमि-विरमि' नाथ वदत वर विहार री
लाड़िली किशोर राज, हंस-हंसिनी समाज,
सींचत हरिवंश नयन सुरस सार री।

[हि० च० ७६]

इसी भाँति, प्रिया जब अपने अनियारे नेत्रों में अंजन-रेख बनाकर उनके अद्भुत सौन्दर्य को दर्पण में देखती हैं तब इनके द्वारा बिंधने वाले अपने प्रियतम के चित्त की मृदुलता का ध्यान उनको आजाता है और वे सोच में डूब जाती हैं।

मुकर पानि लिये लाड़िली बैठी सहज सुभाइ।
अनियारी अँखियन दियौ अंजन रुचिर बनाइ॥
सोचि रही तिहि छिन कछू इत-उत चितवत नाँहि।
प्रीतम मन की मृदुलता गड़ी आइ मन माँहि॥

(श्री ध्रुवदास-प्रेमावली)

युगल-विहार में सखियों का बहुत बड़ा हाथ है। वे युगल की रुचि लेकर रुचि-पूर्वक उनकी सेवा में प्रवृत्त रहती हैं वृन्दावन में छहों ऋतुएँ अपने समय पर आती रहतीं हैं सखी गण इन सब का सुन्दरतम उपभोग युगल को कराती हैं

यह उपभोग ही इन विभिन्न ऋतुओं की विभिन्न केलियों के रूप में सखीजनों के सुख की वृद्धि करता है। इनमें पावस-विहार, शरद-विहार और वसंत-विहार प्रधान हैं। सखियों की अष्ट याम-सेवा में यह छहों ऋतुएँ आठयाम (चौबीस घंटों) में ही उपभुक्त हो जाती हैं और इस प्रकार, नित्य-विहार के सब अंगों का नित्य निर्वाह होता रहता है।

राधा मोहन नित्य उन्नत नव किशोर हैं, और नित्य नव-दंपति हैं। उनका अद्भुत् प्रेम-सौन्दर्य प्रतिक्षण नूतन बनता रहता है। दूलह-दुलहिन ही नूतन प्रेम-रूप का उपभोग करते हैं। राधा-श्याम सुन्दर नित्य नव-वर-वधू हैं। हितप्रभु ने नूतन प्रेम-रस के आस्वाद के लिये इनकी इसी रूप में उपासना की है और अपने कई पदों में दूलह-दुलहिन के रास-विलास का वर्णन किया है। सखियों को सब दिनों में विवाह का दिन ही प्रिय है, अतः वे युगल के करों में प्रति दिन कंकण बाँधे रखती हैं। वे युगल को विवाह का खेल खिलाती हैं, खेल का मंगल गाती हैं और उस खेल में उत्पन्न होने वाली रस-संपत्ति का चयन करती हैं। परस्पर छवि में छके हुए युगल नित्य सुहाग-रजनी का उपभोग करते रहते हैं।

दूलह-दुलहिन हाथ डोरना बाँध्यौ राखत सजनी।
यह दिन इनकौं प्यारौ लागै याही रस को भजनी ॥
खेल खिलावैं, मंगल गावैं, लुनै सुख-सीर उपजनी।
वृन्दावन हित रूप छके छवि नित सुहाग की रजनी ॥

(युगल-सनेह-पत्रिका)

सखियों की इच्छा ही इस विवाह का एक मात्र मुहूर्त है।

सखियन के मन एसी आई। ब्याह-विनोद रचैं सुखदाई।
यहै बात सब के मन भाई। आनंद मोद बढ़यौ अधिकाई ॥

विवाह-विनोद का उत्साह होते ही 'सखी गण रँग-भीने दूलह-दुलहिन को सोलह शृंगारों से मंडित करके रत्नों से गुँथे हुए जलज के सेहरे धारण कराती हैं। सेहरा पहिनते ही युगल के मुख पर 'मैन की पानिप' (लावण्य) चढ़ जाती है और उनके उस समय के रूप को देख कर कोटि रति-काम उनके चरणों पर न्यौछावर हो जाते हैं। युगल की छवि का वितान ही विवाह-मंडप बन जाता है और हित की बंदनवारें कुंज-भवन के द्वारों पर बाँध दी जाती हैं। मोर और मराल सुहावने गीत गाने लगते हैं। सखी गण निकुंज के आँगन को कुम-कुम से लीप कर अद्‌भुत् मोतियों के द्वारा 'चौक' की रचना करती हैं। शैया ही विवाह की वेदी बनती है और उस पर युगल को विराजमान करके सखी गण उनसे 'नेह की देवी' का पूजन कराती हैं। परस्पर दर्शन से युगल के दृग-रूपी अंचलों में गाँठ लग जाती है और दोनों के मन भाँवर लेने लगते हैं। युगल ने प्रेम के कँगना पहिन रखे हैं, जो रूप की सुदृढ़ डोरी में पुवे होने के कारण कभी नहीं टूटते। सखीगण उल्लास पूर्वक विवाह की विविध रस-रीतियों का निर्वाह करती हैं और अंचल पसार कर युगल को असीस देती हैं 'तुम दोनों का सुहाग पल-पल में बढ़ता रहे और हम अपने नेत्रों का सुख लेती रहें।'

अंचल ओटि असीस सखी सब देंहिरी।
पल-पल बढ़हु सुहाग नैन-सुख लैंहिरी ॥

[श्री ध्रुवदास-बिहावली]

श्री ध्रुवदास कहते हैं, 'रसिकों के मन को मोहित करने वाले वृन्दावन में दूलह-दुलहिन का विवाह सहज रूप से होता रहता है। यह दोनों नित्य ही विवाह के पट-भूषणों से सज्जित रहते हैं और नित्य ही नवल वय का उपभोग करते हुए एकरस बने रहते हैं।'

श्री बृन्दावन धाम रसिक मन मोहई।
दूलह-दुलहिनि ब्याह सहज तहाँ सोहई ॥
नित्य सहाने पट अरु भूषण साजहीं।
नित्य नवल सम वैस एक रस राजहीं ॥

श्री हरिराम व्यास ने एक पद में इन नित्य दुलहिनी-दूलह के रास का वर्णन किया है। पद के अंत में उन्होंने कहा है कि इस लीला के मन में आते ही उनको श्री शुकदेव-वर्णित रास विस्मृत होगया है।

दुलहिन-दूलह खेलत रास।
धीर समीर तीर जमुना के जल-थल कुसुम विकास ॥
द्वादस कोस मंडली जोरी फिरत दोऊ अनियास।
बाजत ताल मृदंग संग मिलि अंग सुधंग विलास ॥
थके विमान गगन धुनि सुनि-सुनि तार्नानि कियौ बिसास।
या रस कौं गोपिनु घर छाँड़्यो सह्यौ जगत उपहास ॥
मोहन मुरली नैकु बजाई श्रीपति लियौ उसास।
नूपुर-ध्वनि उपजाइ विमोह्यो संकर भयौ उदास ॥

कंकन किंकनि धुनि सुनि नारद कीन्हौ कहूँ न बास।
यह लीला मन आवत ही शुकदेवहिं बिसरयौ व्यास ॥
[व्यासवाणी-पद २५७]

शुकदेव जी ने जिस लीला का वर्णन किया है वह भगवान और गोपियों की लीला है। दूलह-दुलहिन की लीला दो समान रसिकों का रस-विहार है। यह दोनों केवल रसिक हैं और कुछ नहीं। भगवत्ता और गोपीत्व सहज प्रेम की दृष्टि से विजातीय तत्व हैं। इनके आ जाने से प्रेम और उसका विलास अपनी स्वाभाविक स्थिति में नहीं रहने पाते।

दूलह-दुलहिन के रास-विलास को हितप्रभु नें 'सहज प्रेमोत्सव' कहा है। सहज प्रेम में प्रेम-भिन्न अन्य किसी वस्तु का स्पर्श नहीं होता। देश, काल, पात्र आदि की मर्यादायें इस प्रेम से बहुत इस तरफ रह जाती हैं। यह नेम-शून्य और सर्वथा निष्काम होता है। 'सहज-प्रेमोत्सव' का परिचय देते हुए हित-प्रभु ने बतलाया है कि इस उत्सव में 'न तो उपकार की अपेक्षा है और न स्तुति की; यहाँ न तो किसी प्रकार का अपराध है और न किसी प्रकार का संभ्रम [हड़बड़ाहट]। यहाँ तो केवल एक अनिर्वचनीय लावण्य का चमत्कार है, सर्वदा एक-सा रहने वाला नवीन कैशोर-वय है, कहीं न दिखलाई देने वाला अद्भुत रूप है, परमाश्चर्यमय केलि-कला-विलास-चातुर्य है।

सा लावण्य चमत्कृति र्नववयो रूपं च तन्मोहनं।
तत्तत्केलि-कला-विलास-लहरी-चातुर्यमाश्चर्यभू ॥
नो किंचित्कृतमेव यत्र न नुति र्नागो न वा संभ्रमो।
राधा माधवयोः सकोऽपि सहजः प्रेमोत्सवः पातुवः ॥

सेवक जी ने श्रीहित हरिवंश द्वारा दर्शित विहार का स्वरूप-वर्णन करते हुए कहा है 'इस विहार में नित्य-नूतन सुख-चैन के आश्रय श्याम-श्यामा स्वयं अपनी ही प्रीति के वश में रहते हैं और लोक-वेद की मर्यादा तोड़कर रस के रंग में क्रीड़ा करते रहते हैं। उनकी जैसी रुचि होती है वैसे सुरत-प्रसंग [शृंगार-केलि] वे निर्भय होकर करते हैं। उन के ललित अंगों की चंचल भाव-भंगियों को देख कर शृंगार की कलायें लज्जित होती रहती हैं। श्री हित हरिवंश का यह विहार अद्भुत है। रसिक गण इसको देखकर जीते हैं और इसका विस्तार, श्रवण और गान करके क्षण-क्षण में लीला रस का पान करते रहते हैं।

नवल-नवल सुख-चैन-ऐन आपुने आपु बस।
निगम-लोक-मर्याद भंजि क्रीडंत रंग रस।
सुरत-प्रसंग निसंक करत जोई-जोई भावत मन।
ललित अंग चल भंगिभाय लज्जित सु कोक गन॥
अद्भुत विहार हरिवंश हित निरखि दासि सेवक जियत।
विस्तरत, सुनत, गावत रसिक नित-नित लीला-रस पियत॥

इस अद्भुत विहार को पंचशर कामदेव ने किसी प्रकार देख लिया और उसके बाण उलट कर उसी के लग गये और उसका सारा शरीर जर्जरित हो गया। महा अनंग मोहित और लज्जित हो गया और उस दिन से अपना सिर ऊँचा नहीं उठाता।

पंचबान जेहि पानि हैं देखि गयौ यह रंग।
तेई बान तेहि फिरि लगे जर जर भये सब अंग॥

बिबस भयो सुधि रही न कछु मोह्यौ महा अनंग ।
लज्जित ह्वै रह्यौ नमित अति करत न सीस उतंग ॥

(भजनाष्टक)

श्याम-श्यामा की काम-क्रीड़ा को देखकर हमारी कामवृत्ति की यही स्थिति बनती है । इस लीला की एक झलक मात्र से वह सदैव के लिये मोहित, लज्जित और विवश बन जाती है और फिर तो, नित्य-नूतन प्रेम स्वरूप वृन्दावन की निकुंज-वीथियों को सँवारने का काम उसका रह जाता है ।

श्याम-श्यामा के बीच में जो काम है, वह प्रेम का काम है । हम काम-वृत्ति पर आधारित प्रेम से परिचित हैं । श्याम-श्यामा का काम प्रेम पर आधारित है, इसीलिये वह प्रेम के समान ही नित्य-नूतन बनता रहता है । यह काम शुद्ध प्रेममय है । केवल शृङ्गार रस के आस्वाद के लिये प्रेम और काम भिन्न बन रहे हैं । इन दोनों के परस्पर मिलने से ही उज्वल प्रेम-रस का आस्वाद होता है । वृन्दावन में एक मात्र प्रेम की दुहाई फिरती है, 'तहाँ प्रेम की एक दुहाई' । स्वयं श्याम-श्यामा, उनकी काम-क्रीडा, क्रीडा के उपकरण और उस क्रीडा में प्रगट होने वाले अनुभाव आदि सब प्रेममय हैं ।

प्रेम के खिलौना दोऊ, खेलत हैं प्रेम खेल,
प्रेम फूल फूलनि सौं प्रेम सेच रची है ।
प्रेम ही की चितवनि, मुसिकन प्रेम ही की,
प्रेम रँगी बातैं करैं, प्रेम केलि मची है ॥

(श्री ध्रुवदास)

हमारे परिचित काम को दो व्यक्तियों के बीच में उदित होने के लिये थोड़ी दूरी की अपेक्षा होती हैं। निकटतम संबंधों के प्रति कामोत्पत्ति नहीं देखी जाती। श्याम-श्यामा एक ही प्रेम के दो 'खिलौना' हैं। यह स्वभावतः एक दूसरे के इतने निकट हैं कि इन के बीच में लौकिक काम के लिये अवकाश ही नहीं है।

लोक में देखा जाता है कि दो व्यक्तियों के बीच में उत्पन्न होकर काम उन दो को एक बनाता है। वृन्दावन में प्रेम के सर्वथा एक बने हुए भोक्ता-भोग्य काम के द्वारा पुनः दो बनाये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त, श्याम-श्यामा की रस-भोग की परिपाटी अत्यन्त विलक्षण है। इनकी काम-केलि के सर्वांग वर्णनों के साथ श्री ध्रुवदास यह भी कहते हैं, 'प्रेम के रंग से रँगे हुए रसिक श्यामसुन्दर अपनी प्रिया के अंगों का स्पर्श मन के हाथों से भी नहीं करते। प्रेमलता-सी उनकी प्रिया अत्यन्त सुकुमार हैं और वे उनके ऊपर अपने प्राणों की छाया किये रहते हैं। प्रिया का किंचित् हास ही उनके लिये संपूर्ण विलासों का सार है और उसको देख कर वे अन्य सब सुख भूल जाते हैं। अत्यन्त आसक्ति की गति ही ऐसी होती है कि वे प्रिया पर रीझ-रीझ कर दूर से ही उनके चरणों का बंदन करते रहते हैं।

छुवत न रसिक रँगीलौ लाल प्यारी जू कौं,
मन हूँ के करनि सौं छुवत डरत है।
प्रेम की नवलासी प्यारी सहज ही सुकुमारी,
प्रानन की छाया तिन ऊपर करत है।

नैकु ही कौ हास सखी, सार है विलासन कौ,
जाके हेरे और सब सुख बिसरत है ।
अतिही आसक्तता की हित ध्रुव यहै गति,
रीझि-रीझि दूरि ही तें पाइन परत है ॥

प्रेम का काम एक अनोखी चीज है । अपनी प्रिया का क्षरण-क्षरण में आलिंगन करते हुए भी श्यामसुन्दर उनको कभी मन के हाथों से भी नहीं छूते, यह बात इस प्रेम मय काम-क्रीडा में ही संभव बनती है । यहाँ प्रेम और काम अपनी शुद्धतम और तीव्रतम कोटियों में रहते हैं और आस्वादक के चित्त की स्थिति अनुकूल बने बिना उनका अनुभव नहीं होता । प्रेम मयी काम-क्रीडा के अनुभव में हमारा लौकिक काम ही बाधक बनता है । वह युगल के बीच में अपनी सी चेष्टायें होती देख कर उनको अपनी ही चेष्टायें मान लेता है और उनके वास्तविक रूप को नहीं समझ पाता । सेवक जी ने 'काचेधर्मियों' के प्रकरण में उन लोगों को निन्दनीय बतलाया है जो इस काम-क्रीडा को समझाते हुये लौकिक वल्लभों–प्रेमीजनों–की प्रीति से श्री राधावल्लभ के प्रेम को प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं और भगवत् प्रेमलीला को लौकिक कामोपभोग का ही मुलम्मा-पालिश-किया हुआ रूप मानते हैं ।

'एक मुलम्मा सौं देत उघारि जु वल्लभ सौं बल्लभ परमानत'
(से० वा० १४-१०)

चाचा हित वृन्दावन दास के शब्दों में 'अनुभव हीन लोग भगवत् प्रेमलीला को लौकिक रसों में सानते हैं । इस लीला के मर्म को न जानकर यह लोग इसके संबंध में तर्क उठाते हैं

और अपने को प्रवीण मानते हैं। गौर-श्याम का प्रेम अनोखा है और बिरले रसिक ही उसको पहिचान पाते हैं। इस प्रेमलीला में स्वयं रस और रूप ने आस्वादकों के लिये दो वपु धारण किये हैं।'

सब रस एकमेक करि साने अनुभव करि उर हीने।
मरम न पावैं, तरक उठावैं, अपु कौं मान प्रवीने॥
गौर-श्याम कौ प्रेम इकौना बिरले रसिक जु चीन्हे।
रस पुनि रूप सबादिनु वृन्दावन हित द्वै वपु कीन्हे॥

(युगल-सनेह-पत्रिका)

हितप्रभु ने, एक पद में, इस अनोखी शृंगार-रस रूपी नदी को जगत-पावनी कहा है, 'सौरत रस-रूप नदी जगत-पावनी'। दूसरे पद में उन्होंने नव निकुंज की शृंगार-केलि को जगत के द्वारा वंदना करने योग्य बतलाया है—नव निकुंज, श्याम-केलि जगत वंदिनी।

श्री हरिराम व्यास ने अपने भाग्य की सराहना करते हुए राधा-हरि के इस परम पावन अनुराग की वंदना की है।

बन्दौं राधा-हरि कौ अनुराग।
तन-मन एक, अनेक रंग भरे, मनहुँ रागिनी-राग॥
अंग-अंग लपटाने मानहुँ, प्रेम-रंग कौ पाग।
रूप अनूप सकल गुण सीवाँ, कहत न बनै सुहाग॥
विहरत कुंज कुटीर धीर, सेवत वृन्दावन बाग।
निश दिन छिन न चरन छाँड़त अब व्यास दास कौ भाग॥

(व्यासवाणी पृ० २०२)

श्याम सुन्दर

श्रीकृष्ण की प्रेम-स्वरूपता को स्थापित करने वाला प्रधान पुराण श्रीमद्भागवत है। कृष्णोपासक वैष्णव संप्रदायों में इस पुराण का आदर बहुत अधिक है। किन्तु इसमें एवं अन्य पुराणों में श्रीकृष्ण प्रेम-पात्र के रूप में सामने आते हैं। नंद-यशोदा, सखागण और ब्रज-गोपिकाओं के, जिनमें श्रीराधा भी सम्मिलित हैं, एक मात्र प्रेमाधार वही हैं। वे परात्पर तत्व हैं और उनका समस्त परिकर और धाम उनकी विभिन्न शक्तियों के विलास हैं।

वृन्दावन-रस के रसिकों ने श्याम सुन्दर को प्रेमी के रूप में चित्रित किया है। प्रेमी वह है जो प्रेमतृषा से पूर्ण है। प्रेमी के प्रेम का विकास प्रेमतृषा के द्वारा ही होता है। जिसमें जितनी प्रेमतृषा होती है वह उतना ही बड़ा प्रेमी होता है। यह तृषा ही प्रेमी को प्रेमाधीन बनाती है। अपनी तृषा के कारण प्रेमी सहज रूप से प्रेम पात्र के अधीन होता है। प्रेम-तृषा जितनी बढ़ती है उतनी ही प्रेमाधीनता बढ़ती है और प्रेमाधीनता जितनी बढ़ती है उतनी ही प्रेमी की अन्य अधीनताएँ, उसके अन्य बन्धन, शिथिल होते जाते हैं। वह अन्य दिशाओं से सिमिटता जाता है। यह बात जितनी सत्य लोक के प्रेमियों के लिये है, उतनी ही प्रेमी बने हुए भगवान के लिये है। प्रेमी बनने पर न तो जीव ही अपने ठिकाने पर रहता है और न भगवान ही। प्रेम-राज्य में प्रवेश करने पर दोनों की स्थिति कुछ-की-कुछ बन जाती है और उनको उनके पूर्व रूप और गुणों से

पहिचानना कठिन हो जाता है। 'प्रेम की एक मात्र सीमा' और 'मधुर-रस-सुधासिन्धु के सार से अगाध बनी हुई' श्रीराधा के प्रेम में पड़ कर श्याम सुन्दर चारों ओर से इतने सिमिट गये हैं कि सृष्टि-रचना और पालन की बात तो दूर रही, वे अपने नारदादि भक्तों को भूल गये हैं, अपने श्रीदामा आदि मित्रों से नहीं मिलते और अपने माता-पिता के स्नेह की वृद्धि नहीं करते। अब तो मधुपति केवल कुंज-वीथियों की उपासना करते हैं।'

दूरे सृस्ट्यादि वार्ता न कलयति मनाङ् नारदादीन्स्वभक्तान्।
श्रीदामाद्यैर्सुहृद्भिर्न मिलति च हरेत्स्नेह वृद्धिं स्व पित्रोः॥
किन्तु प्रेमैक सीमां मधुर-रस-सुधासिन्धु सारै रगाधां।
श्रीराधा मेव जानन् मधुपति रनिशं कुंज वीथी मुपास्ते॥
(राधा सुधानिधि-२३५)

भक्त और भगवान के बीच का प्रेम-बंधन बड़ा सुदृढ़ माना जाता है। भगवान की भक्त-वशता के अनेक चमत्कार पूर्ण वर्णन भक्ति-साहित्य में मिलते हैं। भगवान के द्वारा इस बंधन की विस्मृति का अर्थ यह है कि 'कुंज-वीथियों की उपासना' में उनको अपनी भगवत्ता ही विस्मृत हो गई है। वे शुद्ध प्रेम-स्वरूप बन गये हैं। उनका प्रेम इतना उज्वल और एक रस बन गया है कि उसके आगे भगवत्ता फीकी पड़ गई है। उनकी 'निकुंज' की स्थिति का वर्णन करते हुए श्री ध्रुवदास कहते हैं, 'यहाँ श्यामसुन्दर ने अपने बड़प्पन को इस प्रकार छोड़ा है कि अब उसकी बातें भी उनको नहीं सुहातीं। वे श्रीराधा को पाकर अपने भाग्य को धन्य मानते हैं और अब उनकी एक

मात्र अभिलाषा श्री राधा के नैनों में अंजन बनकर रहने की है ।'

भये दीन यौं तजी बड़ाई, पुनि ताकी बातें न सुहाईं ।
मानत हैं धनि भाग बड़ाई, एसी कुँवरि किशोरी थाई ।।
अब मोकौं कछु और न चहिये, नैननि में अंजन ह्वै रहिये ।

(नेह-मंजरी)

सूरदासजी ने गोपियों को 'प्रेम की धुजा' कहा है । उनके अद्भुत राग का अनुगमन करके ही प्रेम-राज्य में प्रवेश होता है । नित्य प्रेम-विहार में सखीगण श्यामसुन्दर से 'कुंज महल की वाट' बताने की प्रार्थना करती हैं ।

छैल छबीले हो लाल, लटकत-लटकत आईयो ।
कुंज महल की हो बाट, लाल रूप दरसाईयो ।।

(श्री रूपलाल गोस्वामी)

श्याम सुन्दर में प्रेमी की अकल्पनीय दशायें प्रकट होती हैं । श्रीराधा में उनकी आसक्ति इतनी प्रवल है कि उसकी समता ढूंढ़े नहीं मिलती ।

वे स्वयं मदन मोहन हैं । उनकी परछांही देखकर कोटि मदन व्याकुल हो जाते हैं ।

देखत ही तिनकी परछांहीं, मदन कोटि व्याकुल ह्वै जाहीं ।

किन्तु श्रीराधा के प्रेम-सौन्दर्य ने उनको इतना अधीर बना रखा है कि 'कोटि कामिनी-कुल' से घिरे रहने पर भी उनको धीरज नहीं बँधता ।

'निकट नवीन कोटि कामिनि-कुल धीरज मनहिं न आनै'

(हि० च० ४१)

श्यामसुन्दर की अद्‌भुत आसक्ति की परस्पर चर्चा करते हुए सखीगण कहती हैं, 'हम इनके नेत्रों की बात क्या कहैं। ये श्रीराधा के मुख-कमल-रस में भ्रमर के समान अटके हुए हैं और अन्यत्र नहीं जाते। जब ये पलकों के संपुट में रुकते हैं तो अत्यन्त आतुर बनकर अकुलाने लगते हैं। श्रीराधा के कानों के कमल, नेत्रों के अंजन और कुचों के बीच के मृगमद बन कर भी इनको शांति नहीं मिलती। श्यामसुन्दर तो अपनी और प्रिया की देहों को एक कर लेना चाहते हैं।'

कहा कहौं इन नैननि की बात।
ये अलि प्रिया-वदन-अंबुज-रस अटके अनत न जात ॥
जब-जब रुकत पलक संपुट लट अति आतुर अकुलात।
लंपट लव निमेष अंतर तैं अलप कलप सत-सात ॥
श्रुति पर कंज, दृगंजन, कुच बिच मृगमदह्वै न समात।
(जैश्री) हित हरिवंश नाभि सर जलचर जाँचत साँवल गात ॥

(हि० च० ६०)

किन्तु इसमें एक कठिनाई आती है और उससे घबरा कर वे आकुलता पूर्वक श्रीराधा से कहते हैं, 'हे प्रिया, मन तो यह चाहता है कि तुम्हारे मन के साथ अपने मन को मिला कर तुम्हारे तन को अपने तन में समालूँ। किन्तु फिर तुमको देखूँगा कैसे ? यह प्रश्न नहीं सुलझता। मेरी आसक्ति केवल तुममें है और मैं जीवन का यही लाभ मानता हूँ कि मेरे नेत्र तुम्हारे नेत्रों से मिले रहैं। मैं अति दीन हूँ और मेरी इतनी सामर्थ्य कहाँ है कि तुम्हारे भ्रू-विक्षेप को सह सकूँ। अब तो

तुम ही इस काम-दग्ध बेचारे को अपने बाँह-बल से बचा लो।

एसी जिय होय जो जिय सौं जिय मिलै,
तन सौं तन समाया ल्यौं तौ देखौं कहा हो प्यारी ?
तोहिसौं हिलग, आँखिन सौं आँख मिली रहैं,
जीवन कौ यहै लहा हो प्यारी ।
मोकौं इतौ साज कहाँ री प्यारी, हौं अति दीन तुवबस,
भुव-छेप न जाइ सहा हो प्यारी ।
श्रीहरिदास के स्वामी स्याम कहत राखिलै बाँहबल,
हौं बपुरा काम-दहा हो प्यारी ।

[केलिमाल-३५]

प्रेम-चक्र में पड़े हुए श्यामसुन्दर की इस विषम स्थिति को ध्रुवदासजी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है, 'जब घनश्याम अपनी प्रिया का गाढ़ आलिंगन करते हैं तब वे उनको देख नहीं पाते और उनके नेत्र विरही हो जाते हैं और जब वे उनकी छवि देखने लगते हैं तब,परस्पर न मिलने से, विरह उनके अंगों में संचरित हो जाता है।'

जब ही उर सौं घुर लपटाहीं, तब नैना विरही ह्वै जाहीं।
छूटैं जबहिं छवि देख्यौ करैं, विरह आनि अंगनि संचरैं ।।

श्रीराधा के आश्चर्यमय प्रेम-सौंदर्य का प्रभाव श्यामसुन्दर के परम रसिक चित्त के ऊपर बड़ा अद्‌भुत पड़ता है। सखीगण से उसका वर्णन करते हुए वे कहते हैं,

'प्रिया की अंग-अंग की छवि पर मेरे नेत्र इस प्रकार बिके हुए हैं कि उसका अवलोकन करते समय इनके ऊपर

अकथनीय 'भीर' पड़ जाती है। हे सखि, प्रिया का अंग-अंग अगाध रूप की अवधि है और मेरी विचारी रसना उनका वर्णन नहीं कर सकती। जिसको देखने मात्र से तन और मन छवि-सिन्धु में डूब जाते हैं, उसको हृदय के भीतर लाने से कैसी कठिन स्थिति बनती होगी ! हजार चतुरता और बुद्धिबल लगाने से इस प्रेम मार्ग में काम नहीं चलता। यहाँ तो प्राण प्रिया जिसको मानले वही ठीक है, स्वयं चतुर बनने से कुछ नहीं होता। मैं तो प्रिया के हाथ की कठपुतली हूँ। वे मेरे हित को लक्ष्य में रखकर मुझको जैसे नचाती हैं, मैं वैसे ही नाचता हूँ। मेरे सुख की स्थिति, मेरा जीवन, मेरा बल-वित्त, मेरा सर्वस्व दूसरे के हाथ में पड़ गया है'।

मेरे नैना ही यह जानैं।
जेतिक भीर परत अवलोकत ठौर-ठौर छवि माँझ बिकानैं ॥
रूप अगाध अवधि सखि अँग-अँग रसना वपुरी कहा बखानैं।
तन-मन बूड़ि जात देखत ही कहा होइ उर भीतर आनैं ॥
सुधि-बुधि-बल-वितु-चतुर-चातुरी कछु न सरैं कौटिक जोठानैं।
प्रान प्रिया सँभराये समझिये कहा कहाये आप सयानैं ॥
हौं तौ दारु-पुतरिया प्रिया कर नचवत हितकर जैसे जानैं।
सर्वसु सुखथितु जीवन बलवितु नागरी दास हम हाथ बिरानैं ॥

[नागरीदास जी]

इतने तृषातुर, दीन और अधीर प्रेमी के लिये प्रेम-पात्र का पूजन करने के अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं रह जाता। उनकी अपनी अनंत प्रेम-तृषा और श्रीराधा के अपार प्रेम-सौन्दर्य ने मिलकर श्यामसुन्दर को सर्वथा अभिभूत कर लिया है और वे

श्री राधा के वास्तविक पूजक बन गये हैं। उनका उद्दाम प्रेम प्रेम-लक्षणा-भक्ति बन गया हैं। जिस प्रेम में प्रेमपात्र का पूर्ण गौरव प्रकाशित रहता है और उसकी रूप एवं गुण-गरिमा के कारण उसके प्रति पूज्य भाव जाग्रत हो जाता है, वह प्रेम-लक्षणा-भक्ति कहलाता है।

श्रीमद् भागवत में भक्ति के नौ प्रकार बतलाये हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, और आत्म-निवेदन। उसका दसवाँ प्रकार प्रेम-लक्षणा भक्ति है। प्रेम के उदय के साथ नवधा-भक्ति का लय प्रेम-लक्षणा में हो जाता है और श्रवण-कीर्तनादिक प्रेम के आश्रित बन जाते हैं। प्रेम के रँग में रँग कर श्रवणादिक प्रेमास्वाद के विभिन्न प्रकारों के रूप में सामने आते हैं और प्रेमी के द्वारा सहज रूप से निष्पन्न होते रहते हैं। प्रेमी अपने प्रेमपात्र के गुणों का श्रवण करता है, मन में स्मरण करता है और समानमना व्यक्तियों में बैठ कर उसकी चर्चा करता है, कीर्तन करता है। वह प्रेम पात्र का दास्य और सख्य करता ही है और उसके प्रति आत्म-निवेदन भी करता है। पाद-सेवन, अर्चन और वंदन भी अधीर प्रेमियों में देखे जाते हैं।

'हित चतुरासी' में श्यामसुन्दर ने अपनी देह को श्रीराधा-पद-पंकज का सहज मंदिर बतलाया है, 'तव पद-पंकज कौ निजु मंदिर पालय सखि मम देह'। (पद—६६)

भक्ति का अर्थ 'सेवा' है। भक्ति के उदय के साथ सेवा का चाव बढ़ता है। सेव्य की रुचि लेकर उसकी सेवा करना, सेवा का आदर्श माना जाता है। अपनी अपार सेवा-रुचि को

श्रीराधा के आगे प्रगट करते हुए श्यामसुन्दर कहते हैं, 'हे प्रिया, तुम जहाँ चरण रखती हो वहाँ मेरा मन छाया करता फिरता है। मेरी अनेक मूर्तिया तुम्हारे ऊपर चँवर ढुराती हैं,कोई तुमको पान अर्पण करती है, कोई दर्पण दिखाती है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार की सेवायें, जैसा भी मुझे कोई बतला देता है, मैं तुम्हारी रुचि लेकर करता रहता हूँ। इस प्रकार, हर एक उपाय से मैं तुम्हारी प्रसन्नता प्राप्त करने की चेष्टा करता हूँ।'

जहाँ-जहाँ चरण परत प्यारीजू तेरे। तहाँ-तहाँ मेरौ मन करत फिरत परछाँही। बहुत मूरति मेरी चँवर ढुरावत, कोऊ बीरी खवावत, एक आरसी लै जाहीं। और सेवा बहुत भाँतिन की जैसी ये कहैं कोऊ तैसी ये करौं ज्यौं रुचि जानौं जाही। श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कौ भलौ मनावत दाइ उपाई।

[स्वामी हरिदासजी–केलिमाल. ५३]

श्रीराधा-नाम का माहात्म्य ख्यापन करते हुए हिताचार्य ने कहा है 'जिसका स्वयं श्रीहरि प्रेम पूर्वक श्रवण करते हैं, जाप करते हैं, सखीजनों में सहर्ष गान करते हैं तथा प्रेमाश्रु-पूर्ण मुख से उच्चारण करते हैं, वह अमृत-रूप-राधा–नाम मेरा जीवन है।'

प्रेम्णाऽऽकर्णयते, जपत्यथ, मुदा गायत्यथाऽलिष्वयं।
जल्पत्यश्रु मुखो हरिस्तदमृतं राधेति मे जीवनम्॥

[रा० सु० नि० ६६]

'द्वादश-यश'—कार स्वामी चतुर्भुजदासजी ने अपने 'श्रीराधा प्रताप यश' में श्यामसुन्दर के द्वारा श्रीराधा के प्रति

श्रवणादिकों का प्रेममय आचरण बड़े सुन्दर ढंग से दिखलाया है। प्रथम तीन के संबंध में वे कहते हैं,

श्रवणनि सुजस सखिनु पहँ सुनत, राधा नाम रैन-दिन भनत।
सुमिरन मन बिसरै नहीं।

श्रीराधा के अत्यन्त सुन्दर और सुकुमार चरणों पर रीझ कर श्यामसुन्दर उनमें जो जावक के द्वारा चित्र-रचना करते हैं वही 'पाद-सेवन' बन जाता है और प्रिया का नख-शिख शृंगार करते हैं वही उनका 'अर्चन' होता है।

जावक रचि चरननि जु बनाई, नूपुर माल रुचिर पहिनाई।
श्रीराधा सु प्रताप जस॥
मृगमद तिलक देत रचि भाल, पहिरावत पहुपनि की माल।
अपने कर कबरी गुथत॥
भूषण पट पहिरावत आइ, मुख बीरी हरि देत बनाइ।
दर्पन लै जु दिखावहीं॥
देखि रूप डारत तृन तोरि।..............................

वंदन, दास्य और आत्म निवेदन तो स्पष्ट ही है।

..............................वंदत चरन सीस कर जोरि।
दासंतन सब विधि करत॥
तन, मन, प्रान समर्पन कियौ, मीन-नीर ज्यौं, त्यौं पन लियौ।
श्रीराधा सु प्रताप जस॥

इस प्रकार, नवधा-भक्ति का सांगोपांग निर्वाह करने के बाद श्यामसुन्दर अपनी प्रियतमा से यह वरदान माँगते हैं।

माँगत दान मान जिन करौ, देहु बचन मेरे कर धरौ।
नितंत अति आनंद ह्वै॥

गोपीजनों का प्रेम श्रीकृष्ण की सौन्दर्य-गरिमा के कारण प्रेमाभक्ति बन गया था; निकुंज-विथियों में श्रीराधा की रूप-गरिमा के कारण श्यामसुन्दर का प्रेम प्रेमाभक्ति बना है। श्रीमद्भागवत में तथा कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में श्री कृष्ण ने गोपियों के प्रति भी अत्यन्त दैन्य और अधीनता प्रकट की है, किन्तु गोपीजनों के सामने वे अपनी कृतज्ञता के प्रकाशन के लिये दीन बने है। वे गोपीजनों के प्रेम के अधीन हैं, किन्तु यह अधीनता उस अधीनता से भिन्न है जो अपनी विवशता के कारण होती है। नित्य प्रेम-विहार में श्री राधा के प्रति अपने अपार अनुराग से विवश बनकर वे अधीन बने हैं। यह दैन्य उतना ही निर्व्याज, निर्हेतुक और सहज है जितना गोपी-जनों का उनके प्रति।

श्यामसुन्दर की उपरोक्त दोनों स्थितियों को सहचरि सुख जी ने बड़े रोचक ढ़ंग से व्यक्त किया है। अपने एक वसंत के पद में वे कहते हैं, 'जो 'रसिक छैल' अपनी छाँह तक किसी को नहीं छूने देते थे, वे अब श्रीराधा की छाँह छूना चाहते हैं और छू नहीं पाते। रस की दल-दल में फँस कर वे अपने सारे उत्पात भूल गये हैं। नित्य प्रेम-विहार में, सखियों ने उनको श्रीराधा के रंग में इस प्रकार रँग दिया है कि उस रंग से उन्होंने सारे व्रज को रँग डाला है।

छाँह छुवन नहि देत हुते अब चाहत छाँह छुवन नहिं पावत,
रस चहले फँसि भूले फैल।
सहचरि सुख बारी ललिता ने एसे रँगे राधे के बरन सौं,
रँगत चले सब व्रज की गैल॥

'व्रज की गैल' से पदकर्ता का तात्पर्य श्रीकृष्ण और गोपी जनों की, जिनमें श्रीराधा भी सम्मिलित हैं, उन व्रज-लीलाओं से है जिनमें श्रीकृष्ण उपास्य हैं और गोपियाँ उपासक हैं। इन लीलाओं से भिन्न राधा-श्यामसुन्दर की वे एकान्त लीलायें हैं, जिनमें श्रीकृष्ण के प्रति कान्त-भाव रखने वाली किसी अन्य गोपी का प्रवेश नही है। यह लीलायें 'निकुंज' की लीलायें कहलाती हैं। इनमें श्यामसुन्दर उपासक हैं और श्रीराधा उपास्य हैं। राधावल्लभीय सिद्धान्त में परात्पर प्रेम के प्रागट्य की जो चार भूमिकायें मानी गई हैं, उनमें से प्रथम भूमिका से संबंधित लीला 'निकुंज-लीला है और द्वितीय भूमिका से संबंधित लीला 'व्रज-लीला' है। व्रज की लीलायें निकुंज-लीलानुसारिणी तो नहीं होतीं किन्तु निकुंज में श्यामसुन्दर जिस अद्‌भुत् प्रेम-रंग में रँग जाते हैं, वही उनकी व्रज-लीलाओं कोरंगीन बनाता है।

प्रीति का यह स्वभाव है कि वह प्रेमपात्र में स्थिर होते ही उससे सम्बन्धित जड़-चेतन वस्तुओं में बड़े वेग के साथ संक्रमित हो जाती है और प्रेमपात्र से भी अधिक प्रियता प्रेमपात्र से सम्बन्धित वस्तुओं में हो जाती है। लोक में प्रीति का उल्लास विरहावस्था में अधिक देखा जाता है और यहाँ उसी समय उसका यह नैसर्गिक गुण अधिक स्पष्ट होता है। नित्य विहार में, जहाँ देखना ही विरह के समान है, प्रीति का यह लक्षण संयोगावस्था में ही प्रगट रहता है। ध्रुवदासजी बतलाते हैं कि 'जहाँ प्रियतमा चरण रखती हैं, नंदनंदन उस जगह को देखते रह जाते हैं। हे सखी, रसिक शिरोमणि के विना इस

सुख को कौन समझ सकता है ? उस जगह को देखकर उनके दोनों नेत्र भर आये हैं और वह नेह के बस होकर झूम रहे हैं। उनको सोच यह है कि जहाँ प्रिया ने चरण रखे हैं वहां मेरे प्राणों की भूमि क्यों न हुई ?

धरति भाँवती पग जहाँ रहत देखि तिहि ठौर ।
को समुझै यह सुख सखी विना रसिक शिरमौर ।।
भरि आये दोउ नैंन जहँ रहे नेह वस झूमि ।
तिहि-तिहि ठाँ काहे न भइ इन प्राणनि की भूमि ।।

(प्रेमावली)

कभी अपनी प्रियतमा के साथ बन-विहार करते हुये वे देखते हैं कि वृन्दावन के पत्र-फूलों की ओर प्रिया अत्यन्त स्नेह भरी दृष्टि से देख रही हैं। 'वे प्रीति से व्याकुल होकर उन पत्र-फूलों का अपने नेत्रों से इसलिये स्पर्श करते फिरते हैं कि उनके प्राणप्रिया के दृग-छटा-जल से उनका सिंचन हुआ है।'

नैंननि छुवावत फिरत पिय पत्र फूल बन जेत।
प्राण प्रिया दृग-छटा-जल सींचे सखि यह हेत ।।

[प्रेमावली]

ध्रुवदासजी कहते हैं 'जहाँ प्रियतम रहता है उस देश का पवन भी प्रिय लगता है, प्रेम की छटा को जाने विना कोई इस सुख को नहीं समझ सकता।'

जहाँ प्रियतम तिहिं देश की प्यारी लागत पौन।
प्रेम-छटा जाने बिना यह सुख समुझै कौन ।।

(ख्याल हुलास)

हितप्रभु ने अपने श्री राधा सुधा निधि स्तोत्र को प्रेम की इस छटा के साथ ही आरंभ किया है। ग्रन्थ के प्रथम श्लोक में वे वृषभानु-नंदिनी को वंदना करते हुये कहते हैं 'जिनि के नीलांचल के अनायास हिलने से उठे हुए धन्यातिधन्य पवन का स्पर्श पाकर, योगीन्द्रों के लिये अति दुर्गम गति मधु-सूदंन अपने आपको कृत कृत्य मानते हैं मैं उन वृषभानु-नंदिनी की दिशा को भी प्रणाम करता हूँ।'

यस्या कदापि बसनांचल खेलनोत्थ—
धन्यातिधन्य पवनेन कृतार्थं मानी।
योगीन्द्र दुर्गम गतिर्मधुसूदनोऽपि—
तस्या नमोस्तु वृषभानु भुवो दिशेऽपि॥
[रा० सु० १]

प्रेमपात्र से सम्बन्धित वस्तुओं के असाधारण महत्व को प्रदर्शित करने के लिये हितप्रभु ने ग्रन्थ के पहिले श्लोक में वृषभानु नंदिनी की दिशा को नमस्कार करके दूसरे श्लोक में उनकी सर्वातिशायी महिमा को एवं तीसरे और चौथे श्लोक में उनकी रस-काम-धेनु-स्वरूपा चरण-रेणु को प्रणाम किया है। पाँचवें श्लोक में स्वयं श्रीनिकुंज देवी की वन्दना की है। प्रिय से सम्बन्धित वस्तुओं के साथ जब श्यामसुन्दर के प्राणों की इतना गहन सम्बन्ध है तो जिन दासियों के ऊप प्रिया की करुणा और ममता है, उनके तो यह रसिक शेखरदास हैं श्रीध्रुवदास जी कहते हैं 'प्रियतम की प्रीति की रीति को सुनकर हृदय में उल्लास होता है। प्रियतम की जितनी दासी हैं उनके वे दास बने हुये हैं।

पिय की प्रीति की बात सुनि हिय में होत हुलास।
दासी जहँ लगि प्रिया की ह्वै रहे तिनके दास।।

[मन शृंगार]

प्रेम मार्ग दासता एवं पराधीनता का मार्ग है किन्तु यह वह दासता है जिसकी वन्दना ईशता करती है। नंदनंदन ने इस घर के दासों का दास बन कर इस पदवी को अकल्पनीय उच्चता प्रदान करदी है।

प्रिया के वस्त्राभूषणों के प्रति भी विहारीलाल का अमित आकर्षण है। उन वस्त्राभूषणों को धारण करने का चाव उनके चित्त में सदा बना रहता है। 'उन पट-भूषणों को पहिन कर वे सहचरि का वेश बनाते हैं और अत्यन्त अनुराग पूर्वक हाथ में फूलों का पंखा लेकर प्रिया की सेवा में घूमते रहते हैं।'

ते पट-भूषण पहरि पिय, सहचरि कौ वपु बानि।
फिरत लिये अनुराग सौं, कुसुम बीजना पानि।।

[श्री ध्रुवदास-प्रेमावली]

सखी वेश में उनका त्रिभुवन-विमोहन रूप और भी निखर आता है। स्वामी हरिदास जी उनकी इस विचित्रता पर आश्चर्य प्रगट करते हुए कहते हैं, 'हे श्याम किशोर जू, तुम्हारे अंग पर तुम्हारा पीतांवर एवं श्रीराधा की चूनरी समान रूप से खिलते हैं। तुमको ऐसा रूप कहाँ से मिला है, इस उधेड़-बुन में मैं रात-दिन पड़ा रहता हूँ।'

श्यामकिशोर जू तुमकौं दोऊ रंग रंगित पीतांवर-चूनरी।
एसौ रूप कहाँ तुम पायौ अहंनिस सोच उधेरा-बूनरी।।

अपने वस्त्राभूषणों के द्वारा घनश्याम के रूप की अभिवृद्धि होती देखकर श्रीराधा स्वयं उनकी वेश-रचना को पूर्ण बना देती हैं। वे हँसकर लाड़ सहित श्याम सखी के भाल पर सौभाग्य चिह्न—बेंदी—लगाती हैं और अपनी बेसर उनको पहिना देती हैं। श्यामसुन्दर के मन में मोद बढ़ जाता है और उनके मुख पर नई रूप-छटा चढ़ जाती है। श्रीराधा और सखीगण उनकी ओर निर्निमेष दृष्टि से देखते रह जाते हैं।

चूनरी लाल सुरंग छबीली की, ओढ़ै छबीलौ महा छवि पाई।
केसन गूँथि रची रुचि माँगरु, नैननि अंजन-रेख बनाई॥
बेंदी दई हँसि लाड़िली रंग सौं, बेसर लैं अपनी पहिराई।
रूप चढ़्यौ, मन मोद बढ़्यौ, ध्रुव देखत नैन निमेष भुलाई॥

[श्रीध्रुवदास-भजन श्रृंगार]

रसिक भक्तों ने श्रृंगार-मूर्ति श्यामसुन्दर के रूप-गुण का आस्वाद अनेक प्रकार से किया है। मीराबाई के समान कुछ भक्तों ने उनको अपना परमकांत मान कर उनके साथ सीधा संबंध स्थापित किया है। अन्य भक्तों ने श्रीराधा किंवा गोपीगण के राग का अनुगमन करके उनके रूप-माधुर्य का आस्वाद किया है। हिताचार्य का प्रकार इन दोनों से भिन्न है। वे श्रीकृष्ण को अपना प्राणवल्लभ नहीं मानते और न श्रीराधा के राग का अनुगमन करके उन तक पहुँचने की चेष्टा उनकी है। उनकी 'प्राणनाथ' श्रीराधा हैं और उनही के नेह-नाते से श्यामसुन्दर उनको प्रिय हैं। श्रीराधा के चरणों में घनश्याम की अत्यन्त आसक्ति देखकर व्यास कुमार (हितप्रभु) उन पर रीझ गये

है और उन्होंने इस 'अविचल जोड़ी' को अपने हृदय का हार बना लिया है ।

व्यासनंद के प्राणधन गौर वर्ण निजु नाम ।
ताके नाते नेह सौं प्यारौ प्रीतम श्याम ।।
अति आसक्ति लखि लाल की रीझे व्यास कुमार ।
यह जोरी अविचल सदा कीन्ही निजु उर-हार ।।
[सुधर्म बोधिनी]

श्रीराधा

भारतीय रसिकता, अपने सुदीर्घ इतिहास में, जिन सौन्दर्य प्रतिमाओं के आगे नत-शिर हुई है, उनमें श्रीराधा सर्वोज्ज्वल हैं । विद्वानों ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि श्रीराधा के स्वरूप का क्रम-विकास हुआ है । इस संबंध में श्री शशिभूषण दास रचित 'श्री राधा रक्रम-विकास' नामक बंगला पुस्तक द्रष्टव्य है ।

दास महाशय ने इस ग्रन्थ में पद्म पुराण और नारद पंचरात्र से श्रीराधा-संबंधी उद्धरण दिये हैं और कहा है कि इन वर्णनों को देखकर पूर्ण संदेह होता है कि यह सब राधा-कृष्णोपासक संप्रदायों के उदय के बाद इन पुराणों में जोड़े गये हैं । राधाकृष्ण-लीला का विशद वर्णन ब्रह्मवैवर्त पुराण में मिलता है । इस पुराण की प्राचीनता पर भी लेखक ने संदेह प्रगट किया है । मत्स्य पुराण में इस पुराण के आकार-प्रकार का जो वर्णन है, वह ब्रह्मवैवर्त पुराण के वर्तमान संस्करण से नहीं मिलता । दूसरी बात यह है कि गौड़ीय

गोस्वामी गरण ने इस पुराण के कोई उद्धरण अपने ग्रन्थों में नहीं दिये हैं।

विद्वान लेखक के मत में श्रीराधा का क्रम-विकास मूलत: साहित्य को आश्रय बनाकर हुआ है। साहित्य में श्रीराधा का सर्व प्रथम उल्लेख 'गाहा सतसई' में मिलता है। इसके कर्ता हाल सातवाहन ईसा की प्रथम शती में प्रतिष्ठानपुर में राज्य करते थे। इस सतसई का सर्व प्रथम उल्लेख बाणभट्ट ने अपने 'हर्ष-चरित' में किया है। 'गाहा सतसई' के बाद श्रीराधा कृष्ण का उल्लेख संस्कृत साहित्य में बराबर होता रहा है, इस बात को अनेक उद्धरण देकर लेखक ने प्रमाणित कर दिया है।

अंत में, सोलहवीं शती में उदित होने वाली विभिन्न राधाकृष्णोपासक संप्रदायों का श्रीराधा-संबंधी दृष्टिकोण दिया है। राधावल्लभीय संप्रदाय का पक्ष उपस्थित करने की चेष्टा भी विद्वान लेखक ने की है। किन्तु उनको इस संप्रदाय के मूल ग्रन्थ अनुपलब्ध थे अत: वे कोई ठिकाने की बात नहीं लिख पाये हैं। अन्य कई संप्रदायों की श्रीराधा-संबंधी मान्यता भी वे सही रूप में उपस्थित नहीं कर सके हैं। श्रीराधा-स्वरूप के उत्कर्ष के बाद प्राय: सभी प्राचीन और अर्वाचीन संप्रदायों में श्रीराधा-संबंधी साहित्य का निर्माण हुआ है। इस साहित्य का अध्ययन बहुत सतर्कता, तटस्थता और साहस के साथ करने पर ही सत्य की उपलब्धि होती है।

जो हो, राधावल्लभीय साहित्य में, श्रीहरिराम व्यास ने 'वृन्दावन के रसमय वैभव' का प्रथम गायक श्रीजयदेव को बतलाया है।

वृन्दावन कौ रसमय वैभव पहिलें सबनि सुनायौ ।
ता पाछें औरनि कछु पायौ सो रस सबनि चखायौ ॥

[साधुनि की स्तुति]

भारतीय साहित्य में राधा माधव की प्रेम स्वरूप भगवान के रूप में वंदना अथच उनके अद्भुत प्रेम का वर्णन चाहे प्राचीन काल से होता चला आया हो किन्तु, व्यास जी की राय में, उनकी एकान्त प्रेममयी लीला का वृन्दावन की सघन कुंजों की रसमय केलि के रूप में गान सर्व प्रथम जयदेवजी ने किया है । जयदेवजी से संबंधित इस पद में व्यासजी ने अन्यत्र कहा है कि 'उन की लीला-गान की युक्ति अखंडित से-नित्य-से मंडित है, इसीलिये वे सबके मन को भा गये । विविध विलास-कलाओं का यह अपूर्व गायक जीवों के भाग्य से ही आया था'

जाकी जुगति अखंडित-मंडित, सब ही के मन भायो ।
विविध विलास कला कवि मंडन जीवनि भागनि आयौ ॥

इसका अर्थ यह हुआ कि श्रीजयदेव ने वृन्दावन की कुंज केलि को नित्य-केलि के रूप में गाया था और इस दृष्टि से, श्रीमद्भागवत के समान 'गीत गोविन्द' भी सोलहवीं शती की राधाकृष्णोपासना का उपजीव्य ग्रन्थ प्रमाणित होता है ।

गीत गोविन्द श्री राधा के स्वरूप-दर्शन का भी प्रथम प्रस्थान है । नित्य प्रेम-केलि से संबंधित श्रीराधा का प्रथम परिचय इसी गन्थ में प्राप्त हुआ । श्रीजयदेव के बाद विद्या-पति और चंडीदास ने विभिन्न लोक भाषाओं में श्रीराधा के अद्भुत प्रेम और रूप का गान करके उस को साधारण जन समाज तक पहुँचा दिया ।

सोलहवीं शताब्दी में श्रीराधा का स्वरूप अपनी उच्चतम कोटियों में प्रकाशित हो गया । गौड़ीय संप्रदाय और पुष्टि मार्ग में श्रीकृष्ण की प्रधानता है । प्रधानता का अर्थ यह कि इन दोनों संप्रदायों में प्रधान रति श्रीकृष्ण के चरणों में रखकर राधा माधव की प्रेमलीला का आस्वाद किया जाता है । इस प्रधानता के होते हुए भी इन संप्रदायों में श्रीराधा का बड़ा उज्ज्वल स्वरूप प्रकाशित हुआ है । राधावल्लभीय संप्रदाय में प्रधान रति श्रीराधा के चरणों में रखी जाती है अतः श्रीराधा का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप इस संप्रदाय में प्रकाशित होना स्वाभाविक है । हितप्रभु ने राधा माधव की शृंगार केलि के कथन और श्रवण का एक मात्र प्रयोजन 'श्रीराधा के सुकुमार पद-कमलों की रति प्राप्त कराना' बतलाया है ।

(जय श्री) हित हरिवंश यथामति बरनत कृष्ण-रसामृत-सार ।
श्रवण सुनत प्रापक रति राधा पद-अंबुज सुकुमार ॥
(हि०च० ३०)

सोलहवीं शती या उससे पूर्व के राधा कृष्णोपासकों में श्रीहित हरिवंश ही एक ऐसे महानुभाव हैं जिन्होंने शपथ पूर्वक श्रीराधा को अपना'प्राणनाथ' घोषित किया है और अपने इस निर्णय के लिये किसी की स्वीकृति की अपेक्षा नहीं रखी है ।

रहौ कोऊ काहू मनहिं दिये ।
मेरे प्राणनाथ श्रीश्यामा शपथ करौं तृण छिये ॥

इन्होंने ही सर्व प्रथम, संस्कृत में, श्रीराधा से संबंधित एक स्तोत्र-ग्रन्थ की रचना की और उसमें भी निर्भीकता पूर्वक अपनी राधा-निष्ठा को प्रकाशित किया । एक श्लोक में वे

कहते हैं 'करोड़ों नरकों के समान वीभत्स विषय-वार्ता तो दूर रही, श्रुति-कथा के श्रवण में भी व्यर्थ का श्रम ही है और कैवल्य (मोक्ष) से मुझे भय लगता है। शुकादिक भक्तगण यदि परेश श्रीकृष्ण के भजन में उन्मत्त हो रहे हैं तो इससे भी मुझे मतलब नहीं। मैं तो यह चाहता हूँ कि श्रीराधिका के चरण कमलों के रस में मेरा मन डूब जाय।

अलं विषय वार्तया नरक कोटि वीभत्सया,
वृथा श्रुति-कथा-श्रमो वत विभेमि कैवल्यतः।
परेश भजनोन्मदा यदि शुकादयः किंततः,
परं तु मम राधिका पद रसे मनो मज्जतु ॥

[रा० सु० नि० ८३]

श्रीहित हरिवंश बाल्यकाल से ही राधा-पक्षपाती थे और अल्पवय में ही उनको श्रीराधा से वह मंत्र मिल गया था जो राधावल्लभीय संप्रदाय की उपासना और रस-रीति का बीज है। हितप्रभु के द्वारा उनके शिष्यों के नाम लिखे गये दो पत्र प्राप्त हैं। द्वितीय पत्र में उन्होंने लिखा है, 'जो शास्त्र मर्याद सत्य है और गुरु महिमा ऐसे ही सत्य है तौ व्रज-नव-तरुणि-कदंब-चूड़ामणि श्रीराधे, तिहारे स्थापे गुरु मार्ग विषै अविश्वास अज्ञानी कौं होत है।' इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीराधा हितप्रभु की गुरु थीं और उनके दिये हुए मंत्र के द्वारा ही इस संप्रदाय का प्रवर्तन हुआ था। श्रीहरिलाल व्यास ने राधा-सुधा-निधि की अपनी प्रसिद्ध 'रस कुल्या' टीका के मंगला-चरण में कहा है, 'राधा ही जिनकी इष्ट हैं, राधा ही संप्रदाय-प्रवर्तक आचार्य और मन्त्रदाता सद्गुरु हैं, राधा नाम ही जिनका

सर्वस्व-मंत्र है, उन राधा-चरण-प्रधान (श्रीहित हरिवंश) की मैं वंदना करता हूँ ।'

राधैवेष्टः. संप्रदायैक कर्ताचार्यो राधा मंत्रदः सद्गुरुश्च ।
मंत्रो राधा यस्य सर्वात्मनैवं वंदे राधा-पाद-पद्म-प्रधानम् ॥

देखा जाता है कि हर संप्रदाय अपने प्रवर्तक के नाम से प्रचलित है, जैसे शांकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क-संप्रदाय आदि । श्रीराधा के द्वारा प्रवर्तित होने के कारण ही इस संप्रदाय का नाम राधावल्लभीय संप्रदाय है ।

हितप्रभु को श्रीराधा से मंत्र प्राप्त होने की बात पर आश्चर्य करने का कोई कारण नहीं है । भक्तों के जीवन में इस प्रकार के अलौकिक व्यापार हर देश में होते रहे हैं । यूरोपीय मरमी संतों के चरित्रों में 'दिव्य आदेश' प्राप्त होने की अनेक प्रामाणिक घटनायें प्रसिद्ध हैं । विख्यात अमेरिकन दार्शनिक विलियम जेम्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक The Varieties of religious experience में मरमी संतों के इस प्रकार के अनुभवों को साधारण मनोविज्ञान से परे बतलाया है और अपने ग्रन्थ में इस प्रकार के अनेक अनुभवो का विवेचनात्मक परिचय दिया है ।

हितप्रभु ने अपने जीवन के आरंभ काल में अपने आस-पास श्रीराधा के जिस रूप को प्रचलित देखा, उससे उनको मार्मिक व्यथा हुई । उनको श्रीराधा के जिस परात्पर रूप का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ था, उससे यह प्रचलित रूप सर्वथा भिन्न था । उन्होंने एक श्लोक में कहा है, 'ब्रह्मा, शिवादिक ईश्वर गण गोपीभाव का एकान्त आश्रय लेकर भी जिनके चरण-

कमल-रज की एक कणिका को अपने मस्तक पर धारण करने का अधिकार प्राप्त नहीं कर पाते, वे प्रेम-सुधा-रस की निधि श्रीराधा भी काल गति से साधारण बन गई है, हे बलवान दैव, तुझको नमस्कार है।'

यत्पादाम्बुरुहैक रेणु कणिकां मूर्ध्ना निधातुं नहि—
प्रापुर्ब्रह्म शिवादयोप्यधिकृतिं गोप्येक भावाश्रयाः।
सापि प्रेम-सुधा-रसाम्बुधि-निधी राधापि साधारणी—
भूता काल गति क्रमेण बलिना हे दैव, तुभ्यंनमः॥
(रा० सु० नि० ७२)

हम देख चुके हैं कि राधा सुधा-निधि के अधिकांश श्लोकों की रचना देवबन में हुई थी। श्रीहित हरिवंश सं० १५५६ से सं० १५६० तक देवबन में रहे थे। यह वह काल था जब गौड़ीय गोस्वामियों की भक्ति-रस संबंधी रचनायें अरचित थीं और सूर-सागर के पदों का निर्माण हो रहा था। पुष्टिमार्ग में श्रीविट्ठलनाथ गोस्वामी के गद्दी पर प्रतिष्ठित होने के बाद श्रीराधा का महत्व बढ़ा था। श्रीवल्लभाचार्य ने सूरदासजी को श्रीमद्‌भागवत के दशम स्कंध की अनुक्रमणिका सुना कर श्रीकृष्णलीला का गान करने की आज्ञा दी थी। दशम स्कंध में श्रीराधा का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं है और न श्रीवल्लभाचार्य की कोई श्रीराधा-संबंधी रचना उपलब्ध है। अतः अनुमान होता है कि सूर-सागर के श्रीराधा से संबंधित पदों की रचना श्रीविट्ठलनाथ के पदारूढ़ होने के बाद हुई है। श्रीवल्लभाचार्य का गोलोकवास सं० १५८७ में हुआ था और

श्रीहित हरिवंश के वृन्दावन आगमन के लगभग समकाल में, श्रीविठ्ठलनाथ ने पुष्टि संप्रदाय की बागडोर सँभाली थी ।

श्रीहित हरिवंश के संपूर्ण जीवन का एक मात्र लक्ष्य था श्रीराधा के असाधारण-साधारण-भिन्न-स्वरूप की प्रतिष्ठा करना । इसके लिये उनके द्वारा किये गये अनेक कार्यों में एक कार्य वृन्दावन में 'सेवाकुंज' की स्थापना करना भी था जहाँ उन्होंने राधिका-पीठ स्थापित की है । इस पीठ पर ही वह चित्र विराजमान है जिसमें श्रीकृष्ण श्रीराधा के चरणों का संवाहन कर रहे हैं । संभवतः इस चित्र का दर्शन करके ही रसखान ने यह प्रसिद्ध सवैया कहा था;

ब्रह्म मैं ढूढ़्यो पुरानन-गानन, वेद रिचा सुनि चौगुने चायन ।
देख्यौ सुन्यौ कबहूँ न कहूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन ।।
टेरत हेरत हारि परचौ, रसखान बतायो न लोग लुगायन ।
देख्यौ दुरचौ वह कुंज-कुटीर में बैठचौ पलोटत राधिका पाँयन ।।

इसी प्रकार, श्रीराधावल्लभ जी के स्वरूप के साथ उन्होंने श्रीराधा की प्रतिमा न रखकर उनकी गादी स्थापित की । श्रीराधा हितप्रभु की गुरु थीं और गुरु की गादी-स्थापन का विधान शास्त्रों में पाया जाता है । कहा जाता है कि हितप्रभु के बाद, वृन्दावन के अनेक मंदिरों में श्रीराधा की गादी स्थापित हो गई थी किन्तु बाद में हटादी गई । अब भी बाँकेविहारी जी और राधारमणजी के प्रसिद्ध मंदिरों में श्रीराधा की गादी स्थापित है । राधावल्लभीय सेवा संबंधी ग्रन्थों में गादी के निर्माण आदि की पूरी विधि दी हुई है, यह हम आगे देखेंगे ।

हिताचार्य की श्रीराधा अपने अद्भुत प्रेम-रूप और गुणों के कारण श्रीकृष्णाराध्या हैं और गुरु-रूपा हैं। उनकी यह दो विशेषताएँ उनको उनके अन्य स्वरूपों से भिन्न बनाती हैं। यह दोनों विशेषताएँ नित्य प्रेम-विहार में भी सुस्पष्ट दिखलाई देती हैं और इनही को हितप्रभु ने अपनी सेवा-पद्धति में प्रदर्शित किया है।

नित्य प्रेम-विहार में, श्रीराधा अपनी सहचरियों की तो गुरु हैं ही और उनको संगीत, नृत्य, माला ग्रन्थन, चन्दन-निर्घर्षण आदि की शिक्षा देती हैं। (देखिये रा० सु० नि० श्लोक ११२—१४२) साथ ही अपने प्रियतम की भी वे शिक्षा-गुरु हैं। स्वामी हरिदासजी और व्यासजी ने अपने कई पदों में श्रीराधा के इस रूप के चित्र उपस्थित किये हैं। व्यासजी का एक प्रसिद्ध पद देखिये;

पिय कौं नाचन सिखवत प्यारी।
वृन्दावन में रास रच्यौ है शरद चन्द उजियारी।
ताल-मृदंग, उपंग बजावत प्रफुलित ह्वै सखि सारी॥
बीन, बैनु-धुनि. नूपुर ठुमकत खग-मृग दसा बिसारी।
मान-गुमान लकुट लिये ठाड़ी डरपत कुंज बिहारी॥
व्यास स्वामिनी की छबि निरखत हँसि-हँसि दै करतारी।

स्वामी हरिदासजी ने कहा है 'कुंज विहारी नाचने में निपुण हैं और लाड़िली नचाने में कुशल हैं। वे विकट ताल पकड़ कर अपने प्रियतम के साथ 'ताता-थेई' बोलती हैं। तांडव, लास्य एवं अनेक नृत्य-भेदों की जो विभिन्न रुचि उनके चित्त

में उठती हैं, उनको कौन गिन सकता है ? मेरी स्वामिनी श्रीश्यामा के आगे अन्य सब गुणी फीके पड़ गये हैं।'

कुंज विहारी नाचत नीके लाड़िली नचावत नीके।
औघर ताल धरैं श्रीश्यामा ताता थेई ताता थेई बोलत संग पी के ।।
तांडव, लास्य और अँग कौ गनै जे-जे रुचि उपजत जी के ।
श्रीहरिदास के स्वामी श्यामा कौ मेरु सरस बन्यौ और गुनी परे फीके ।।

(केलिमाल-६०)

हितप्रभु की यह श्रीराधा संपूर्णतया भाव-स्वरूपा हैं किन्तु यह भाव नित्य प्रगट है। राधा-सुधा-निधि में श्रीराधा को 'परम-रहस्य,' 'पुंजीभूत रसामृत,' 'प्रेमानंद-घनाकृति,' 'निखिल निगमागम अगोचर' आदि कहने के साथ 'वृषभानु की कुलमणि' और 'व्रजेन्द्र-गृहिणी यशोदा का गोविन्द के समान प्रेमैक पात्र महः' (तेज) बतलाया गया है । इन अद्भुत् श्रीराधा में 'प्रेमोल्लास की सीमा, परम रस-चमत्कार-वैचित्र्य की सीमा, सौन्दर्य की सीमा, नवीन रूप-लावण्य की सीमा, लीला-माधुर्य की सीमा, वात्सल्य की सीमा, सुख की सीमा, और रति-कला-केलि-माधुर्य की सीमायें आकर मिली हैं।'

(रा० सु० नि० १३०)

इनके स्वरूप का निर्माण 'लावण्य के सार, सुख के सार, कारुण्य के सार, मधुर छवि-रूप के सार, चातुर्य के सार, रति-केलि-विलास के सार और संपूर्ण सारों के सार के द्वारा हुआ है।'

[रा० सु० नि० २५]

इन असाधारण वृषभानुनंदिनी का परिचय देते हुए सेवक जी कहते हैं, 'वे सुभग सुन्दरी हैं, उन का सर्वाङ्ग सहज शोभा से मंडित है और उनका रूप भी सहज है। वे सहज आनंद का वर्षण करने वाली मेघ माला हैं और सहज-रूप वृन्दावन की नित्य उदित चन्द्रिका हैं। उनकी नित्य नवल-केलि सहज है और उनकी प्रीति एवं सुख-चैन सहज हैं। उनके प्रत्येक अंग में सहज माधुर्य भर रहा है, जिसका वर्णन मुझसे नहीं होता।'

सुभग सुन्दरी, सहज शोभा सर्वाङ्ग प्रति, सहज रूप वृषभान नंदिनी।
सहजानंद कादंबिनी, सहज विपिन वर उदित चंदिनी॥
(से० वा० ७-६)

सहज केलि नित-नित नवल, सहज रंग सुख-चैन।
सहज माधुरी अंग प्रति, मोपै कहत बनै न॥

सहज माधुर्य सर्वथा अवर्णनीय होता है। तीनों लोकों में जिसकी समता नहीं है, उसका वर्णन कैसे हो? हितप्रभु ने कहा है 'श्रीराधा के अंगों के सहज माधुर्य की बात सुन कर देवलोक, भू लोक और रसातल के कवि-कुल की मति दहल जाती है। वे इस चक्कर में पड़ जाते हैं कि हम इसको किसके समान बतलाकर समझावें।'

देवलोक, भूलोक, रसातल सुनि कवि-कुल मति डारिये।
सहज माधुरी अंग-अंग की कहि कासौं पटतरिये॥
(हि० च० ५२)

श्रीध्रुवदास ने, इस रूप के वर्णन में अपने को सर्वथा असमर्थ पाकर भी, इसकी कुछ 'खोज' (निशानी) बतलाने

की चेष्टा की है। जिस प्रकार एक रत्ती सोने को देखकर सुमेरु पर्वत की कल्पना की जा सकती है, उसी प्रकार इन 'खोजों' के सहारे श्री राधा के सहज सौन्दर्य को कुछ समझा जा सकता है। उन्होंने बतलाया है, 'संसार में जितनी द्युति और कांतियाँ बखानी जाती हैं, वे सब राधा कुंवरि के अंगों को देखकर सकुचा जाती हैं। छवि उनके आगे हाथ जोड़कर खड़ी रहती है और गुण की कलायें उनके ऊपर चँवर ढुराती हैं। उनको देखकर चतुराई चित्र बन जाती है और चपलता पंगु हो जाती है। मृदुता उनके अंगों का स्पर्श नहीं कर सकती, श्री वृषभानु कुंवरि का तन इतना अधिक सुकुमार है। जहाँ भानु भी श्री राधा के चरण-नख में से निकलने वाले रूप-प्रकाश की समता नहीं कर सकता, वहाँ उपमा-दीपक का रखना बड़ी ना-समझदारी का काम है।'

जहाँ लगि दुति अरु कांति बखानी, कुँवरि अंग देखत सकुचानी।
छवि ठाड़ी आगे कर जोरें, गुन की कलाचौंर सिर ढ़ोरें॥
चित्र भई तेहि ठाँ चतुराई, पंग भई चितवत चपलाई।
छ्वै न सकत अंगनि मृदुताई, अति सुकुंवार कुंवरि तन माई॥
यातें उपमा कछु उर आई, बात खोज बिनु जात न पाई।
रति इक हेम छविहि उर आनै, ताहि समुझि सुमेर पहिचानै॥
एसौ रूप प्रकास तहाँ, नखकी सम नहिं भान।
तेहि ठाँ उपमा-दीपकौ, धरिबौ बड़ौ अयान॥

(रस हीरावली)

श्री राधा के अद्भुत रूप-वैभव को समझने में सब से बड़े सहायक श्याम सुन्दर हैं। 'वे रस के सागर हैं और अपने

प्रताप, रूप, गुण, वय और वल के लिये प्रसिद्ध हैं। किन्तु वे श्री राधा के किंचित् भ्रू-विलास से नाद-मोहित मृग के समान विथकित हो जाते हैं।'

(जय श्री) हित हरि वंश प्रताप, रूप, गुण, वय, बल श्याम उजागर।
जाकी भ्रू-विलास बस पशु इव दिन विथकित रस-सागर।।

(हि० च० ५२)

श्री सहचरि सुख कहते हैं 'जो प्रजाङ्गनायें में अपने रूप-प्रकाश से चन्द्र को पराजित करती हैं, वे नंदकुमार को देखकर चौंधिया जाती हैं। श्री हरि श्याम तो तभी दीखते हैं जब वे कीर्ति-सुता (श्री राधा) के निकट आते हैं।'

चक चौंधति लखि कुंवर कौं ससि जीतत जे वाम।
आवत ढ़िग कीरति सुता तबही हरि दीसत स्याम।।

इतना ही नहीं, 'नंदकिशोर ने सब ब्रज वासियों के हृदयों को अपने श्याम रंग से रंग दिया था। श्री राधा ने अपने गौर वर्ण से उन सबको गौर बना दिया, यह देखकर नंद-नंदन का सारा रूप-गर्व गल गया। जिस प्रकार सोने की परख कसौटी पर कसे जाने पर होती है, उसी प्रकार रूप की परख रूपवान के हृदय में उसकी लकीर खिच जाने पर होती है।'

रचे करेजा साँबरे सब व्रज नंद किशोर।
हिये गौर राधा किये तब बिक गई सबै मरोर।।
कनक कसौटी पर कसत जब होत बरन कौ ठीक।
परख रूप की खिचत है हो, रूपनि हीये लीक।।

(श्री सहचरि सुख)

श्री राधा के गौर वर्ण का प्रभाव केवल ब्रजवासियों

के हृदयों पर ही नहीं पड़ता, वे जिस फुलवारी के पास एक क्षण के लिये खड़ी हो जाती हैं, वहाँ के पत्र और फ़ूल पीत वर्ण के हो जाते हैं।

नैंकु होत ठाड़ी कुंवरि जिहि फुलवारी माँहि।
पत्र-फूल तहाँ के सबै पीत बरन ह्वै जाँहि॥

(प्रेमावली)

इसलिये, ध्रुवदासजी ने श्रीराधा के रूप की सबसे बड़ी अद्भुतता यह बतलाई है कि इसको जो देख पाता है, वह भी रूपवान हो जाता है।

याकौ रूप जु देखै आई, सोऊ रूपवंत ह्वै जाई।

रूप की यह परात्पर सीमा, मृदुता, दयालुता और कृपालुता की भी राशि है। इनको कभी भूलकर भी क्रोध नहीं आता और इनके हृदय में तथा मुख पर सदैव हास छाया रहता है। प्यारे श्यामसुन्दर की यह सुकमारी प्रिया जिनकी उपास्य हैं वे अनेक वार धन्य हैं। इस उपासना के सुख को छोड़कर अन्य संपूर्ण सुख दुख रूप हैं।'

सहज सुभाव परयौ नवल किशोरी जू कौ,
मृदुता, दयालुता, कृपालुता की रासि है।
नैंकहूँ न रिस कहूँ भूले हू न होत सखि,
रहत प्रसन्न सदा हिये मुख हासि है।
ऐसी सुकुमारी प्यारे लाल जू की प्रान प्यारी,
धन्य, धन्य, धन्य तेई जिनके उपासि है।
हित ध्रुव और सुख जहाँ लगि देखियतु,
सुनियतु जहाँ लागि सबै दुख पासि है।

(श्री ध्रुवदास)

राधा-चरण-प्राधान्य

श्रीहित हरिवंश के द्वारा प्रवर्तित रस-रीति और उपासना-पद्धति में श्रीराधा की प्रधानता है। नाभाजी ने इसीलिये, उनको 'हृदय में राधा-चरणों की प्रधानता रखकर अत्यन्त सुदृढ़ उपासना करने वाला' कहा है, 'राधा-चरण-प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी। सेवकजी ने भी हिताचार्य के धर्म की स्थिति श्रीराधा के युगल चरणों में बतलाई है, 'श्रीराधा युग चरण निवास'। चाचा हित वृन्दावनदास ने वृन्दावन में क्रीडा करने वाले प्रेम को 'राधिका पर वश नेह' कहा है, और बतलाया है कि हितप्रभु ने अपनी वाणी में उसी का नित्य-नूतन दुलार किया है,

राधिका पर वश नेह जो प्रभु, तिहि लड़ायो नित नयो।

युगल उपासना में श्रीराधा की प्रधानता रखने में एक भय रहा हुआ है। इससे एक प्रकार का शक्तिवाद स्थापित होता है जो वैष्णव धर्म के मूल पर ही कुठाराघात करता है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि वैष्णव धर्म का शाक्तमत के साथ बड़ा लम्बा संघर्ष चला था। सत्रहवीं शती के प्रारंभिक वर्षों में रची जाने वाली सेवक-वाणी में 'साकत' (शाक्त) के संग को अग्नि के समान दाहक बतलाया गया है, (से० वा० १४-१५) और अन्यत्र उस संग को श्रीहरिवंश के उपदेशों को भुला देने वाला कहा है। (से० वा० १३-४) सेवकजी के मित्र चतुर्भुजदास जी ने, रसिक अनन्य माल के अनुसार, देवी

को वैष्णवी दीक्षा दी थी। नाभाजी ने इसी प्रकार की एक घटना निम्बार्क संप्रदाय के श्री हरिव्यासजी के संबंध में लिखी है। अतः यह निर्विवाद है कि सब वैष्णव संप्रदायें इस बात के लिये सतर्क थीं कि उनके किसी सिद्धान्त पर शाक्तमत की छाया न पड़ जाय।

हितप्रभु ने अपने प्रेम-सिद्धान्त की रचना इस प्रकार की है कि श्रीराधा के प्रति उनका सहज पक्षपात शक्तिवाद नहीं बन पाया है। उनके सिद्धान्त में श्री राधाकृष्ण प्रेम के सहज भोग्य और भोक्ता हैं और उन में शक्ति-शक्तिमान का संबंध नहीं है। प्रेम में प्रेम पात्र की-भोग्य की-सहज प्रधानता होती है। नित्य प्रेम-विहार में श्रीराधा प्रेम-पात्र हैं और उनकी प्रधानता भोग्य की सहज प्रधानता है, शक्ति की प्रधानता नहीं है।

राधा-सुधा-निधि के एक श्लोक में श्रीराधा को 'शक्तिः-स्वतन्त्रा परा' कहा गया है; और इसके आधार पर कुछ लोग हितप्रभु की राधा को शक्ति-रूपा सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु उक्त श्लोक को ध्यान पूर्वक देखने से मालुम होता है कि इस में हितप्रभु ने श्रीराधा संबंधी सब प्रचलित मान्यताओं को एक स्थान में एकत्रित कर दिया है और साथ में अपना दृष्टिकोण भी दे दिया है। वह श्लोक इस प्रकार है।

प्रेम्णः सन्मधुरोज्ज्वलस्य हृदयं, शृंगार लीला कला—
वैचित्री परमावधि, र्भगवतः पूज्यैव कापीशता।
ईशानी च शची, महा सुख तनुः, शक्तिः स्वतन्त्रा परा,

श्री वृन्दावननाथ पट्ट महिषी राधैव सेव्या मम ॥

(रा० सु० नि० ७८)

इस श्लोक में, हितप्रभु ने, 'मधुरोज्ज्वल प्रेम की हृदय रूपा, शृंगार-लीला-कला-वैचित्री की परमावधि, श्रीकृष्ण की कोई अनिर्वचनीय आज्ञाकर्त्री, ईशानी, शची, महा सुख रूप शरीर वाली, स्वतन्त्रा परा शक्ति और वृन्दावननाथ की पट्ट महिषी श्रीराधा' को ही अपनी सेव्या बतलाया है। हितप्रभु के सिद्धान्त से परिचित कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि वे श्रीराधा की उपासना उनके ईशानी, शची या शक्ति के रूपों में करते हैं किन्तु इन सब रूपों वाली श्रीराधा ही उनकी इष्ट हैं, इसमें संदेह नहीं है।

हितप्रभु श्यामाश्याम के बीच में स्थूल विरह नहीं मानते किन्तु राधा सुधा निधि में एक श्लोक ऐसा भी मिलता है जिसमें उन्होंने स्थूल वियोगवती श्रीराधा की वंदना की है।

(देखिये, श्लोक ४८)

इस श्लोक को देखकर भी लोगों को भ्रम होता है और कुछ लोग तो इस प्रकार के श्लोकों के आधार पर राधा-सुधा-निधि को ही श्रीहित हरिवंश की रचना स्वीकार नहीं करते। किन्तु हितप्रभु के तीस-चालीस वर्ष बाद ही होने वाले श्रीध्रुव-दास ने इस प्रकार की उक्तियों के संबंध में अपने 'सिद्धान्त-विचार' में कहा है, 'जो कोऊ कहै कि मान-विरह महा पुरुषन गायो है, सो सदाचार के लिये। औरनि कौं समुझाइवे कौं कह्यौ है। पहिले स्थूल-प्रेम समुझै तब आगे चलै। जैसे, श्रीभागवत की बानी। पहिलै नवधा भक्ति करै तब प्रेम

लच्छना आवै । अरु महा पुरुषनि अनेक भाँति के रस कहे हैं, एपै इतनौ समुझनौ कै उनकौ हियौ कहाँ ठहरायौ है, सोई गहनौ' ।

ध्रुवदास जी के कहने का तात्पर्य यह है कि महापुरुषों की रचनाओं में उनकी मूल भावना को समझने की चेष्टा करनी चाहिये और उस भावना के विरुद्ध जो उक्तियाँ दिखलाई दें, उनको महत्व नहीं देना चाहिये । चाचा हित वृन्दावनदास ने चार महानुभावों को नित्य विहार का आदि प्रचारक बतलाया है; सब के मुकट-मणि व्यासनंद (श्रीहित हरिवंश गोस्वामी) सुमोखन शुक्ल के कुल-चन्द्र (श्रीहरिराम व्यास), आनंद-मूर्ति वामी हरिदास जी और भक्ति-स्तम्भ श्रीप्रबोधानंद जी ।

सबकेजु मुकट मणि व्यासनंद, पुनि सुकुल सुमोखन कुल सुचंद ।
सुत आसधीर मूरति आनंद, धनि भक्ति-थंभ परबोधानंद ।।
इन मिलि जु भक्ति कीनी प्रचार, व्रज-वृन्दावन नित प्राति विहार ।
जन किये सनाथ मथि श्रुति जु सार, मंगल हू कौ मंगल विचार ।।

(**श्रीहरिवंश चन्द्र जू कौ परिकर** सहित वसंत खेल वर्णन)

इनमें से श्रीप्रबोधानंद सरस्वती की संपूर्ण रचना संस्कृत में मिलती है । इन चारों के दो-चार या अनेक ऐसे पद या श्लोक मिलते हैं जो वृन्दावन-रस की मूल दृष्टि से मेल नहीं खाते । 'हित चतुरासी' और स्वामी हरिदास जी कृत 'केलि-माल' की टीकाओं मे ऐसे पदों का अर्थ बदल कर उनको मूल-भावना के अनुकुल बनाने की चेष्टा की गई है किन्तु, ऐसे पदो के संबंध में ध्रुवदास जी का दृष्टिकोण वैज्ञानिक और युक्ति युक्त प्रतीत होता है ।

श्रीहित हरिवंश सच्चे युगल उपासक हैं और युगल में समान रस की स्थिति मानते हैं। उनकी दृष्टि में श्रीराधा की प्रधानता का अर्थ श्रीकृष्ण की गौणता नहीं है। राधा-सुधा-निधि स्तोत्र में श्रीकृष्ण से वे उनकी प्रियतमा के चरणों में स्थिति माँगते हैं और श्रीराधा से उनके प्राणनाथ में रति की याचना करते हैं।

[देखिये, श्लोक १११ और १४१]

युगल के मिले बिना, अकेले श्रीकृष्ण अथवा श्रीराधासे, रस की निष्पत्ति संभव नही है। श्रीराधा के प्रति पूर्ण पक्षपात रखते हुए भी हितप्रभु अपनी मानवती स्वामिनी से कहते हैं, 'हे राधिका प्यारी, गोवर्धनधर लाल को सदैव एक मात्र तुम्हारा ध्यान रहता है। तुम श्यामतमाल से कनक लता से समान उलझ कर क्यों नहीं स्थित होतीं, और रसिक गोपाल को गौरी राग के गान द्वारा क्यों नहीं रिझातीं ? हे ग्वालिनि, तुम्हारा यह कंचन-सा तन और यह यौवन इसी काल में सफल होने को है। हे सखि, तुम महा भाग्यवती हो, अतः मेरे कहने से अब विलम्ब मत करो। तुम को श्यामसुन्दर के कंठ की माला के रूप में देखने की मेरी अभिलाषा उचित है। (क्योंकि उसके विना रस-निष्पत्ति नहीं होती)।

तेरौई ध्यान राधिका प्यारी गोवर्धनधर लालहि।
कनक लता सी क्यों न विराजत अरुझी श्याम तमालहि॥
गौरी गान सुतान ताल गहि रिझवत क्यों न गुपालहि।
यह जोबन कंचन तन ग्वालिनि सफल होत इहि कालहि॥

मेरे कहे बिलम्ब न करि सखि, भूरि भाग अति भालहिं ।
(जय श्री) हित हरिवंश उचित हौं चाहत श्याम कंठ की मालहिं ।।
(फुटकर पद–१७)

सेवकजी ने, इसीलिये, हितप्रभु की उपासना की रीति का निर्धारण करते हुए कहा है 'मैं श्री हरिवंश की रीति का अनुसरण करके श्यामाश्याम का एक साथ गान करता हूँ। इन दोनों में एक क्षण को भी अंतर नहीं होता, इनके प्राण एक हैं और देह दो। राधा के संग के विना श्याम कभी नहीं रहते और श्याम के विना राधा नाम नहीं लिया जाता। प्रतिक्षण आराधन करने के कारण ही श्यामसुन्दर राधानाम का उच्चारण करते हैं। श्यामश्यामा ललितादिक सखियों के संग सुख पाते हैं और श्री हरिवंश उनकी शृंगार-रति का गान करते हैं।'

श्रीहरिवंश सुरीति सुनाऊँ, श्यामाश्याम एक संग गाऊँ ।
छिन इक कबहुँ न अंतर होई, प्रान सु एक देह हैं दोई ।।
राधा संग विना नहीं श्याम, श्याम विना नहीं राधानाम ।
छिन-छिन प्रति आराधत रहईं, राधानाम श्याम तव कहहीं ।।
ललितादिकन संग सचु पावैं, श्रीहरिवंश सुरत-रति गावैं ।
[से० वा० ४–७]

श्रीराधा को प्रधानता मानने वाले एक रसिक महानुभाव उन्नीसवीं शती के आरंभ में हुए हैं। इनका नाम श्रीवंशीअलि था। ये उच्चकोटि के भक्त होने के साथ व्रजभाषा के सुकवि और संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। राधावल्लभीय संप्रदाय के गोस्वामी चन्द्रलालजी की 'वृन्दावन-प्रकाशमाला' में इनका

थोड़ा-सा परिचय मिलता है। वंशी अलिजी राधावल्लभीय संप्रदाय के अनुयायी नहीं थे और उनकी स्वतन्त्र शिष्य-परंपरा अद्यावधि विद्यमान है। हित प्रभु पर इनकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी और उनकी प्रशंसा में कहे गये इनके कई सुन्दर पद प्राप्त हैं। हितप्रभु के राधा सुधा निधि स्तोत्र के ये, अपने समय के, सबसे बड़े वक्ता माने जाते थे। कहा जाता है कि बरसाने में इनको श्री राधा के प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे।

वंशी अलिजी रचित 'श्री राधिका महारास' प्रकाशित हो चुका है। इसके अध्ययन के द्वारा हम यह दिखलाने की चेष्टा करेंगे कि हितप्रभु की उपासना की रीति को छोड़ने से श्रीराधा-प्राधान्य का क्या रूप बन जाता है।

'राधिका-महारास' में श्री भागवत वर्णित रासलीला का संपूर्ण अनुकरण है, केवल श्री कृष्ण के स्थान में श्रीराधा को प्रतिष्ठित कर दिया गया है। श्रीमद्भागवत की रासलीला में श्रीराधा का नामोल्लेख नहीं है, इसमें श्रीकृष्ण अनुपस्थित हैं। इसमें श्रीराधा ही वेणु-वादन करती हैं और जब सखीगण 'गृह-तन-बन्धु बिसारि' कर उनके निकट पहुँचती हैं तो श्रीराधा कहती हैं,

सहचरिधर्म नाहि यह होई,सहचरि-धर्म सख्य रस जोई।
हँसि हैं और सखो जेती मो, कौन देश तें आई ये को ?

इसके उत्तर में सखीगण कहती हैं,

अहो कुँवरि तुव रूप यह नाहिन राखत धर्म।
तेरी सुधि बिसरावई हमरे छेदत मर्म॥

इसके बाद रास का आरंभ होता है और श्रीकृष्ण की भाँति श्रीराधा एक सखी को लेकर रास के मध्य से अंतर्धान हो जाती हैं। सखीगण परम दुखित होकर विलाप करने लगती हैं और श्रीराधा की लीला का अनुकरण करती हैं। श्रीराधा प्रगट होकर उनके साथ रास क्रीडा का आरंभ करती हैं, रास में सब श्रमित हो जाती हैं और—

श्रम निर्वारन चलीं, कुंवरि राधा यमुना तट।
प्रिया वृन्द लिये संग, माल मरगजि तैसे पट॥
वारि माँझ मिल खेलत श्री राधा सँग प्यारी।
छिरकत मुख छवि पैरनि हावभाव सुखकारी॥
छिरकि-छिरकि लपटात कुंवरि सौं सब व्रजनारी।
तब अकुलाइ लड़ैती तिन सौं करत हहारी॥

इस रास में श्रीकृष्ण के सर्वथा अभाव ने शृंगार रस ही नहीं बनने दिया है। हम देख चुके हैं कि भरत ने प्रमदायुक्त पुरुष को ही शृंगार कहा है, अतः श्रीकृष्ण को छोड़कर श्री राधा की प्रधानता का, रस की दृष्टि से, कोई अर्थ नहीं रह जाता। हित प्रभु ने श्रीराधा की किसी स्वतन्त्र लीला का वर्णन तो कहीं किया ही नहीं है, उनके श्रीराधा-रूप-वर्णन के जो पद हैं,उनमें भी वे विदग्धता पूर्वक श्यामसुन्दर का उल्लेख कहीं न कहीं कर देते हैं। हितप्रभु की राधा-चरण-प्रधानता को स्पष्ट करते हुए नागरीदासजी कहते हैं, 'रसिक हरिवंश का मन ही श्यामा श्याम का तन है और वे अपने अनुराग के इन ललित वपुओं को सदैव अपने हाथ में लिये रहते हैं।

अपनी वाम भुजा की ओर श्यामसुन्दर और दक्षिण भुजा की ओर श्री राधा को लिये हुए वे मत्त गति से वृन्दावन में विचरण करते रहते हैं ।

रसिक हरिबंश मन लाड़िली लाल तन
ललित अनुराग वपु करनि लीने
वाम भुज लाल दक्षिण भुजा लाड़िली,
ललित गति चलत मल्हकत प्रवीने ॥

[श्री हरिबंशाष्ठक]

सहचरी

राधावल्लभीय धर्म में, जिस प्रकार, पुराणों के राधाकृष्ण प्रेम की दो मधुरतम अभिव्यक्तियों के रूप में सामने आते हैं, उसी प्रकार पुराणों की सखियाँ भी, इस धर्म में, एक नया व्यक्तित्व ग्रहण कर लेती हैं । यहाँ सखियों के नाम, वेष भूषादि वहीं है जो पुराणों में वर्णित हैं । ध्रुवदासजी ने 'रस मुक्तावली' में पुराणों के आधार पर ही सखियों का वर्णन किया है और आरंभ में ही कह दिया है |

नाम, बरन, सेवा, बसन जैसे सुने पुरान ।
ते सब ब्यौरे सौं कहौं अपनी मति अनुमान ॥

[रस मुक्तावली]

किन्तु, यह सब होते हुए भी, वे पुराणों की सहचरियाँ नहीं हैं, । इस संप्रदाय में, वे परात्पर प्रेम का एक रूप-विशेष हैं और प्रेम-विहार के लिये उतनी ही आवश्यक हैं जितने अन्य दो रूप—श्रीराधा और श्यामसुन्दर ।

सहचरीगण प्रेरक-प्रेम की मूर्तियाँ हैं। भोक्ता-भोग्य की पारस्परिक रति ही इनके रूप में प्रत्यक्ष होती है। श्याम-सुन्दर की अनंत प्रेम-तृषा तथा श्रीराधा के परम उदार प्रीति-संभार को अपने एक हृदय में रखकर, सहचरीगण इन दोनों की शुद्ध तत्सुखमई सेवा में प्रवृत्त रहती हैं। भोक्ता-भोग्य की स्वाभावतः भिन्न वर्ण वाली दो प्रीतियों के मिलने में इस नवीन प्रकार के अत्यन्त मनोरम प्रीति-स्वरूप की रचना हुई है जो दोनों प्रीतियों से अभिन्न होते हुए भो भिन्न है। दो प्रीतियों का संगम-स्थल होने के कारण इसको हित-संधि भी कहा जाता है। प्रेम के क्षेत्र में हित-संधि की स्थिति को सोदाहरण समझाते हुए मोहनजी कहते हैं, 'इस प्रेम की अद्-भुत गति है और इसका प्रकाश अनेक प्रकारों में होता है। दो शरीरों की एक परछांही किसी ने न सुनी होगी, किन्तु युगल के बीच में जिसको हम सखी कहते हैं, वह दो तन की एक परछाँही है। जैसे दो नेत्रों में एक दृष्टि रहती है, वैसे ही इन दोनों के बीच में सुखदाई सखी है। जैसे रात और दिन के बीच की संधि का नाम सन्ध्या है, जैसे ऋतुओं की संधि शरद और बसंत हैं और जैसे मिश्री और पानी मिलकर शर-बत कहलाते हैं, संधि-रूपा सखियों को भी इसी भाँति समझना चाहिये।

अद्भुत गति या प्रेम की या में रीति अनेक।
दुहुं तन की काहू सुनी परछाँहीं है एक ?
दुहुं अन बीच सखी यह नाहीं, दुहुं तन की एकै परछाहीं।
त्यौं दुहुं बीच सखी सुखदाई, दुहुं नैननि ज्यौं दीठ रहाई।

साँझ संधि ज्यौं निसदिन माहीं, शरद-वसंत रितुन में आहीं ।
मिश्री पानी शरबत ज्यौं कै, संधि सहेली समुझौ त्यौं कै ॥

(केलि-कल्लोल)

सखियाँ युगल की पारस्परिक रति का रूप हैं, अतः वे स्वभावतः युगल की रति से आसक्त हैं। 'दोनों नवकिशोर सहज प्रेम की सीमा हैं, सखियों का प्रेम इस प्रेम के साथ है अतः इनके सुख की सीमा नहीं है'।

सहज प्रेम की सींव दोउ नवकिशोर वर जोर ।
प्रेम कौ प्रेम सखीन कै तिहि सुख कौ नहिं ओर ॥

(प्रेमावली)

सखियों का प्रेम असीम होने के साथ श्यामाश्याम के प्रेम से सरस भी अधिक है। इसका कारण यह बतलाया गया है कि 'युगल जिस प्रीति का उपभोग करते हैं उसमें प्रेम और नेम (काम-चेष्टायें आदि) ताने-बाने की तरह बुने रहते हैं। सखियों का प्रेम इन दोनों के प्रेम के साथ है अतः उनको नेम स्पर्श नहीं करते और इस दृष्टि से उनका प्रेम युगल के प्रेम से सरस है।

लाल लाड़िली प्रेम तें सरस सखिनु कौ प्रेम ।
अटकी हैं निजु प्रेमरस परसत तिनहिं न नेम ॥

(प्रेमलता)

सखियों को प्रेम के नेम तो स्पर्श नहीं करते किन्तु वे जीवन धारण उनहीं का चयन करके करती हैं। ध्रुवदासजी कहते हैं, 'युगल के नेत्रों की सैन और चपल चितवनि रूपी

परम सुन्दर मोतियों को सखी-हंसनी नेत्र भर-भर कर चुगती रहती हैं,

नैन-सैन चितवनि चपल मनु मुक्ता छवि ऐन ।
सखी सबै मनु हंसिनी चुगत हैं भरि-भरि नैन ॥

(मन श्रृंगार)

इस प्रकार, वृन्दावन-रसरीति में, सखियों का स्वरूप काव्य जगत् के सामाजिक से मिल जाता है। वे सामाजिक की भाँति ही एकात्म-भाव से युगल के प्रेम-रूप का ग्रास्वाद करती हैं किन्तु दोनों में बहुत बड़ा भेद यह है कि सखीगरण युगल की प्रेमलीला की प्रयोक्तृ भी हैं। उनकी इच्छा राधा-माधव की रुचि के साथ इतने सहज भाव से ग्रभिन्न बनी हुई है कि ध्रुवदासजी ने सखियों को युगल की 'इच्छा-शक्ति' कहा है। स्वभावतः युगल सखियों की इच्छा के ग्रधीन हैं। 'इच्छा शक्ति रूपी सखीगरण संपूर्ण रसमय क्रीडाग्रों की प्रयोक्तृ हैं ग्रौर वही सबके हृदय में क्रीड़ा के ग्रनुरूप भाव उत्पन्न करती हैं,

करवावत सब ख्याल, इच्छा शक्ति सखी तहाँ ।
उपजावत तिहि काल, भाव सबनि कैं तैसोई ॥

(सभा मंडल

सखियों की लीला-प्रयोजकता का एक सरस उदाहरण हितप्रभु ने ग्रपने एक पद में दिया है। 'शिशिर ग्रौर ग्रीष्म की संधि-रूपा वसंत ऋतु वृन्दावन में नित्य निवास करती है। वहाँ के जल, थल ग्रौर ग्राकाश में सदैव वासंती उल्लास भरा रहता है। वसंत-सखा कामदेव वहाँ की कुंजों को सँवारते

रहते हैं। श्यामाश्याम रात्रि के सुखमय विलास के बाद उनींदे उठे हैं। अनुराग के रंग से उनके तन-मन रँग रहे हैं। सखीगण उनको रँगमगे देखकर अनेक प्रकार के बाजे बजाने लगती हैं और बाँसुरी एवं मुखचंग पर गान की सरस गति का सूचन उनको कर देती हैं। श्यामाश्याम उस गति को पकड़ कर गौरी राग के अलाप के साथ 'चाँचरि' गाने लगते हैं, और 'हो-हो-होरी' कहकर आनंद से पुलकित होने लगते हैं। (हित० च०-५७) यहाँ सखियों ने वसंत-गान की गति का सूचन करके राधा-माधव की वसंत-क्रीड़ा का प्रवर्तन किया है। सखियों के वाद्यों में वही गान बजता है जो उस समय युगल के हृदयों में छाया होता है और युगल के हृदयों में वही गान छाया होता जो सखियों के वाद्यों में बजता है।

सखियों का सुख संपूर्णतया युगल के सुख के साथ बँधा है। हितप्रभु ने उनको 'हित-चिंतक' कहा है। वे सदैव युगल के हित का चिंतन करती रहती हैं। उन का यह हित-चिंतन ही उनको सावधान बनाये रखता है, अन्यथा जहाँ यौवनमद, नेहमद, रूपमद, रसमद आदि उन्मत्त बनकर विनोद करते हैं, वहाँ मन-बुद्धि सहित सम्पूर्ण अस्तित्व का डूब जाना बहुत आसान है। उनके सामने उनके जीवनाधार युगल जब प्रीति विवश बनकर सुध-बुध खो देते हैं तब हितकारी सखियाँ, स्वयं अत्यन्त व्याकुल होते हुए भी, सावधान रहती हैं। वे जानती हैं कि युगल प्रेम की लहर में पड़कर विवश बन जाते हैं और मदन [श्रृंगार-केलि] की लहर उठ आने पर सावधान बनते

हैं। अतः वे उस समय मदन को लहर उठाने की चेष्टा करती हैं और इस प्रकार से युगल का नित्य नवीन प्यार-दुलार कर के अपने प्राणों का पोषण करती हैं।

होत बिबस तबहीं पिय-प्यारी, सावधान तहाँ सखी हितकारी।
कुँवरि अधर पिय अधरनि लावैं, रूप वदन नैननि दरसावैं ॥
पिय के कर लै उरज छुवावैं, मनौं मैंन कौ खेल खिलावैं।
उर सौं उर मिलि भुजनि भरावैं, चरन पलोटि सेज पौढ़ावैं ॥
ऐसी भाँति नव लाड़ लड़ावैं, ताही सौं अपनौ जिय ज्यावैं।

(रति मंजरी)

किन्तु, इस उन्मत्त प्रेम-विहार में ऐसे अवसर भी आ जाते हैं, जब सदैव सावधान रहने वाली सहचरी-गण के ऊपर भी प्रेम का समुद्र फिर जाता है और वे मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ती हैं। इस प्रकार के एक प्रसंग का वर्णन करते हुए ध्रुवदासजी बतलाते हैं, 'एक बार, प्रियतम की अद्भुत प्रेम-गति को देखकर प्रिया अपने सहज वाम-स्वभाव को भूल गईं और उनके बड़े-बड़े नेत्र जल-पूरित हो गये। उन्होंने 'लाल-लाल' कहकर अपने प्रियतम को हृदय से लगा लिया और उनके ऊपर प्यार की वर्षा कर दी। प्रिया-प्रेम के गंभीर सागर को अमर्याद उमड़ते देखकर सखीगण विवश बन गईं। उनमें से कुछ चित्र की भाँति खड़ी रह गईं, कुछ भूमि पर गिर पड़ीं और कुछ के नेत्रों से नेह-नीर उमड़ चला।

प्रीतम की प्रेम-गति देखें भूली तन-गति,
बड़े-बड़े नैंना दोऊ आये प्रेम जल भरि।
प्रिया लाल-लाल कहि लये लाइ उरजन,

चूँमि-चूँमि नैना रही अधर दसन धरि ॥
हितध्रुव सखी सब देखत बिबस भईं,
प्रेप-पट नाना रंग झलकै सबनि पर ।
एक चित्र की सी खरीं, एक धरनि खसि परीं,
एकनि के नैननि तें गिरे नेह-नीर ढ़रि ॥

सखियों की यह गति देखकर राधा-मोहन उनके पास आकर खड़े हो जाते हैं और उनकी ओर करुणा-पूरित नेत्रों से देखते हैं। वे उनके हृदयों में अमृत की सी धारा सींचकर उनको बल पूर्वक प्रेम-सिन्धु के भँवर से निकालते हैं। युगल को घेरकर खड़ी हुई, महारसरंग से भरी सखियों के नेत्र तृषित चकोरों की भाँति युगल की रूप-माधुरी का पान करने लगते हैं। इस प्रेम विहार में क्षण-क्षण में जल के से सहज तरंग उठते रहते हैं और वहाँ यही खेल रात-दिन होता रहता है ।

सखीनु की गति हेरैं, ठाड़े भये जाइ नेरैं,
करुना कै चितयौ दुहूँनि तिन ओर री ।
अमी की सी धारा उर सींचि गये सबनि कैं,
प्रेम सिन्धु भौंर तैं निकासी बरजोर री ॥
चहूँ दिस राजै खरी, महा रसरंग भरी,
नैननि की गति बहै तृषित चकोर री ।
सहज तरंग उठैं जल केसे छिन-छिन,
हितध्रुव यहै खेल तहाँ निसिभोर री ॥

(भजन श्रृंगार, द्वितीय श्रृंखला)

सखियों के जीवन का एक मात्र तात्पर्य युगल को सुख देना है। सुख देने की अभिलाषा सेवा द्वारा पूर्ण होती है ।

सखीगण स्व-सुख-वासना शून्य सेवा की मूर्ति है। उनकी सेवा का प्रयोजन सेवा ही है। 'उनके मन में सेवा का अगाध चाव भरा रहता है और वे सेवा करती हुई चारों ओर 'चकडोर' सी घूमा करती हैं। वे युगल के शृंगार की नई-नई सामग्री बनाती रहती हैं और तनिक भी नहीं थकतीं। प्रेम के रंग में रँगी हुई वे युगल को अतृप्त भाव से सदैव निरखती रहती हैं। उनको अन्य सब स्वाद फीके लगते हैं, वे एक मात्र युगल के रूप-छत्र की छाया में रही आती हैं।'

सखी चहुँ ओर फिरैं चकडोर-सी सेवा कौ भाव बढ़्यौ मन माहीं।
सौंज सिंगार नई-नई आनत बानत नैकहुँ हारत नाहीं ॥
प्रेम पगी तिहि रंग रँगी निरखैं तिनकौं तनकौ न अघाहीं।
और सवाद लगैं ध्रुव फीके, रहैं विवि रूप के छत्र की छांहीं ॥

(रस मुक्तावली)

सखीगण चार भावों से युगल की सेवा करती हैं, पुत्रवत् भाव से, मित्रवत् भाव से, पतिवत् भाव से और आत्मवत् भाव से।

निसिदिन लाड़ लड़ावहीं अति माधुर्य सुरीति।
पुत्र, मित्र, पति, आत्मवत् उज्ज्वल तत्सुख प्रीति ॥

(सु० बो० २४)

प्रतिदिन प्रातःकाल युगल को जगाते समय सखियों की अद्भुत प्रीति वात्सल्य से रंजित हो जाती है। उन्मद प्रेम-विलास का समस्त रात्रि उपभोग करने के बाद अरुणोदय से कुछ पूर्व राधामोहन शयन कुंज में पधारते हैं। शयन कुंज में केवल मुख्य सखियों को ही सेवा का अधिकार प्राप्त है। शेष

सखियाँ बाहर रहकर दूसरे दिन की आवश्यक सेवाओं में व्यापृत रहती हैं और आकुलता पूर्वक दर्शनों की प्रतीक्षा करती रहती हैं। अरुणोदय होते ही वे ललिता आदि मुख्य सखियों से युगल को जगाने को कहती हैं—'जगाइ री भई बेर बड़ी'। सब मिलकर जगाने का संकल्प करती हैं, किन्तु प्रेमावेश से श्रमित नव-दंपति को किसलय-शय्या पर शयन करता देखकर उनके हृदय में वात्सल्य उमड़ आता है और वे कुछ देर के लिये उसी के आस्वाद में निमग्न हो जाती हैं। एक कहती है 'हे सखी, जहाँ रूप की चहल-पहल रहती है, उस रंग-महल के किवाड़ खोलकर तू युगल को जगा दे। पहपीरी (अरुणोदय) हो गई है और मेरे नैन और प्राण युगल को देखे बिना व्याकुल हो रहे हैं। युगल के जागने पर मंद मुसकान रूपी धन मुझे मिलेगा और उनका गुणगान करती हुई मैं सेवा में प्रवृत्त हो जाऊँगी।'

अरबरात नैन-प्राण गौर श्याम देखे बिन,
सावधान करि उपाइ कहा फिरति धोरी।
बलि-बलि वृन्दावन हित रूप सहित मुसिकनिधन,
पाऊँ गुण गाऊँ रहि टहल माँहि नीरी॥

(अष्टयाम)

दूसरी उत्तर देती है 'हे सखी, तू थोड़ा धीरज रख। देख तो सही इन परम सुकुमारों को शयन किये अभी अधिक समय नहीं हुआ है। मैं तो यह चाहती हूँ कि इस समय पवन मंद-मंद चले, रविजा प्रवाह रोक कर स्थिर हो जाय और पक्षीगण मौन धारण करलें। जब तक यह दोनों रसिक शय्या

का त्याग न करें, तब तक कमल न खिलैं और तारों की ज्योति क्षीण न हो। जब तक यह सचेत न हों भोर का समय भी चुपचाप निकल जाय !'

वारिज खिलौ न तौलौं, रहौ तारा जोति जौलौं,
उठैं न रसिक दोउ जौलौं नींद लेते ।
वृन्दावन हित रूप भौर हूँ, भौरे ही जाउ,
जब लगि सोवत तें हौंहिं न सचेते ।।

(अष्टयाम)

इसी प्रकार युगल को भोजन कराते समय एवं विवाह-विनोद की रचना करते समय सखीगण वत्सल रंजित उज्ज्वल प्रीति का आस्वाद करती हैं। चाचाजी कहते हैं 'सखीगण को नव-दंपति रूपी खिलौना मिल गये हैं और वे अपना मन उनको देकर उनका मन लिये रहती हैं। यह साँवल और गौर हंस-शावक वृन्दा-कानन रूपी छवि-सरोवर में क्रीडा करते रहते हैं। यह दोनों क्षण-क्षण में नये-नये प्रेम कौतुक करते हैं और सखीगण नेत्रों की ओक (अंजलि) से लीलामृत का पान करती रहती हैं ।'

लिये दिये मन रहैं सहेली दंपति मिले खिलौना ।
कानन छवि-सर क्रीडत साँवल-गौर हंस मनौ छौना ।।
नित-नित नये-नये अस कौतुक भये न--हैं पुनि हौंना ।
वृन्दावन हित रूप अमी नैननि की ओक अचौंना ।।

(युगल सनेह पत्रिका)

युगल के साथ सखियों का मित्र भाव तो प्रसिद्ध ही है। इनका अनुराग संभ्रम शून्य है। यह अपनी स्वामिनी से सहज

भाव से कह सकती हैं 'हे भामिनी, तू गर्व से मत्त होकर गुम-सुम रहती है, अपनी बात मुझसे क्यों नहीं कहती ? हे राधिका-प्यारी, मैं कहते-कहते थक गई, तू मुझसे रात्रि का विलास कहने में क्यों लज्जित होती है ?'

अपनी बात मोसौं कहि री भामिनी,
औंगी-मौंगी रहत गरब की माती ।
हौं तोसौं कहत हारी, सुनि री राधिका प्यारी,
निशि कौ रंग क्यों न कहत लजाती ।।

(हि० च० १५)

जिस समय श्रीराधा मानिनी होती है, सखियाँ ही सहानुभूति-पूर्ण एवं विदग्ध वचनों से उनका मान-मोचन करती हैं। श्यामसुन्दर के रूप-सौन्दर्य एवं उनकी अनन्य प्रीति के मार्मिक वर्णन से आरंभ करके वे शरद की सुन्दर रात्रि के पल-पल घटने का सूचन करती हैं । अन्त में, अत्यन्त अपनपे के साथ निवेदन करती हैं, 'हे सखी, मैं अब अपनी ओर से एक बात कहती हूँ, उसे तुम्हें मान लेना चाहिये । हे सुमुखि, तुम अकारण ही यह घन विरह दुख सहन कर रही हो' । सखी की सौहार्द से भरी हुई अन्तिम बात प्रिया के चित्त पर असर कर जाती है और वे प्रसन्नता पूर्वक अपने प्रियतम से मिलकर सुख-सिन्धु में निमग्न हो जाती हैं ।

हौं जु कछु कहत निज बात सुनि मान सखि,
सुमुखि बिनु काज घन विरह दुख भरिबौ ।

मिलत हरिवंश हित कुंज किसलय सयन,
करत कल केलि सुख-सिन्धु में तरिबौ ।।

(हि० च० ८३)

राधा-मोहन के प्रति सखियों की प्रीति का तीसरा भाव पतिवत् भाव है। जिस प्रकार पुत्रवत् भाव एवं पुत्रभाव में भेद है, उसी प्रकार पतिवत् भाव में और पतिभाव में अंतर है।। गोपीजनों का नंदनंदन में पतिभाव था, वे सब श्रीकृष्ण-कान्ता थीं। सखीजन युगल की पतिवत् भाव से सेवा करती हैं किन्तु वे अपने को कृष्ण-कान्ता नहीं मानतीं। वास्तव में युगल-उपासना में कान्ताभाव के लिये अवकाश नहीं है। कान्ताभाव वहीं उत्पन्न होता है, जहाँ अकेले घनश्याम प्रीति के विषय होते हैं। जहाँ युगल का प्रेम-माधुर्य प्रीति का विषय होता है वहाँ उसका आस्वाद-सखी भाव के द्वारा ही संभव है। अन्य सिद्धान्तों में समस्त गोपीजन श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति होने के कारण नित्य नायिका हैं। राधाकृष्ण की प्रेम-लीला में सहायक होने के लिये उन्होंने सखी-भाव अंगीकार किया है। हम जानते हैं कि राधावल्लभीय सिद्धान्त में सखियाँ युगल की पारस्परिक रति का रूप हैं और यहाँ पर एक मात्र नायक श्रीनंदनंदन और एक मात्र नायिका श्रीवृषभानुनंदिनी हैं। नायिका किंवा श्रीकृष्ण-कान्ता न होते हुये भी इन सखियों की प्रीति पातिव्रत्य से पूर्ण है और इनके मन, वाणी और कर्म एक मात्र युगल की सेवा में लगे हुए हैं। श्यामा-श्याम सुहाग की मूर्ति हैं, सहचरी-गण इन दोनों के सुहाग से

सुहागवती हैं। युगल का सुरंग अनुराग सखियों की माँग का सेंदुर है।

युगल ही सखियों के प्राण-धन हैं। इनकी कृपा इनके सुख का एक मात्र साधन है। राधामोहन सदैव अपनी दासियों की रुचि के अनुकूल रहकर उनके मन की साध पुजाते रहते हैं यह देखकर आनंद के रंग से भरी हुई सखियाँ फूली नहीं समातीं। इन सब के एक मात्र जीवन दोनों वृन्दावन-चन्द्र हैं।

फूली अंग न मात हैं भरीं रंग आनंद।
जीवन सबके एक ही बिबि बृन्दावन चंद॥

[सभा मंडल]

सखियों की प्रीति का चौथा भाव आत्मवत् भाव है। मनीषियों ने आत्मा को सबसे अधिक प्रिय माना है। अन्य सब पदार्थों में आत्मा के कारण प्रियता रही हुई है। सखियों की आत्मा और युगल में कोई अन्तर नहीं है। इनके अद्भुत प्रेम ने ही इनको इस स्थिति में ला दिया है। हित अनूप जी बतलाते हैं कि 'प्रेम की प्रतीति का प्रताप ही ऐसा है कि प्रियतम आपमय हो जाता है और आप प्रियतममय हो जाता है, दोनों में कोई भेद नहीं रहता। जहाँ अपना सम्पूर्ण सुख होता है वहाँ प्रियतम के मोद की प्रतीति होती है और जहाँ प्रियतम का सम्पूर्ण सुख होता है वहाँ अपनी सुख-रीति होती है। दोनों के बीच में अपना पराया करने का कोई कारण नहीं रह जाता। अपनपे के प्रियतम के साथ अभिन्न बनते ही अपने सुख और प्रियतम के सुख में भेद नहीं रहेगा।'

आप मई प्रीतम जहाँ औ प्रीतम मय आप ।
रह्यौ न भेद कोऊ कहूँ प्रेम प्रतीत प्रताप ॥
अपनौ सुख नख-सिख जहाँ प्रीतम मोद प्रतीति ।
प्रीतम सुख नख-सिख जहाँ है अपनी सुख-रीति ॥
अपुन पराई करनि कौं कारन रह्यौ न कोइ ।
तत्सुख कहौं तौ तत्सुखै स्वसुख कहौं तौ सोइ ॥

सखियों के तत्सुख और स्वसुख में कोई भेद नहीं है । हितप्रभु अपने सहज सखी-स्वरूप से श्यामाश्याम के परम सुख का दर्शन करके कहते हैं कि 'आनंद में निमग्न दोनों प्रियतम डगमगाती चाल से वृन्दावन की सुन्दर एवं सघन कुंज-गली में विहार कर रहे हैं । यह दोनों लाल-ललना परस्पर मिलकर मेरे मन को शीतल करते हैं ।'

पग डगमगत चलत बन विहरत रुचिर कुंज घन खोर ।
हित हरिवंश लाल-ललना मिलि हियौ सिरावत मोर ॥

(हि० च० ३१)

यहाँ पर लाल-ललना के सुख और हितजी के सुख में कोई अन्तर दिखलाई नहीं पड़ता और यही सखियों के आत्मवत् भाव का स्वरूप है । सखियों के सुखानुभव की प्रक्रिया में विलक्षणता यह है कि यह श्यामा और श्याम दोनों के साथ सहज रूप से एकात्म-भाव रखती हैं । श्यामसुन्दर के मन से मन मिलाकर यह प्रिया-चरण-माधुरी का आस्वाद करती हैं एवं अपनी स्वामिनी के मन से मन मिलाकर यह उनके प्रीति-परवश प्रियतम का लालन करती रहती हैं । 'इन परम प्रेमी युगल के अद्भुत मनों को अपने एक मन में लेकर

सहचरी-गण इनकी आसक्ति का अबाध उपभोग करती हैं और पिय-प्यारी के सुख को दृष्टि में रखकर उनकी टहल करती रहती हैं।'

टहल लिये पिय प्यारी आगें छिनपल कहूँ न जाहीं।
दोऊ मन कौं लिये हिये में कुंज महल विलसाहीं॥

[गो० जतनलाल जी]

सखियाँ युगल की आसक्ति का स्वरूप हैं अतः इनके द्वारा किया गया युगल की आसक्ति का उपभोग स्वरूप का ही उपभोग है। वृन्दावन में हित-रूप सखियों का अनुपम हित ही मानो गौर-श्याम बनकर उनके मन और नेत्रों को सुख दे रहा है। हित के अद्भुत् रूप एवं उसकी अद्भुत् सेवा-प्रणाली का सुन्दर वर्णन करते हुए श्री भोरी सखी पूछते हैं 'जिसकी प्यास तृप्ति रूप है और तृप्ति प्यासमयी है, उस प्रेम के अनूठे खेल को मैं अपने हृदय में कैसे लाऊँ ? जहाँ विरह मिलन रूप है और मिलन विरह रूप है, जहाँ विरह और मिलन एक हो रहे हैं, वहाँ मैं रसास्वाद कैसे करूँ ? जहाँ प्रिया प्रियतम रूप हैं और प्रियतम प्रिया रूप हैं, जहाँ प्रिया और प्रियतम परस्पर ओतप्रोत हो रहे हैं, वहाँ मैं इन दोनों को कैसे मिलाऊँ ? युगल की हृदय रूपी कुंज में जहाँ युगल की केलि हो रही है, वहाँ युगल हृदय की वृत्ति बनकर मैं कैसे इन दोनों को लाड़ करूँ ? मन जिसको पाता नहीं है और बुद्धि का जहाँ प्रवेश नहीं है, अहा, ऐसे अद्भुत हित-रूप को मैं कैसे प्राप्त करूँ ?'

कौन प्यास तृप्ति रूप, कौन तृप्ति प्यासमई,
प्रेम कौ अनूठौ खेल कैसे हिये लाइये ?

कौन विरह मिलन रूप, विरह रूप मिलन कौन,
विरह मिलन एक जहाँ कौन स्वाद पाइये ?
कौन प्रिया पीय रूप, प्रिया रूप पीय कहाँ,
प्रिया पीय एकमेक कैसे कै मिलाइये ?
जुगल-हीय कुंज जहाँ, जुगल केलि होत तहाँ,
जुगल हृदय-वृत्ति होय कैसे कै लड़ाइये ?
मन हू न पावै जौन, बुद्धि हू न पहुँचे जहाँ,
अद्भुत् हित रूप, हहा भोरी कैसे पाइये ?

राधामाधव के बीच में प्रीति का जो परमोज्ज्वल सागर लहरा रहा है उसमें अनंत तरंगें उठती रहती हैं, न इन तरंगों को गिना जा सकता है और न सखियों की संख्या निर्दिष्ट की जा सकती है। श्रीध्रुवदास कहते हैं कि 'रज के कण, आकाश के तारे और घन की बूँदें गिनी जा सकतीं हैं किन्तु सखियों की संख्या जितनी बतलाई जाय वह थोड़ी है।'

रजकन, उडुगन, बूँदघन, आवत गिनती माँहि ।
कहत जोइ थोरी सोई, सखियनि संख्या नाँहि ॥

(सभा मंडल)

इन सखियों में आठ सखियाँ प्रधान हैं जिनके नाम ललिता, विशाखा, रंगदेवी, चित्रा, तुंगविद्या, चंपकलता, इन्दुलेखा और सुदेवी हैं। इन आठों में से प्रत्येक के साथ आठ-आठ सखियाँ रहती हैं जो स्वयं यूथेश्वरी हैं और जिनके यूथ में अनेकानेक सखियाँ हैं। अष्ट सखियों में ललिता सब बातों में चतुर हैं। इनके शरीर की प्रभा-गोरोचन के समान शुद्ध है और यह मोर-पिच्छ की तरह के चित्र-विचित्र वसन पहि-

नती हैं। यह पानों की सुन्दर बीड़ी बनाकर युगल को निवेदन करती रहती हैं। विशाखा सखी को वस्त्र धारण कराने की सेवा मिली हुई है। इनके तन की कांति शत-शत दामिनी जैसी है और यह तारा मंडल जैसे वस्त्र पहिन कर युगल की सेवा में लगी रहती हैं। चंपकलता युगल के लिये अनेक प्रकार के व्यंजन बनाती हैं, इनका वर्ण चंपक जैसा है और प्रिया का प्रसादी नीलांबर इनके तन की शोभा बढ़ाता रहता है। चित्रा सखी अनेक प्रकार के पेय तैयार करके युगल को पान कराती हैं। इनका वर्ण कुंकुम जैसा है और यह कनक के समान वस्त्र धारण करती हैं। तुंगविद्या गान और नृत्य में अत्यन्त प्रवीण हैं। इनका वर्ण गौर है और यह पाँडुर वर्ण के वस्त्र पहिनती हैं। इन्दुलेखा कोक-कला की सब घातों को जानती हैं और श्री राधा को अत्यन्त प्रिय हैं। इनके देह की प्रभा हरताल के समान है और अनार के फूल के वर्ण के वस्त्र यह पहिनती हैं। रंगदेवी को भूषण धारण कराने की सेवा मिली हुई है। इनके तन की आभा कमल-किंजल्क जैसी है और जपा-पुष्प के रंग की साड़ी इनको शोभा देती है। सुदेवी सखी प्रिया के केशों का शृङ्गार करती हैं, उनके नेत्रों में अंजन लगाती हैं एवं शुक-सारिका को प्रेम कहानी पढ़ाकर उनके द्वारा युगल का मनोविनोद करती हैं। यह लाल रंग की साड़ी पहिनती हैं।

इन सखियों के साथ सब रागिनियाँ मूर्तिमान होकर प्रीतिपूर्वक श्याम-श्यामा के सुहाग का गान करती रहती हैं।

दिवा-यामिनी एव छहौं ऋतुएँ युगल के सामने हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं और जिस समय उनकी जैसी रुचि होती है उसी प्रकार यह उनको सुख देती हैं। इनके अतिरिक्त वृन्दावन के खग, मृग, लता, गुल्म आदि सब सहचरी-भाव धारण किये हुए युगल की सेवा में प्रवृत्त रहते हैं।

सखियों में जितनी गोरी सखियाँ हैं वे सब प्रिया के ओर की हैं और सब सगर्वा हैं। प्रियतम के ओर की सखियाँ श्याम-वर्णा की हैं और वह सदैव दीनता धारण किये रहती हैं।

रसिकों ने सखियों को युगल के प्रेम-रस कोष की अधि-कारिणी बतलाया है—'जुगल प्रेम रस-कोष हाँ की अधिकारी-जु सहेली'।

ध्रुवदास कहते हैं 'जब प्रेम-रस सम्पूर्ण मर्यादाओं को तोड़कर बह चला और स्वयं श्यामाश्याम अपने तन मन की सुध भूल कर उसमें डूब गये तब वह भला कहाँ ठहरता ? वह सखियों के हृदय और नेत्रों में समा गया। सहचरीगण उसी का अवलम्ब लेकर रंग से भरी हुई युगल की सेवा में सदैव खड़ी रहती हैं। सखियों के भाव को चित्त में धारण करके जो सखियों की शरण ग्रहण करता है वही इस रस के स्वाद को पाता है।

मैंड़ तोरि रस चल्यौ अपारा—रही न तन मन कछू संभारा ॥
सो रस कहौ कहाँ ठहरानौं—सखियनि के उर नैंन समानौं।
तिहिं अवलम्ब सबैं सहचरी—मत्त रहत ठाड़ी रंग भरी।
सखियनि सरन भाव धरि आवैं—सो या रस के स्वादहिं पावैं ॥

[रति मंजरी]

श्री हित हरिवंश

हित और प्रेम समानार्थक हैं और राधावल्लभीय साहित्य में इनका प्रयोग भी एक ही अर्थ में होता है। किन्तु इस संप्रदाय में 'हित' शब्द एक विशिष्ट भाव-समूह का व्यंजक बन गया है और यह व्यंजना प्रेम शब्द से नहीं होती। संप्रदाय का प्रेम-संबंधी दृष्टिकोण और उसके आधार पर खड़ा हुआ उसका संपूर्ण प्रेम-दर्शन और उसासना-मार्ग, हित शब्द से द्योतित हो जाता है। इसीलिये राधावल्लभीय गण हित को प्रेम से भिन्न बतलाया करते हैं।

हित का मूर्त रूप श्रीहित हरिवंश हैं और हित का समस्त वैभव श्रीहित हरिवंश का 'यश-विलास' है। भगवद्गीता में श्रद्धा का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है, 'यह पुरुष श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है'–श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः। निष्कपट हित में एकान्त एवं निरतिशय श्रद्धा रखने वाले श्री हित हरिवंश की हित-रूपता इस दृष्टि से भी सिद्ध है।

हिताचार्य की जन्म-बधाइयों और 'मंगलों' का राधावल्लभीय साहित्य में,विशिष्ट स्थान है। संप्रदाय के प्रायः सभी बड़े-छोटे वाणीकारों ने इन बधाइयों और मंगलों की रचना की है। साहित्यिक दृष्टि से भी इनका स्थान महत्वपूर्ण है। इनमें भाव-प्रकाशन की सूक्ष्मता और सरसता दर्शनीय है। बधाइयों और मंगलों में हितप्रभु का गान चार रूपों में किया गया है। हित-

रूप में, जिसको निजरूप भी कहा गया है, सखीरूप में, वंशीरूप में श्रौर श्राचार्य रूप में।

हितरूप किंवा निज-रूप में संपूर्ण नित्य विहार श्री हित हरिवंश का ही वैभव है। वे श्रंगी हैं श्रौर नित्य-विहार उनका श्रंग है। इस रूप का पर्याप्त विवेचन पीछे हो चुका है, यहाँ उदाहरण के लिये केवल एक 'मंगल' का कुछ श्रंश दिया जा रहा है।

श्री कल्याण पुजारी कहते हैं, 'श्रीहरिवंश के हृदय में जब प्रीति का प्रवल लालच बढ़ता है श्रौर वह लालच ही 'लाल' (प्रियतम) का स्वरूप है, तब श्रद्भुत् रमणीय रूप वाली 'बाल' (प्रिया) का प्रागट्य उनके हृदय से हो जाता है। प्रिया के प्रगट होते ही शृंगार चेष्टाश्रों का प्रादुर्भाव होता है श्रौर प्रियतम उनकी छवि का पान इस प्रकार मुदित होकर करते हैं मानो रंक को निधि मिल गई हो! छविपान से मत्त बनकर वे श्रनेक छल-बल से प्रिया को श्रपने श्रंक में समेटने की चेष्टा करते हैं श्रौर श्रत्यन्त उत्साह पूर्वक प्रेमरस का पान करते हुए परस्पर श्रंशों पर भुजा रखते हैं। गाढ़ प्रेमालिंगन में श्रावद्ध यह दोनों रस का वितरण करते हैं श्रौर श्रीहरिवंश श्यामसुन्दर के मुख से प्रिया के यश का गान करते हैं।'

जै जै श्री हरिवंश लाल लालच बढ़्यौ।
श्रद्भुत रूप रसाल बालवर उर कढ़्यौ॥
कंचुकि कसनि बिदारि उरज कर परसहीं।
ज्यौं निधि पाई रंक मुदित छवि परसहीं॥

दरसि छवि कौं छैल छल बल मत्त अंक सकेलहीं।
पिबत मधु मकरंद चौंपनि भुजा अंसनि मेलहीं ॥
छके लसि गसि रसहिं वितरत सुजस साँवल मुख पढ्यौ।
जै जै श्री हरिवंश लाल लालच बढ्यौ ॥

'अपनी उत्कट प्रेमाभिलाषा के प्रगट रूप प्रियतम और उस अभिलाषा की अतृप्त-पूर्ति रूप प्रिया को सहज रसमयी नित्य प्रेम-क्रीडा में निमग्न देखकर श्री हरिवंश अपना अंचल पसार कर उनकी प्रशंसा करते हैं। श्री हरिवंश की इस सुख-राशि का कथन-श्रवण जो कोई करता है, उसकी प्रेमाभिलाषा पूर्ण होती है और उसको श्री वृन्दावन का अनंत प्रेम-वैभव यथामति सूझने लगता है।'

श्री हरिवंश प्रसंस करत अंचल लिये।
श्यामाश्याम विहार अचल जुग-जुग किये ॥
कहत-सुनत सुख राशि आस सब पूजि है।
श्री वृन्दावन ताहि यथामति सूझि है ॥
जे जुगल रस-मत्त मधुकर 'कली' अलि देखे जिये।
श्री हरिवंश प्रसंस करत अंचल लिये ॥

सखी रूप में श्रीहित हरिवंश नित्य प्रेम-विहार के एक अंग हैं। ललिता, विशाखा आदि प्रधान आठ सखियों में हित रूपा सखी को, इस संप्रदाय में, सब से अधिक अंतरंगा माना जाता है। इसका कारण यह बतलाया गया है कि 'हितसखी के रूप में युगल की प्रधान अष्ट सखियों के मन का हित मिल-कर एक बना है और यह देखकर ललितादिक सखियाँ प्रस-न्नता से खिल रही हैं।'

आजु मंगल मंजु माधव रितु वसंत लखी रली ।
अष्ट अलि हित एक देखत खिलीं ललितादिक अली ।।

(श्रीसहचरि सुख)

हितप्रभु के जन्म की मंगल-बधाइयों में से अनेक में उनकी 'प्राणनाथ श्रीश्यामा' निकुंज-भवन में अपनी अंतरंगा हित सजनी की जन्मगांठ मनाती दिखलाई देती हैं। 'हित अलि को स्नान कराकर वे स्वयं अपने हाथों से उनको पीत अंबर और पुष्पों के आभूषण पहिनाती हैं। निकुंज मंदिर में पुष्पों का मंडप छा दिया जाता है और उस पर अनेक रंग की ध्वजा लगादी जाती हैं। रत्न-खचित आँगन में गज मोतियों से चौक की रचना होती है और चारों ओर कनक-कदली के खंभे लगा दिये जाते हैं। मंडप में रत्न जटित सिंहासन पर युगल आकर बैठते हैं और एक मणिमय चौकी पर हित सजनी को बैठाया जाता है। युगल स्नेह पूर्वक हित सजनी का मुख पानों से भर देते हैं और अपने रस के प्रागट्य कर्ता के जन्म का मंगल-गान करते हैं। इसके बाद,

नाचत मोर मंडली आगैं ।
गावत शुक-पिक अलि अनुरागैं ।।
देत मधुप मृदु सुर सुख साजैं ।
कूजत हंस बीन सी बाजैं ।।

बजत बीन नवीन तिन संग श्याम-श्यामा नाचहीं ।
कहत सूहौ राग सूहे करत चित नित राचहीं ।।
लाल मुरली में कहत सोई बाल नूपुर में लयौ ।
प्रेमदास हित रीझि यह चिर सहचरिनु आनंद दयौ ।।

श्रीहित हरिवंश का तीसरा रूप वंशी रूप है। वंशी और श्री हरिवंश में धर्म की समानता देखकर यह रूप निर्धारित किया गया है। वंशी का प्रधान धर्म रास-रस का प्रकाश करना है। श्रीमद्भागवत में हम देखते हैं कि भगवान की 'रमणेच्छा' की पूर्ति का एक मात्र साधन वंशी है और वह इस कार्य को रास-रस का प्रकाश करके करती है। वह रास रस की गायिका है, प्रकाशिका है। श्री हित हरिवंश ने अपनी वाणी में एक मात्र रास-रस का गान किया है और इस प्रकार उनका एवं वंशी का संपूर्ण साधर्म्य है।

श्री हरि ने द्वापरांत में वेणु-नाद किया था। श्री हरिवंश का प्रागट्य कलियुग में हुआ है। वंशी की इन दोनों अभिव्यक्तियों की सुन्दर तुलना करते हुए चाचा हित वृन्दावनदासजी कहते हैं; 'मुरलिका ने इस युग में द्वापर युग से भी अधिक कृपा की है। द्वापर में केवल गोपियों ने कुल-कर्मों का त्याग किया था और अब सबने कुल-मर्यादा का निरादर कर दिया है। तब केवल तरुणियों को रसपान कराया था और अब सबके हृदयों को भली प्रकार रस पूर्ण बना दिया है। उस समय हरि और वंशी ने मिलकर सबको मोहित किया था और अब दोनों ने मिलकर एक श्री हरिवंश-वपु धारण किया है। उस समय श्री हरि के मुख चन्द्र पर चढ़कर वंशी ने गर्जना की थी, जिसके कारण त्रिभुवन में खलबली मच गई थी और अब रसिकों को गुप्त रस-रीति प्रदान करके वृन्दावन में स्वच्छंद विचरण कर रही है। उस समय मोहन से मिल-

कर श्यामा के सरस गुणों का गान किया था और अब अत्यन्त धीरता पूर्वक श्रीराधा के अगाध रूप-रस की वर्षा की है। जो जन, भगवदिच्छा से, उस समग्र वंशी का अनुसरण नहीं कर पाये थे, उनके ताप को मिटाने के लिये, मुरलिका ने अब द्विजकुल में शरीर धारण किया है।'

मुरलिका यह जुग बहुत करी।
तब कुल-कृत गोपीनु तजे अब सबनि कानि निदरी ॥
तब रस पान दियौ जुवतिनु अब सब उर सुभर भरी।
तब हरि पुनि वंशी मोहीं अब एकै देह धरी ॥
तब व्रतकर्मं धर्मं सब टारे बरबस हियहिं अरी।
अब बिनु श्रम भये सहज विदा जब प्रेम सुढ़ार ढ़री ॥
तब हरि-वदन-विधुहिं चढ़ि गाजी त्रिभुवन रौर परी।
अब रस-रीति गुपत रस स्वादिनु दै बन में बिचरी ॥
तब मोहन सौं मिलि श्यामा गुन गाये रंग ररी।
अब अतिधीर आपु राधा रस रूप अगाध भरी ॥
जे-जे तिहि समये न अनुसरीं हरि इच्छा बिसरी।
वृन्दावन हित द्विज कुल वपु धरि अब सब सूल हरी ॥

स्वभावत:, इस संप्रदाय में, श्री हरिवंश की वाणी वेणु-नाद मानी जाती है। सेवक जी ने कहा है 'श्री हरिवंश ने सुन्दर नाद, सुन्दर रस-रीति और सुन्दर गान को मिलाकर वृन्दावन की माधुरी का गान किया है और अपने वचनों की रचना (वाणी) में नित्य किशोर-किशोरी को लाड़ लड़ाया है।

श्री हरिवंश सुनाद, सुरीति, सुगान मिलै बन- माधुरी गाई।
श्री हरिवंश बचन्न, रचन्न सुनित्य किशोर किशोरी लड़ाई ॥
(से. वा. ८—९)

द्वापरांत के वेणु-नाद में और श्री हरिवंश की वाणी में मौलिक समानता होते हुए भी भाव की अभिव्यक्ति भिन्न प्रकार से हुई है। श्री हरि के वेणु-नाद से मोहित होकर जो व्रज गोपिकाएँ उनके पास गईं, उन्होंने केवल श्यामसुन्दर के दर्शन पाये और स्वभावत: उनके हृदय में कान्ताभाव उत्पन्न हो गया और सबने भगवान को अपना 'परम कांत' समझा। श्री हरिवंश के नाद से मोहित होकर जो जीव परम प्रेम की ओर आकृष्ट हुए उन्होंने प्रेम का सहज युगल स्वरूप देखा। सहज दाम्पत्य में आवद्ध श्याम श्यामा के दर्शन करके उनकी समस्त कामनायें इन दोनों को सुखी करने की एक प्रबल कामना में लीन हो गईं और उनके हृदय में सहज रूप से सखी भाव का उदय होगया।

दोनों वेणुनादों के द्वारा रास की रचना भी दो प्रकार से हुई है। द्वापरान्त के वेणुनाद ने जिस रास मंडल की रचना की थी, उसमें प्रत्येक गोपी के साथ एक नंदनंदन रास क्रीडा में प्रवृत्त थे। श्री हरिवंश की वाणी में जिस रास के दर्शन होते हैं, उसमें गोपीजन और नंदनंदन के द्वारा निर्मित यह रास मंडल उस मंडल की सुन्दर पृष्ठ भूमि बना हुआ है जिसमें प्रेम के अद्वय युगल स्वरूप राधा श्यामसुन्दर स्थित हैं। रास रस का गान करते हुए हितप्रभु ने कहा है, 'श्याम के साथ राधिका रास मंडल में शोभायमान हैं। मंडल के बीच में नंदलाल और व्रजवाल (श्रीराधा) इस प्रकार स्थित हैं जैसे घन और तड़ित् के बीच में कनक और मर्कत मणि हों"।

श्याम संग राधिका रासमंडल बनी ।
बीच नंदलाल व्रज बाल चंपक बरन
ज्यौंव घन-तड़ित बिच कनक मर कतमनी ।
(हि० च० ७१)

यहाँ पर घन और तड़ित् नंदनंदन और गोपीजन हैं और कनक-मर्कतमणि राधाश्यामसुन्दर हैं। दोनों मंडलों में रसकेलि हो रही है किन्तु उस की रचना भिन्न प्रकारों में हुई है। एक में कान्ताभाव का अनुगमन करने पर प्रवेश होता है और दूसरे में सखी भाव का आश्रय लेने पर। श्रीहिताचार्य ने केन्द्रस्थ रास मंडल के रास-रस का वर्णन अपनी वाणी में किया है। उन्होंने श्रीमद्भागवत-वर्णित रास का गान भी कतिपय पदों में किया है किन्तु उसको अपनो विशिष्ट रस दृष्टि से देखा है। उनके लिये यह रास सुन्दर मधुकर-केलि है जिसमें एक श्यामसुन्दर अनेक गोपीजनों के प्रेमरस का आस्वाद मधुकर-वृत्ति से करते हैं। हित चतुरासी के एक सुन्दर पद में मदनमोहन के अद्भुत रूप-माधुर्य का वर्णन करके वे वंशीनाद के द्वारा आकृष्ट व्रज सुन्दरियों का आगमन वर्णन करते हैं। इसके बाद श्यामसुन्दर के अन्तर्धान और गोपीजनों के विरह-विलाप का उल्लेख न करके वे सीधा रास का वर्णन कर देते हैं। पद के अंतिम छन्द में इस मधुकर केलि के दर्शन से खग-मृग-बेलि] और सुर-सुन्दरियों का प्रेम-विवश होना दिखलाया है।

(हि० च० ६३)

उनके लिये यह रासलीला भी उनके राधापति की ही

ी ही लीला है और इसके द्वारा 'रसिक राधापति' के यश ा वितान जग में छा गया है ।

बरसत कुसुम मुदित नभ-नायक इन्द्र निसान बजायौ ।
(जयश्री) हितहरिवंश रसिक राधापति जस-वितान जग छायौ ॥
(हि० च० ३६)

श्री हरिराम व्यास की 'रास पंचाध्यायी' बहुत दूर तक ुकोक्त पंचाध्यायी का हिन्दी भाषान्तर ही है किन्तु जहाँ यामसुन्दर के अन्तर्धान होने की बात आती है व्यासजी, हितप्रभु का पदानुसरण करके, बोल उठते हैं 'अन्तर्धान होना स को विरस करना है और यह कार्य श्यामसुन्दर को ोपियों का अभिमान देखकर करना पड़ा था । इसके बाद ोपीजनों को तीव्र विरहानुभव हुआ । विरह-कथा में मुझको ोई सुख नहीं मिलता ।'

रस में विरस जु अंतर्धान, गोपिनु कै उपज्यौ अभिमान ।
विरह-कथा में कौन सुख ?

हितप्रभु वंशी के अवतार थे अतः उनके द्वारा प्रसिद्ध ास के रमणीय स्थलों का आस्वाद करना स्वाभाविक था । हितप्रभु के अनुयायी रसिकों ने यह देखकर कि उनका आराध्य अन्तरंग रास ही है, केवल उसी का गान अपनी ाणियों में किया है ।

अनेक लोगों को इस बात पर आश्चर्य होता है कि ंप्रदाय में हिताचार्य को वंशी का अवतार तो माना जाता है किन्तु राधावल्लभीय साहित्य में वंशी से संबंधित पद बहुत कम मिलते हैं । इसके विरुद्ध अष्टछाप के महात्माओं

ने वंशी की प्रशंसा में अनेक सुन्दर पद कहे हैं। किन्तु, हम अभी देख चुके हैं कि इस संप्रदाय में रास-रस का प्रकाश श्री शुक-वर्णित रास से भिन्न प्रकार से हुआ है। अतः उस रास की प्रकाशिका वंशी का गुणगान संप्रदाय के साहित्य में अधिक न होना ही स्वाभाविक है। राधावल्लभीय साहित्य में सैकड़ों की संख्या में मिलने वाली श्री हिताचार्य की बधाईयों में, वस्तुतः, इस भिन्न प्रकार के रास-विलास की प्रकाशिका वंशी का ही गुणगान किया गया है। उदाहरण के लिये एक जन्म-मंगल का एक छंद उद्धृत किया जाता है;

जय जय जगत प्रसंस नवल की बाँसुरी ।
सो प्रगटी भुवलोक कहन जुग-गाँसुरी ॥
ल कियौ प्रकास गूढ़ गुन विस्तरयौ ।
पिय-प्यारी कौ हेतु कह्यौ रति-रस भरयौ ॥
कही रति-रस रासलीला रसिक जन-मन-भावनी ।
वृन्दावन हित राधिका धव चरण-रति उपजावनी ॥
युगल-पथ दरसाय दृग अज्ञान तम कियौ बाँसुरी ।
जय जय जगत प्रसंस नवल की बाँसुरी ॥
(चाचा हित वृन्दावनदासजी)

हितप्रभु का चौथा रूप आचार्य रूप है। आचार्य का अर्थ है धर्म-संस्थापक। हितप्रभु नवीन धर्म का प्रवर्तन करने के लिये प्रगट हुए थे। साधारणतया विरोधी सिद्धान्तों के खंडन के साथ यह कार्य किया जाता है। धर्म-संस्थापक आचार्यों की जितनी कीर्ति उनके रचनात्मक कार्य के लिये है, उतनी ही उनके खंडनात्मक कार्य के लिये है। हितप्रभु

खंडनात्मक कार्य में बिलकुल प्रवृत्त नहीं हुए। भक्ति-विरोधी सिद्धान्तों की ओर तो उन्होंने दृष्टिपात ही नहीं किया, भक्ति के क्षेत्र में भी उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टि रखी। सेवकजी ने बतलाया है 'हितप्रभु ने सब प्रकार की भक्तियों का व्याख्यान किया और जो जिस भाव से भगवान को भज रहा था, उसको उसी भाव में स्थिर कर दिया। सब अवतारों के उपासकों के लिये उनके हृदय में स्थान था। उन्होंने सब उपासकों की एक ही रीति बतलाई और वह श्रवण, कथन और स्मरण में प्रतीति रखना है। उन्होंने व्रज की रीति का वर्णन किया और नंदनंदन के बाल-चरित्रों को प्रेम की नींव बतलाया। इसके बाद उन्होंने अपने धर्म का व्याख्यान किया।'

(से० वा० १–११, १२ १३)

हितप्रभु का संपूर्ण जीवन भी विरोध-शून्य था। अनुश्रुति से प्राप्त दो घटनाएँ यहाँ दी जाती हैं।

श्री हरिराम व्यास को नित्य-विहार प्रत्यक्ष था और वे अधिकतर इस भाव में मग्न रहते थे। एक बार अपने सरस सिद्धान्त की उत्कृष्टता सिद्ध करते हुए उन्होंने 'निर्गुणिया' कहे जाने वाले संतों के सम्बन्ध में कुछ बातें कह दीं। परिणाम यह हुआ कि उनके नेत्रों में सहज रूप से झलकने वाले राधा श्याम-सुन्दर उनकी दृष्टि से ओझल हो गये। व्यासजी जल-विहीन मीन की भाँति व्याकुल हो उठे और हितप्रभु के पास जाकर इस आकस्मिक अकृपा का कारण पूछा। बात पूरी होते न

होते हितप्रभु ने उत्तर दे दिया 'अपार करुणा-सागर वृन्दावन-ईशों को भी कृपादान से विमुख बनाने वाली एक मात्र भक्त-निंदा है और वही, मालूम होता है, आपसे बन गई है। व्यासजी ने अपनी भूल स्वीकार की और जन्म भर भक्तों को इष्ट के समान मानते रहे। अपने एक पद में उन्होंने इनही 'निर्गुणिया' भक्तों को अपने कुटुम्ब के अन्तर्गत बतलाया है।

एतौ है सब कुटुम्ब हमारौ।
सैन, धना अरु नामा, पीपा अरु कबीर रैदास चमारौ ॥

[साधुनि की स्तुति]

दूसरी घटना दैवी और आसुरी सृष्टियों के भेद को लेकर घटी थी। भगवद्गीता में इन दोनों सृष्टियों का वर्णन किया गया है और उन दिनों श्री वल्लभाचार्य ने इन दोनों के भेद पर बहुत भार दे दिया था। श्री हिताचार्य से जब इस संबंध में पूछा गया तो उन्होंने सरलता पूर्वक कह दिया, 'हौं नाहि-जानत, मेरे तौ दोऊ उपास्य हैं।'

हितप्रभु ने अपने व्यक्तित्व में उस महान रसिक स्वरूप को प्रत्यक्ष किया था, जिसका वर्णन उन्होंने अपनी रचनाओं में आदर के साथ किया है। श्रीराधा सुधानिधि में उन्होंने उन महापुरुषों की वंदना की है, 'जो नव कैशोर के माधुरी समूह के कारण अत्यन्त रमणीय अंगच्छवि वाली एवं अत्यन्त प्रेमोल्लास से पूर्ण राधिका का तद्गत चित्त से निरवधि ध्यान करते हैं। कर्मों ने उनका स्वयं ही त्याग कर दिया है। वे

भगवद्धर्मों के प्रति भी ममता रहित हैं और सर्वाश्चर्य पूर्ण रसमयी गति को प्राप्त हो चुके हैं ।'

कैशोराद्भुत माधुरी भर धुरीणाङ्गच्छवि राधिका,
प्रेमोल्लास भराधिकां निरवधिध्यायन्ति ये तद्धियः ।
त्यक्ताः कर्मभिरात्मनैव, भगवद्धर्मेप्यहो निर्ममाः,
सर्वाश्चर्य गतिं गता रसमयीं तेभ्यो महद्भ्यो नमः ॥

(रा० सु० ८०)

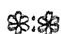
चाचा हित वृन्दावनदास ने श्रीहितप्रभु के रसिकाचार्य रूप का चित्रण अपने एक पद में बसंत के रूपक से किया है। भाव की सरसता, सघनता एवं नूतनता में रसिक का वसंत के साथ सहज साहश्य है। चाचाजी कहते हैं 'गौरांग श्री वृष-भानुनंदिनी के भजन की मूर्ति व्यासनंदन, (हितप्रभु) कौतुकमय वसंत-ऋतु है। उनका निर्मल हृदय ही स्वच्छ थाँवला है जिसमें युगल का सुहाग रूपी अमृत जल भरा हुआ है। इस थाँवले में शृंगार-कल्पतरु का बाग खिला हुआ है जिसमें से वाणी रूपी पराग द्रवित होता रहता है। व्यासनंदन के मुख पर नित्य नूतन कांति बढ़ती रहती है और उसने कमल की शोभा को भी लुप्त कर दिया है। उनके हृदय में दशधा भक्ति की बेली छा रही है जो अनंत भावों रूपी फल-फूल से लदी हुई है। रसमय वचनों की रचना ही आम्र-मंजरी है और उनकी अनु-पम सुमति ही मंगल-घट है जो अनुराग के वसन से ढ़क रहा है। रस की विविध अभिलाषायें ही सुन्दर सौरभ है और उनके तन-मन अभंग प्रेम-रस से सदैव भीगते रहते हैं। इस प्रकार

श्री हरिबंश चन्द्र वसंत की भाँति सदैव शोभित रहते हैं और मैं उनका सुयश गाता रहता हूँ।'

श्री व्याससुवन कौतुक वसंत–गौरंग भजन मूरति लसंत।
उर अमल थाँवरौ रहित दाग– जल अमी जुगल पूरित सुहाग ।।
सिंगार कलपतरु खिल्यौ बाग–तिहिंमोद द्रयौ बानीं पराग।
आनन नित नूतन बढ़त ओप–अंबुज उपमा हूँ करी लोप ।।
दशधा बेलीवर रही छाइ–फल फूल भरे उर अमित भाइ।
रस वचन रचन मंजरी नूत–मंगल घट लसत सुमति अभूत ।।
अनुराग बसन ढाँपनि अनूप–दरसायौ रसिक वसंत रूप।
अभिलाष विविध सौरभ सुरंग–भींजत तन मन रहैं नित अभंग ।।
इहि विधि संतत हरिवंश चंद–वृन्दावन हित गावै सुछंद ।।

पूर्वोक्त चार रूपों में व्यक्त रहने वाले श्री हरिवंश को सेवक जी ने परात्पर तत्व माना है और उनसे अतिरिक्त अन्य सत्ता का स्वीकार नहीं किया। अपनी वाणी के पंचम प्रकरण में वे कहते हैं, 'श्री हरिवंश ही सुन्दर ध्यान हैं और वही विशद विज्ञान हैं। श्री हरिवंश नाम और गुण रूप हैं, उनका नाम और उनके गुण उनके स्वरूप से अभिन्न हैं। श्री हरिवंश ही प्रेम रस रूप हैं। वही परम परमाक्षर हैं और वही कृपा के आगार हैं। श्री हरिवंश ही आत्मा एवं प्रगट परमानंद हैं और वही मन के लिये परम प्रमाण हैं। वही जीवन हैं और वही विपुल सुख-संपत्ति हैं। श्री हरिवंश गोत्र, कुल, देव एवं जाति हैं और वही हित का स्वरूप एवं ऋद्धि-सिद्धि हैं। श्री हरिवंश वेद की प्रसिद्ध कर्म-कांडात्मक विधि हैं और वही उपनिषद्-प्रतिपाद्य अद्वय ब्रह्म-तत्त्व हैं। श्री हरिवंश पातंजल

योग शास्त्र प्रतिपादित अष्टांग योग हैं और वही पुराण प्रतिपादित पुण्यों का भोग हैं। श्री हरिवंश ही न्याय-वैषशिक द्वारा प्रतिपादित प्रमाण-परंपरा हैं और वही रस-शास्त्र द्वारा पल्लवित प्रियता हैं। श्री हरिवंश ही इतिहास, साहित्य शास्त्र, संगीत शास्त्र एवं चौसठ कलाओं के द्वारा गोचर पदार्थ हैं और वही जगन्मंगल स्वरूप हैं।' (से० वा० ५-२-४)



उपासना–मार्ग

सोलहवीं शती के भक्ति-आन्दोलन के विविध अंगों के बीज तो प्राचीन वैष्णव परंपराओं में मिल जाते हैं किन्तु उन में से अनेक का विकास नवीन रूपों में हुआ है। संपूर्ण भारतीय संस्कृति के, तब तक के, बहुविध विकास ने इन नवीन रूपों के निर्माण में योगदान दिया है। इष्ट-उपासना इस आन्दोलन का ऐसा ही एक अंग है जो प्राचीन होते हुए भी नवीन रूप में सामने आया है।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक इष्ट उपासना का यह नवीन रूप काफी पल्लवित हो चुका था। ध्रुवदासजी ने अपने 'सिद्धान्त-विचार' में भगवत्-उपासकों के दो भेद बतलाये हैं। एक तो वे हैं जो सब अवतारों की लीलाओं का गान अभेद बुद्धि रख कर करते हैं। इन भक्तों के लिये राम, कृष्ण, नृसिंह, वामन आदि भगवत्-अवतारों के चरित्र समान रूप से प्रिय होते हैं और वे इन सब में भगवान के अचिन्त्य ऐश्वर्य का दर्शन श्रद्धावनत चित्त से करते हैं। दूसरे वे हैं जो एक मात्र अपने इष्ट की उपासना करते हैं। यह लोग भगवान के किसी एक रूप को अपना इष्ट मानकर अपने हृदय का संपूर्ण प्रीति-संभार उसके चरणों में अर्पित कर देते हैं। ध्रुवदासजी ने द्वितीय प्रकार के उपासकों को प्रथम प्रकार के भक्तों की अपेक्षा अधिक सरस बतलाया है। उन्होंने इष्ट का अर्थ स्नेही किंवा प्रेमी किया है और इष्ट-उपासना का अर्थ बतलाया है, 'अपने स्नेही को

छोड़कर मन अन्यत्र कहीं न जाय और यदि जाय तो वह स्नेही नहीं, व्यभिचारी है ।'

इष्ट उपासकों में सर्वोपरि प्रेम व्रज-देवियों का माना जाता है । चैतन्य संप्रदाय में व्रज-वधू-वर्ग के द्वारा कल्पित परम रमणीय उपासना का ही अनुगमन किया जाता है–'रम्या काचिदुपासना व्रजवधू वर्गेण या कल्पिता' । इन व्रज-देवियों से भी अधिक सरस एवं संपूर्णतया तत्सुखमयी इष्ट-उपासना ललिता, विशाखा आदि सखियों की है । ध्रुवदासजी ने भक्ति के पाँचों रसों की उपासना का तारतम्य दिखलाकर ललितादिक सखीगण द्वारा आस्वादित युगल-किशोर के विलास-रस को छठा और सर्वश्रेष्ठ रस बतलाया है । इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह बतलाई है कि इसमें प्रेमोल्लास कभी घटता नहीं है । इससे परे न तो कोई भजन है और न कोई सुख है ।

ज्ञान शांत रस तें अधिक अद्भुत पदवी दास ।
सखाभाव तिनतें अधिक जिनकें प्रीति प्रकास ।।
अद्भुत बाल चरित्र कौ जो जसुदा सुख लेत ।
तातें अधिक किसोर-रस ब्रज बनितनि के हेत ।।
सर्वोपरि है मधुर रस जुगल किसोर विलास ।
ललितादिक सेवत तिनहिं मिटत न कबहुँ हुलास ।।
या पर नाहिन भजन कछु नाहिन है सुख-और ।
प्रेम मगन विलसत दोऊ परम रसिक सिरमौर ।।

[भजनाष्टक]

सखीजनों की उपासना प्रेम की उपासना है और प्रेम की उपासना वस्तुतः प्रेमी की उपासना है । सखीजन युगल की उपासना

इसलिये करती हैं कि उनके समान एक रस प्रेमी अन्यत्र उपलब्ध नहीं है ।

एकै प्रेमी एक रस राधावल्लभ आहि ।
भूलि कहै कोऊ और ठाँ झूठौ जानौ ताहि ॥
(श्रीध्रुवदास--प्रेमावली)

सखियों के भाव को ग्रहण करने के लिये सर्व प्रथम उनके इस केन्द्रीय भाव को ग्रहण करना होता है । इसीलिये, संप्रदाय के उपासना-मार्ग में, रसिक प्रेमियों के संग को प्राथमिकता दी गई है । श्रीध्रुवदास ने वृन्दावन रस को केवल कृपा-लभ्य माना है और कृपा-प्राप्ति का एक मात्र उपाय रसिक प्रेमियों का सतत संग बतलाया है ।

या रस कौ साधन नहिं कोई, एक कृपातें जो कछु होई ।
कहौ कृपा उपजै किहि भाँती, रसिकनि संग फिरै दिन राती ॥
[अनुराग लता]

देखना यह है कि इस संप्रदाय में रसिक किसको माना जाता है । श्री ध्रुवदास ने कहा है, 'रसिक ताकौं कहिये जो रस कौ सार गहै' । प्रेम-स्वरूप वृन्दावन की सघन निकुंज-वीथियों में श्याम-श्यामा का नित्य प्रेम-विहार-रस ही रस का सार है ।

हित ध्रुव यह रस मधुर सार कौ सार अगाधा ।

अन्यत्र उन्होंने कहा है, 'जिसके हृदय में क्षण-क्षण में श्याम-श्यामा की अद्भुत् प्रीति झलकती रहती है, उसी को रसिक समझना चाहिये ।'

रसिक तबहिं पहिचानिये जाकैं यह रस रीति।
छिन-छिन हिय में झलकि रहै लाल-लाड़िली प्रीति ।।

(आनंदाष्टक)

इस रस के सार का गान श्री हिताचार्य ने अपनी वाणी में किया है। अतः सेवक जी के अनुसार रसिक वे हैं जो रस-सम्बन्धी अपने पक्षपातों को छोड़कर हितप्रभु की वाणी में दर्शित रस-रीति का ग्रहण करते हैं। अन्य रसिकों से इनका भेद दिखलाने के लिये, सेवकजी ने, इनको 'निपट-रसिक', सम्पूर्ण रसिक कहा है।

रसिक बिनु कहे सब ही जु मानत बुरौ, रसिकई कहौ कैसे जु जानी।
आपुनी-आपुनी ठौर जेई तहाँ, आपुनी बुद्धि के होत मानी ।।
निपट करि रसिक जो होहु तैसी कहौं, अब जु यह सुनौ मेरी कहानी।
जोरु तुम रसिक रस रीति के चाड़िले, तौरु मन देहु हरिवंश बानी ।।

(से० वा० ४-१५)

श्रीहित हरिवंश की वाणी और उसमें प्रदर्शित रसरीति के वास्तविक रहस्य को वही समझ सकता है जो उनके रस-धर्म का मन, वाणी और कर्म से अनुसरण करता है। नाभा-दासजी ने, हितप्रभु से संबंधित अपने प्रसिद्ध छप्पय में कहा है—

व्यास सुवन पथ अनुसरहि सोई भलै पहिचानि है।
श्री हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोऊ जानि है ।।

इस प्रकार रसिक का अर्थ होता है श्रीहरिवंश-धर्म को धारण करने वाला धर्मी और रसिकों के संग का अर्थ होता है हित-धर्मियों का संग। सेवक जी ने, इसीलिये, श्री हरिवंश के धर्म को समझने के लिये उसके धर्मियों के संग को ही नहीं, उनकी

उपासना को, परम ग्रावश्यक बतलाया है। सेवक वाणी के तेरहवें प्रकरण में 'पाके' (पक्के) धर्मियों के लक्षण बतलाये गये हैं। प्रकरण के अंतिम छंद में सब लक्षणों का समास करते हुए सेवक जी ने कहा है, 'श्री हरिवंश के प्रसिद्ध धर्म को अल्प तप वाला व्यक्ति नहीं समझ पाता। इस मार्ग में जो उपासक श्री हरिवंश की कृपा के स्वरूप को समझते हैं वे धर्मियों का जप करते हैं। वे श्री हरिवंश के धर्म को धारण करने वाले धर्मियों के भाव का अनुशीलन करते हैं। धर्मी के बिना धर्म की स्थिति नहीं है और धर्म के बिना धर्मी का अस्तित्व नहीं है। श्री हरिवंश के प्रताप से इस मर्म को मर्मी ही समझते हैं। जो उपासक श्री हरिवंश-नाम के धर्मियों से प्रीति करते हैं, मैं सदैव उनकी शरण में रहता हूँ और रात-दिन धर्मियों के साथ मिलकर श्री हरिवंश के सुयश का गान करता हूँ।

श्री हरिवंश प्रसिद्ध धर्म समुझै न अलप तप।
समुझौ श्री हरिवंश कृपा सेवहु धर्मिनु जप॥
धर्मी बिनु नहि धर्म नाहि बिनु धर्म जुधर्मी।
श्री हरिवंश प्रताप मरम जानहिं जे मरमी॥
हरिवंश नाम धर्मी जु रति तिन शरण्य संतत रहै।
सेवक निसिदिन धर्मिनु मिलै श्री हरिवंश सुजस कहै॥
(से०वा०१३-११)

धर्मी की उपासना का विधान करके सेवक जी ने संप्रदाय की उपासना-पद्धति को सखियों के केन्द्रीय भाव के बिलकुल अनुकूल बना दिया है। हम ऊपर कह चुके हैं कि सखियाँ श्याम-श्यामा की उपासना प्रेम-धर्म के सबसे बड़े

धर्मी के रूप में करती हैं। वे भी यही मानती हैं कि धर्म की स्थिति धर्मी के कारण है और धर्मी की स्थिति धर्म के कारण है।

केवल श्रीहरिवंश-धर्म के धर्मियों के संग का यह विधान विभिन्न साधन-मार्गों के, एक दूसरे से भिन्न, मौलिक तत्वों पर दृष्टि रखकर किया गया है। श्री ध्रुवदास ने कहा है 'भगवान को विभिन्न भावों से भजने वाले अनेक भक्त संसार में विद्यमान हैं और उनके अनेक भेद हैं। अपनी उपासना को ध्यान में रखे बिना जो उपासक हर प्रकार के भक्तों का संग करते हैं, उनको परिणाम में अत्यन्त खेद प्राप्त होता है। सर्वत्र एक-सा भाव रखना ज्ञान-मार्ग के साधकों की रीति है; प्रेम-भजन करने वाले को तो विवेक पूर्वक खूब सोच समझ कर अपने भाव के अनुकूल उपासना करने वालों के साथ प्रीति करनी चाहिये।'

भक्त आहि बहु भाँति के तिनमें बहुतक भेद।
बिनु विवेक मिलिबौ तहाँ मन पावै अति खेद॥
सबठाँ मिलिबौ एक सौ ज्ञानी की यह रीति।
भजनी सोई विवेक सौं करै समुझि कै प्रीति॥

लाड़िलीदास जी कहते हैं 'मधुर रस का आधार ममता है और ज्ञान का साधन समता है। समता रखने से प्रेम की हानि होती है, ममता ही रस की खान है।'

ममता ही माधुर्य रस, समता साधन ज्ञान।
प्रेम-हानि समता किये, ममता रस की खान॥

(सुधर्म बोधनी)

अपनी रसरीति के प्रति ममता रखकर उपासना करने वालों को 'धर्मी रसिकों की मंडली में ही खान-पान करना चाहिये। जिन लोगों की उपासना भिन्न है, उनके साथ खान-पान करना उचित नहीं हैं। जो रसिक युगल के रंग में रँग रहे हैं उनकी जूठनि ग्रहण करनी चाहिये, जहाँ-तहाँ भोजन कर लेने से भजन का तेज घट जाता है। जहाँ इष्ट मिलता हो, मन मिलता हो, भजन-रसरीति मिलती हो वहीं निर्भय होकर मिलना चाहिये और उनहीं लोगों के साथ प्रीति करनी चाहिये। जिनको यह रस नहीं रुचता है, उनसे रस-उपासकों का कोई नाता नहीं है। सत्संग वह है जिसके मिलने पर गृह-व्यवहार विस्मृत हो जाय और तत्क्षरण हृदय में अद्भुत युगल-बिहार प्रकाशित हो उठे।' (श्री ध्रुवदास-मानशिक्षा)

सत्संग की यह मर्यादा केवल उपासना को शुद्ध रखने की दृष्टि से बाँधी गई है। साथ ही, इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि यह मर्यादा संकुचितता बनकर कहीं प्रेम के स्वाभाविक विस्तार में बाधक न बन जाय। प्रेम निसर्गतः एक उदार भाव है। प्रेम का प्रभाव मन और नेत्रों पर एक साथ पड़ता है। प्रेममय मन के साथ दृष्टि भी प्रेममय बन जाती है। प्रेम-दृष्टि से केवल प्रेम दिखलाई देता है, अतः संकुचितता और विरोध को उसमें स्थान नहीं है। सेवकजी ने, इसीलिये, सब जीवों से प्रीति रखकर अपनी उपासना की रीति के निर्वाह करने का आदेश दिया है और इस प्रकार के आचरण को श्री हरिवंश की कृपा का फल बतलाया है।

सब जीवनि सौं प्रीति रीति निबाहत आपुनी ।
श्रवण-कथन परतीति यह जु कृपा हरिवंश की ।।

श्री हिताचार्य के सम्पूर्ण धर्म का समास एक दोहे में करते हुए लाड़िलीदास जी कहते हैं, 'चैंटी से लेकर युगल पर्यन्त सब के साथ तत्सुख-मय निष्काम प्रेम और नाम-वाणी में परम विश्राम की प्राप्ति ही श्री हरिवंश का सुन्दर धर्म है।

इत चैंटी उत युगल सौं तत्सुख हित निष्काम ।
यह सुधर्म हरिवंश कौ नाम-गिरा विश्राम ।।

(सुधर्म बोधिनी)

अन्यत्र उन्होंने कहा है, 'जो महा अभागे उपासक इष्ट की सेवा करके अन्य सब की निन्दा करते हैं, वे मूल को सींच कर वृक्ष को अग्नि से जलाते हैं ।'

जल सींचत हैं मूल में वृक्ष जरावत आग ।
इष्ट सेइ सब नींदरे देखौ महा अभाग ।।

(सुधर्म बोधिनी)

धर्मी रसिकों के मन की स्थिति, बाह्य शारीरिक लक्षण, रहन-सहन, लोक व्यवहार, स्थापित रूढ़ियों तथा वैदिक और लौकिक कर्मों के प्रति उनके दृष्टिकोण आदि का विशद वर्णन संप्रदाय के ग्रन्थों में मिलता है । रसिकों ने मन की दो स्थितियाँ बतलाई हैं । अपनी साधारण स्थिति में वह केवल वैषयिक रसों का ग्रहण करता है और असाधारण स्थिति में अप्राकृत रस का आस्वाद करता है । मन की साधारण गति के नष्ट होने पर असाधारण स्थिति का उदय होता है । नागरीदास जी ने बतलाया है, 'रसिक-नरेश (श्री हितप्रभु) के रस-मार्ग पर

चलने के लिये पहिले इस मन को मार देना होता है और फिर सर्वथा नये रूप में इसे जिला लेना होता है। मार कर जिलाया हुआ मन ही इस रस का रसिक बनता है। जब विषय-वासना को जला कर उसकी राख को भी झाड़-फटकार दिया जाता है, तब यह देह रसिक-नरेश के रस-मार्ग पर लगती है।'

यह मन मारि जिवाईये जियत न आवै काज ।
गैल जु रसिक नरेश की चलनौ है इहि साज ।।
विषय-वासना जारिकै झारि उड़ावै खेह ।
मारग रसिक नरेस के तब ढ़ंग लागै देह ।।

श्रीध्रुवदास कहते है, 'उपासक का मन जब तक सब बातों का लोभ नहीं छोड़ देता, तब तक हृदय में युगल प्रेम का अंकुर उत्पन्न नहीं होता। भजन की रीति यह है कि सब की आशा छोड़कर दृढ़ विश्वास पूर्वक युगल के चरणों की शरण ग्रहण करनी चाहिये।'

जब लगि मन छाँड़त नहीं सब बातनि कौ लोभ ।
तब लगि हिय उपजत नहीं युगल प्रेम की गोभ ।।
रीति भजन की यहै ध्रुव छाँड़े सब की आस ।
युगल चरन की सरन गहि मन में धरि विस्वास ।।
(भजन सत)

अन्यत्र उन्होंने कहा है, 'प्रेम-बीज के मन में उत्पन्न होते ही सम्पूर्ण विषय-वासना नष्ट हो जाती है। जिसका मन वृन्दा-वन-रस में अनुरक्त हो जाता है वह संसार से विरक्त होकर घूमता है।' 'प्रेम रसासव के चाखते ही और ही रंग चढ़

जाता है। इस प्रेम रस में जिसका मन पड़ जाता है, उसकी गति मीन और नीर जैसी हो जाती है। उसको रात-दिन और कुछ नहीं सुहाता और वह सदैव अपने प्रियतम के रस में समाया रहता है।'

प्रेम-बीज उपजै मन माहीं, तब सब विषै वासना जाहीं।
जग तैं भयो फिरै बैरागी, वृन्दावन रस में अनुरागी॥

(अनुराग लता)

प्रेम रसासव चाख्यौ जबहीं, औरै रंग चढ़ै ध्रुव तबहीं।
या रस प्रेम परै मन आई, मीन नीर की गति ह्वै जाई॥
निसि दिन ताहि न कछू सुहाई, प्रीतम के रस रहै समाई।

(प्रेमलता)

चित्त में प्रेम रस का स्पर्श होते ही प्रेमी के शरीर पर और उसके व्यवहार में विशेष प्रकार के लक्षण प्रगट हो जाते हैं। श्रीध्रुवदास ने बतलाया है, 'जिसके हृदय में प्रेम-रस उत्पन्न होता है वह सदैव उदास रहता है। हँसना, खेलना और खान-पान आदि के सुख उसको विस्मृत हो जाते हैं। अद्भुत रूप-छटा देखकर उसकी वाणी थकित हो जाती है, उसके प्राण अपहृत हो जाते हैं और नेत्र रोते रह जाते हैं। हृदय में रूप की चोट लगने पर सारे अंग शिथिल हो जाते हैं, मुख पीला पड़ जाता है और शरीर का रंग बदल जाता है। जिस पर प्रेम बेलि चढ़ जाती है वह सब सुध भूल जाता है। उस के हृदय में एक मात्र चाह का कमल फूला रहता है।'

जेहि उर उपज्यौ प्रेमरस, सो नित रहत उदास।
भूल्यौ हँसिवौ, खेलिवौ, खान पान सुखवास॥

रूप छटा अद्भुत् निरखि, थकित भये मुख बैन।
प्रान तहाँ पहिले गये, रोवत छाँड़े नैन ॥
रूप धसकि हिय धँसि गयो, शिथिल भये सब अंग ।
मुख पियराई फिर गई, बदलि परचौ तन रंग॥
प्रेम बेलि जेहि पर चढ़ी, गई सबै सुधि भूलि ।
एक कमल ध्रुव चाह कौ, ताके उर रह्यौ फूलि॥

(प्रीति चौवनी)

धर्मी रसिक का रहन-सहन और लोक-व्यवहार उसके प्रेमी रूप के सर्वथा अनुकूल होता है। 'प्रेम स्वरूप श्री हरिवंश के नाम से भली भांति परिचित होने पर वह अपने को तृण से भी नीचा मानने लगता है। नाम में से निकलने वाली प्रेम की अद्भुत छटा को देखकर वह उसके आगे सदैव के लिये झुक जाता है । सदैव झुके हुए को गर्दन उठाने का अवकाश नहीं होता। वह तिनके के आगे भी झुका ही रहता है। विनत होने के कारण वह हरएक से आदर पूर्वक और हँसकर बोलता है । वह तरु के समान सहनशील होता है। उससे परिचित सब लोग उसको परम उदार कहते हैं। उसको कभी सोच स्पर्श नहीं करता और उसका मन सदैव श्री हरिवंश के सुयश—नित्य प्रेम विहार—में समाया रहता है । वह जीवमात्र के लिये सुखदाई होता है और कभी मुख से दुखद वचन नहीं बोलता ।

जब श्री हरिवंश नाम जानिहैं, तब सब ही तें लघु मानिहैं।
हँसि बोलै बहु मान दै।
तरु सम सहनशीलता होइ, परम उदार कहैं सब कोइ।

सोच न मन कबहूं करैं ।
श्री हरिवंश सुजस मन रहै, कोमल वचन रचन मुख कहै ।
परम सुखद सबकौं सदा ।
दुखद बचन कबहूं न कहाइ, संतत रसिक सुनहु चितलाइ ।
श्री हरिवंश प्रताप जस ।
(से० वा० ३–८)

इसी प्रकार, एकमात्र श्यामश्यामा की प्रेम छटा से बँध जाने के कारण प्रेमी रसिक के द्वारा स्थापित रूढ़ियों, वैदिक तथा लौकिक कर्मों का निर्वाह नहीं होता । उसको इनके निर्वाह न होने से दोष भी नहीं लगता, क्योंकि उसकी दृष्टि से शुभ और अशुभ का द्वैत नष्ट हो जाता है । उसके मन की संपूर्ण वृत्तियाँ प्रेम-रसानुभव के लिये लालायित बन जाती हैं और वह उनही कर्मों में मनोयोग दे पाता है जो रसानुभव की वृद्धि में सहायक हों ।

इष्ट उपासना स्वभावतः अनन्य उपासना होती है । इस उपासना में इष्ट से अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नहीं रहती । संपूर्ण अनन्यता के बिना संपूर्ण इष्ट उपासना नहीं बनती । श्री नागरीदास कहते हैं, 'अनन्य कहना अत्यन्त कठिन है । यह तभी बनता है जब प्रेमी रसिक के मन की संपूर्ण दशायें इष्ट भजन के साथ मिल जाती हैं और उसका जागतिक पदार्थों के साथ तनिक भी संबंध नहीं रह जाता ।

अनन्य कहाइबौ अतिहो बाँकौ ।
सबै दसा जब भजनहिं मिलिहैं नैकु न इतकौ घाँकौ ॥

उपासक की सम्पूर्ण दशायें भजन के साथ मिलने का मतलब यह है कि 'उसका शरीर अपने धर्म के पालन में अनन्य भाव से दृढ़ होना चाहिये, उसका चित्त रसरीति के अनुशीलन में अनन्य भाव से रत रहना चाहिये, उसकी बुद्धि रस सिद्धान्त के विवेचन में अनन्य भाव से प्रयुक्त होनी चाहिये और उसका अहंकार सेवक-रूप में अनन्य भाव से विलय होना चाहिये ।

तन अनन्य निज धर्म दृढ़, रस अनन्य दृढ़ चित्त ।
बुधि अनन्य सिद्धान्त रस, अहं सु सेवक नित्त ।।

(सुधर्म बोधिनी)

इस दोहे में आये हुए निजधर्म रस, रस-सिद्धान्त और सेवक शब्दों का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है,' नवधा भक्ति की रीति से इष्ट और उपासक की उपासना ही धर्म है, नित्य विहार की रस रीति ही रज है, सेवक वाणी में कहा-गया सिद्धान्त ही रस-सिद्धान्त है और अनन्य दास भाव ही सेवक भाव है । अपने धर्म को छोड़कर यदि अन्य धर्म के पालन में शरीर लगेगा तो उसकी अनन्य धर्मिता नष्ट होगी, नित्य विहार रस को छोड़कर यदि चित्त को अन्य रस रुचेगा तो उसकी अनन्यता का निर्वाह नहीं होगा, रस के सिद्धान्त को छोड़ कर यदि बुद्धि अन्य सिद्धान्तों में उलझेगी तो उसको लक्ष्य सिद्धि न होगी और सेवक भाव को छोड़ कर अहंकार यदि अन्य कोई आश्रय ग्रहण करेगा तो वह अनन्य न बन सकेगा ।' (सुधर्म बोधिनी)

स्वामी चतुर्भुजदास ने अनन्य प्रेमी के लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं । 'वह सुत और धन के निमित्त अन्य किसी देवता या दैत्य का स्पर्श नहीं करता । वह वाणी से न तो अन्य कुछ बोलता है और न नेत्रों से अन्य कुछ देखता है । वह कानों से न तो अन्य कुछ सुनता है और न चित्त से अन्य कुछ विचार करता है । वह मन और वाणी में केवल हरि स्मरण रूपी कर्म करता है । वह सम्पूर्ण संसार के जंतुओं में एक मात्र कृष्ण की सत्ता को देखता है । अनन्य व्यक्ति केवल दो को ही भजता है, यातो हरिजन को या हरि को ।'

(द्वादश यश)

व्यवहार-सिद्धि के लिये भी अनन्य प्रेमी को अपने इष्ट के अतिरिक्त अन्य किसी का आश्रय ग्रहण नहीं करना चाहिये । गोस्वामी ब्रजलाल जी कहते हैं कि 'पुण्यवान पुरुष को पुत्रादि के निमित्त शीतला की उपासना नहीं करनी चाहिये । प्रताप-वृद्धि, वैभव-लाभ और व्यापार-सिद्धि के लिये क्षुद्र देवताओं का आश्रय नहीं लेना चाहिये । अपनी जीविका के लिये हरिभक्ति शून्य मनुष्यों की सेवा नहीं करनी चाहिये । उसको हृदय में इस प्रकार का दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि अनन्याश्रय साधु पुरुषों के योगक्षेम का निर्वाह करने वाले श्री हरि सर्वोत्कृष्ट विराजमान हैं ।'

नो पुत्रादिनिमित्त यत्र सुकृती संपूजयेत् शीतलाँ,
नान्यान क्षुद्रसुरान्प्रताप विभव व्यापारणार्थ यजेत् ।

नो वा जीवन हेतवेऽपि विमुखान्मर्त्यांश्च संसेवये-
योगक्षेमकरो हरिर्विजयतेऽनन्याश्रवायाणाँ सताम् ॥

(से० वि० ६३)

अनन्य प्रेमी को अन्य साधन-मार्गों से भी सम्पूर्णतया विरत रहना चाहिये । अनन्य प्रेमियों का यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि 'विधि पूर्वक किये गये योग, यज्ञ, तप, व्रत, नियम, तीर्थ-यात्रा, तीर्थ-स्नान, अनंत दान आदि से आत्मा वैसा शुद्ध नहीं होता जैसा श्री वृन्दावनांतर्गत यमुना-तट के कुंज प्रदेश में विराजमान श्री राधावल्लभ के चरण कमल के भजनानंद से होता है ।'

योगैर्यागै स्तपोभिर्व्रतनियमगणैस्तीर्थ यात्रादिभिर्न,
स्नानै र्दानैरनंतैर्विधिवदपि कृतै शुध्द्यते तादृगात्मा ।
श्रीमद्वृन्दावनान्तर्गततरवितनायातीरकुंजप्रदेशे,
श्री राधावल्लभस्यांघ्रि कमल भजनानंद तोयादृगेषः ॥

(से० वि० ६६)

इसी प्रकार प्रेमी अनन्यों को संध्यावंदन-तर्पणादि नित्य कर्म न करने से कोई हानि नहीं होती । कहा गया है ' जो साधु पुरुष प्रातःकाल श्री हरि की मंगला आरती के उत्सव में लग जाते हैं, मध्याह्न में जिनका मन प्रभु को भोगादि अर्पण में लगा रहता है, और सायंकाल में जो पुनः सेवा में प्रवृत्त रहते हैं, जिन्होंने अपनी सम्पूर्ण क्रियायें राधापति के चरणों में लगादी हैं उनको संध्यावंदन तर्पणादि न करने से कोई प्रत्यवाय नहीं होता ।'

प्रातः श्री हरि मंगलोत्सववतां मध्यान्ह काले पुन-
र्भोगाद्यर्पण मंत्रदत्त मनसां सायं पुनः सेविनां ।
एवं श्रीवृषभानुजा पतिपदन्यस्तक्रियाणां सतां,
सन्ध्या वंदन तर्पणाद्य करणे न प्रत्यवायो भवेत् ॥

(से० वि० ६९)

श्राद्धादिक कर्मों के लिये व्यवस्था दी हुई है 'अनन्य भक्तों को श्राद्धादिक नहीं करने चाहिये क्योंकि उनकी भगवत् शरणागति के द्वारा उनके पूर्वज कृतार्थ हो जाते हैं और यदि उनमें से किसी को प्रेतयोनि प्राप्त होने का सन्देह उपस्थित हो तो प्रतिदिन भगवन्नाम कीर्तन के द्वारा उनको तार देना चाहिये ।' (गया श्राद्ध के द्वारा नहीं ।)

श्राद्धादीन्नेवै कुर्यात् हरि शरण बलेनेव पूर्वेकृतार्थाः ।
संदेहे तारयेत् प्रतिदिन भगवन्नाम संकीर्तनेन ॥

(से० वि० ३७)

श्री ध्रुवदास कहते हैं कि 'जो लोग श्राद्ध कर्म में कुशल होते हैं वे पितृ लोक को जाते हैं । भक्त तो मुक्ति को भी कुछ नहीं समझता, अन्य लोकों की तो बात ही क्या है ?

कर्म श्राद्ध में कुशल जे पितृ लोक ते जाँहि ।
भक्त गनत नहिं मुक्ति की और लोक किहि माँहि ॥

श्री हित प्रभु के द्वितीय पुत्र श्री कृष्णचन्द्र गोस्वामी ने पितरों एवं देवताओं को संबोधन करके कहा है 'आप लोग बलि के सम्बन्ध में मुझ से निराश हो जाँय क्योंकि मेरी बलि (नैवेद्य) के अभिलाषी मुकुन्द भगवान हो गये हैं । इसमें आपकी हानि भी नहीं होती, आप अन्य लोगों से बलि ग्रहण कर लें ।'

शृण्वन्तु सर्वे पितरः सदेवा मत्तो निराशां बलितो भवंतु ।
जातोभिलाषी तु बलौ मुकन्दो हानिक्व गृह्णीत जनान्तरेभ्यः ।।

सम्पूर्ण वैदिक एवं स्मार्त कर्मों के त्याग के हेतु को स्पष्ट करते हुए उक्त गोस्वामिपाद ने कहा है 'मैं क्या करूँ, मेरी श्रद्धा ही अन्यत्र नहीं होती और श्रद्धा के बिना कोई कर्म फल नहीं देता। मेरी श्रद्धा तो श्री हरि के भक्ति भाव में दृढ़ हो गई है। मेरी इस विवशता से संसार चाहे सदैव प्रसन्न रहो या अप्रसन्न रहो, इसकी मुझे चिन्ता नहीं है।'

इसी विवशता ने श्री हित प्रभु को एकादशी व्रत का भी परित्याग करने को वाध्य किया था। वैदिक एवं स्मार्त कर्मों का त्याग तो साधारणतया सभी वैष्णव सम्प्रदायों में देखा जाता है, किसी में कम है किसी में अधिक। किन्तु एकादशी का व्रत वैष्णव व्रत है और पुराणों ने इसकी बड़ी महिमा गाई है। उधर भगवत् प्रसाद किंवा महाप्रसाद का भी वैष्णव धर्म में बहुत महत्व है और इसकी सर्व श्रेष्ठता के प्रमाण भी प्रचुर संख्या में मिलते हैं। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि एकादशी के दिन उपवास करना चाहिये या अन्य दिनों की भांति उस दिन भी महाप्रसाद ग्रहण करना चाहिये? सभी वैष्णव सम्प्रदायों ने उपवास के पक्ष में निर्णय दिया है। किन्तु हम जानते हैं कि सम्पूर्ण वैष्णव उपासना का आधार स्वामि-सेवक संबंध है। भगवान स्वामी हैं और उपासक उनका अनन्य सेवक किंवा दास है। हित प्रभु ने इस अनन्य दासता की सर्वांगीण सिद्धि के लिये ही एकादशी-व्रत का त्याग किया है। सेवा

-विचार' ग्रन्थ में पूछा गया है 'जो अनन्य उपासक दास भाव से प्रतिदिन अपने स्वामी को भोजन समर्पित करता है और सदैव उनके उच्छिष्ट को खाकर अपने दिनों को व्यतीत करता है, वह वेदों के अभिप्राय को जानने वाला प्रसादान्न भोजी एकादशी के दिन अपने स्वामी के भुक्त-शेष को सम्पूर्ण रूप से ग्रहण किये बिना कैसे रह सकता है' ?

दासोभूत्वासमर्प्य प्रतिदिन ममलं भोजनं स्वामिने तद्-
भुक्तं भुंजान एव क्षिपति यदि सदा सर्वदा स्ताननन्यः ॥
एकादश्यां कथं स त्यजति निजपतेर्भुक्त शेषं ह्यशेषं ।
वेदाभिप्राय वेत्ता दृढ़ हृदय गति स्तत्प्रसादान्न भोजी ?

(से. वि. ४४)

हितप्रभु ने अपनी स्वामिनी के प्रति अपनी पूर्ण अनन्याश्रयता की विज्ञप्ति करते हुए कहा है, 'हे श्रीराधे, तुम्हारे उच्छिष्ट रूपी अमृत का भोग करने वाला मैं तुम्हारे ही चरित को सुनता हुआ, तुम्हारी ही चरण-कमल-रज का स्मरण करता हुआ, तुम्हारे ही कुंज-गृहों में विचरण करता हुआ, तुम्हारे ही दिव्यगुणों का गान करता हुआ और हे रस-दायिनि, तुम्हारी ही आकृति को देखता हुआ अपने निर्मल शरीर, मन और वाणी के द्वारा तुम्हारा ही आश्रित हूँ।'

(रा० सु० २४०)

लाड़िलीदासजी ने बतलाया है 'श्यामाश्याम का भोग लगाकर और धर्मी रसिकों को भोजन कराकर शेष प्रसाद

को ग्रहण करना हो श्रीहित हरिवंश के अनुयायिओं का उपवास है'।

भोग लगै हित लाड़िले पुनि पवाइ हितदास।
सो प्रसाद लै पाइये यह अपनौ उपवास ॥

(सु० बो०)

श्री हरिराम व्यास ने उनही को श्री हरिवंश का अनुयायी माना है जिनके मन में यह दृढ़ विश्वास है कि करोड़ों एकादशी-व्रत महाप्रसाद के एक अंश के समान हैं।

कोटि-कोटि एकादशी महा प्रसाद कौ अंश।
व्यासहि यह परतीत है जिनके गुरु हरिवंश ॥

(साखी)

नाभाजी ने अपने छप्पय में श्री हितप्रभु के सम्बन्ध में इसीलिये कहा है 'महाप्रसाद उनका सर्वस्व था और वे उसके प्रसिद्ध अधिकारी थे। उन्होंने विधि-निषेध का त्याग करके अनन्य दासता के उत्कट व्रत को धारण किया था'।

सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी।
विधि-निषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी ॥

(भक्तमाल)

श्री हितप्रभु के समय का आस्तिक समाज अनेक देवी-देवताओं, मंत्र-तंत्रों आदि में श्रद्धा रखने के अतिरिक्त नव-ग्रहों के शुभाशुभ फलों पर एवं उनसे सन्बन्धित अनेक वहमों में विश्वास रखता था। स्वयं श्री हितप्रभु का जन्म एक प्रसिद्ध ज्योतिषी-घराने में हुआ था एवं उनके घर का राज-तुल्य वैभव ज्योतिष-विद्या के बल से ही उपार्जित था। उनको

भी बाल्यकाल में इस विद्या की शिक्षा दी गई थी। किन्तु उन्होंने उस अल्प वय में ही यह समझ लिया था कि ग्रहादिकों के ऊपर विश्वास रखने से अनन्य प्रेम बाधित होता है और भगवत्-चरणों के प्रति अनास्था होती है। इस सम्बन्ध में उनके दो सवैये प्राप्त होते हैं। एक में उन्होंने समस्त प्रतिकूल ग्रहों का एकत्र उल्लेख करके अंत में कहा है 'जिस व्यक्ति ने अपने मन को श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित कर दिया है, उसका यह रंक नव ग्रह क्या बिगाड़ सकते हैं' ?

जो पै कृष्णचरण मन अर्पित तौ करि हैं का नवग्रह रंक ।

(फु० वा० १)

दूसरे सवैये में उन्होंने समस्त अनुकूल ग्रहों को एकत्रित करके अन्त में कहा है 'जो लोग गोविन्द को छोड़कर दशों दिशाओं में भटकते हैं उनकी भलाई अच्छे ग्रह नहीं कर सकते।'

गोविंद छाँड़ि भ्रमंत दशौ दिश तौ करि हैं कहा नव ग्रह नीके।

(फु० वा० २)

अनन्य प्रेम फलाकांक्षा शून्य होता है। वास्तव में उसमें फलाकांक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह स्वयं फलरूप है। इसीलिये सकाम मन के द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता। जो लोग प्रेमोपासक बनकर सकाम कर्मों में विश्वास रखते हैं उनकी मूढ़ता पर तरस खाकर श्री ध्रुवदास कहते हैं 'जो व्यक्ति वृन्दावन से सम्बधित होकर तिथि और विधि को मानते हैं उनके पास प्रेम-भजन कैसे रह सकता है ? वे मूढ़ अपने हाथों उसे खो देते हैं। वे ना समझी से काँच के

दानों की माला में चन्द्रमणि को गुहते हैं ! उनकी समझ में यह नहीं आता कि जहाँ के यमुना.पुलिन की सघन कुंजें अद्भुत सुख की सदन हैं और जहाँ प्रेम स्वरूप श्री राधा हरि नित्य प्रेम-क्रीड़ा में रत हैं, ऐसा यह वृन्दाविपिन है' ।

वृन्दा विपिन निमित्त गहि तिथि बिधि मानैं आन ।
भजन तहाँ कैसे रहै खोयौ अपने पान ॥
खोयौ अपने पानि मूढ़ कछु समझत नाहीं ।
चन्द्र मणिहिं लै गुहै काँच के मनियनि माहीं ॥
यमुना-पुलिन निकुंज घन अद्भुत है सुख को सदन ।
खेलत लाड़िली लाल जहाँ एसौ है वृन्दा विपिन ॥

(भजन कुंडलियाँ)

धर्मी रसिक गण जिस वृन्दावन.रस की उपासना करते हैं वह त्रिगुणातीत और सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र पदार्थ है । उसका उदय सर्व निरपेक्ष होता है, और उदय होने के बाद वह उपा. सक को संपूर्ण द्वन्द्वों और सीमाओं से ऊपर उठा देता है। इस रस के तटस्थ लक्षणों का वर्णन करते हुए सेवक जी ने कहा है 'श्री हरिवंश ने श्यामा-श्याम का जो सुयश गाया है वही रस सब रसिकों को उनके सुकृत के फल रूप में प्राप्त हुआ है । इस रस में न तो विधि-निषेध का झगड़ा है, न लग्न और ग्रहों के वेध हैं । इसमें कुदिन और सुदिन कुछ नहीं हैं और न शुभ-अशुभ एवं मान-अपमान हैं । इसमें न तो असत्य, भ्रम, कपट और मिथ्या चतुराई है और न स्नान-क्रिया एवं जप-तप हैं । इसमें ज्ञान और ध्यान भी प्रयास मात्र हैं ।

(से० वा० २-४)

सारा सार विवेकिनी बुद्धि के द्वारा ही इस रस का ग्रहरण संभव है। यही बुद्धि सब प्रकार से निर्भय बनकर वृन्दावन रसरीति का अनुसरण करती है। सेवक जी ने अपना उदाहरण देकर समझाया है, 'जितने भी साधन हैं वे सब सकाम मति से प्रेरित होने के कारण स्वार्थमय एवं अनीति पूर्ण हैं। ज्ञान, ध्यान, व्रतकर्म आदि पर मुझको विश्वास नहीं होता। रसिक अनन्यों ने तो दुंदुभी बजा कर एक मात्र श्याम-श्यामा की प्रीति का आश्रय लिया है। श्री हरिवंश के चरण कमलों के एकान्त सेवक रसरीति को छोड़ कर कभी विचलित नहीं होते।'

साधन विविध सकाम मति सब स्वारथ सकल सबै जुअनीति।
ज्ञान, ध्यान, व्रत, कर्म जिते सब काहू में नांहि मोहि प्रतीति ॥
रसिक अनन्य निसान बजायौ एक श्याम श्यामा पद प्रीति।
श्रीहरिवंश चरण निज सेवक बिचलै नांहि छाँड़ि रस रीति ॥
(से० वा० १३-१)

सखी गरण की प्रेम-पद्धति के अनुकरण पर, जिस प्रकार इस संप्रदाय में प्रेमी की उपासना का विधान किया गया है, उसी प्रकार यहां का उपासना मार्ग भी सखीगरण की सहज प्रेमोपासना का अनुसरण करता है। हम देख चुके हैं कि सखियों के जीवन का एक मात्र उद्देश्य युगल की परिचर्या करना है और इसके साथ वे सहज रूप से श्याम-श्यामा के नाम-रूप का गान करती रहती हैं। उनकी इन प्रवृत्तियों के अनुकरण पर संप्रदाय के उपासना-मार्ग के तीन अंग रखे गये हैं परिचर्या, नाम-स्मरण और वाणी-अनुशीलन। हम इन तीनों को क्रमशः उपस्थित करेंगे।

परिचर्या

परिचर्या का लक्षण गोस्वामी वृन्दावनदास जी ने बतलाया है 'दास जिस प्रकार की सेवा नृपति की करता है, उस प्रकार की सेवा का नाम परिचर्या है। नवधा भक्ति में परिचर्या को पाद-सेवन कहते हैं'।

परिचर्या तु सा ज्ञेया सेवा या दास वन्नृपे।
पाद सेवन मित्यस्याः पर्यायः श्रवणादिषु।
(अ० वि०)

सम्पूर्ण अधीनता प्रेम का एक अत्यन्त मौलिक अंग है, यह हम देख चुके हैं। यह अधीनता नितान्त स्वभाविक होती है, अतः इसका पूरा उदाहरण नहीं मिल सकता। क्रीत-दासों की अपने स्वामी के प्रति एकान्त अधीनता से इसको कुछ समझा जा सकता है। किन्तु इन दोनों में एक बड़ा भारी अंतर यह है कि प्रेम में मनुष्य को विना मोल बिक जाना पड़ता है। क्रीत दास अवसर मिलने पर मुक्ति का स्वप्न देखता है। प्रेमी के लिये मुक्ति अकल्पनीय ही नहीं, सबसे बड़ा अभिशाप है। उपासक के हृदय में प्रेम की इस सहज अधीनता को उदय करना ही 'परिचर्या' का प्रधान लक्ष्य है। परिचर्या दो भावोंसे की जाती है, दास-भाव से और दासी-भाव से। अधीनता समान होते हुए भी, रसिकों ने, रस के अधिकार की दृष्टि से, इन दोनों में बहुत बड़ा अंतर माना है। उज्ज्वल रस की परिचर्या में केवल दासी-भाव का ही अधिकार है। दास भाव ही नहीं, सख्य एवं वत्सल भावों का भी वहाँ प्रवेश नहीं होता। उज्ज्वल रस की उपासना की दृष्टि से दास-भाव, सख्य-भाव, वत्सल-भाव एवं दासी-भाव किंवा

सखी-भाव के तारतम्य को स्पष्ट करते हुए गोस्वामी ब्रजलाल जी कहते हैं 'दास अपने स्वामी श्री कृष्ण की सेवा राज-सभा में कर सकता है, अन्तपुर में उसका कोई अधिकार नहीं होता। सखागण श्री कृष्ण के साथ समानता के भाव से हास-परिहास करते हैं किन्तु रहस्य में उनका भी प्रवेश नहीं है। वत्सल भाव में स्नेह तो खूब होता है किन्तु दोनों के बीच में स्वामि-सेवक भाव नहीं होता। अतः श्री राधा की दासी किंवा सखी भाव के बिना उपासक का प्रवेश रास लीला में नहीं होता।

दास : स्वस्वामि सेवा सदसि च कुरुतान्नान्तर स्याधिकारः,
सख्ये कृष्णेन हासादिक मथ कुरुतान्नो रहस्ये प्रवेशः।
वात्सल्ये स्वामि भावः कथमिहमनयोः संभवेद्राधिकाकाया,
दास्यात्सख्याद्विना किंभवति चभजतां रास लीला प्रवेशः॥

(से० वि० ६१)

हित प्रभु के संपूर्ण श्री राधासुधा निधि स्तोत्र मे एकमात्र श्री राधा दास्य की प्राप्ति की प्रार्थना की गई है। श्री राधा के अद्भुत रूप के वर्णन के साथ उनके सुदुर्लभ दास्य को प्राप्त करने की तीव्र आकांक्षा इस ग्रन्थ में पद-पद पर दिखलाई देती है। श्रीराधा के दास्य का अधिकार कितना दुर्लभ है इसको एक श्लोक में स्पष्ट करते हुए वे प्रार्थना करते हैं 'जो लक्ष्मी को गोचर नहीं है, जो श्री कृष्ण-सखाओं को प्राप्त नहीं है और जो ब्रह्मा, नारद, शिव, आदि के लिये संभाव्य नहीं है, जो वृन्दावन की नागरी सखियों के भाव के द्वारा किसी प्रकार

लभ्य है; श्रीराधा-माधव को एकान्त-क्रीड़ा का वह दास्याधिकार रूपी उत्सव मुझे प्राप्त हो ।' (रा० सु० २३६)

अन्यत्र, इस सुदुर्लभ दास्य की रमणीयता का स्मरण करते हुए वे आकुलता से पूछते हैं, 'जिन प्रेम घनाकृति श्री राधा के पद-नख-ज्योत्स्ना-प्रवाह में स्नान किये हुए हृदयों में कोई अनिर्वचनीय, सरस एवं चमत्कार पूर्ण भक्ति समुदित हो जाती है, वे गोकुल-भूप-नंदन के मन को चुराने वाली किशोरी अपना वह दास्य मुझे कब प्रदान करेंगी जो सम्पूर्ण वेदों के शिरोभाग रूप उपनिषदों का परम रहस्य है ।'

यस्याःप्रेम घनाकृतेः पद-नख-ज्योत्स्ना भर स्नापित,
स्वान्तानां समुदेति कापि सरसा भक्तिश्चमत्कारिणी ।
सा मे गोकुल-भूप-नंदन मनश्चोरी किशोरी कदा,
दास्यं दास्यति सर्व वेद शिरसाँ यत्तद्रहस्यं परम् ॥

(रा० सु० २०४)

उपासक को अपने हृदय में दासी भाव का अंगीकार करके परिचर्या में प्रवृत्त होना चाहिये । दासीभाव के अंगीकार का अर्थ यह है कि उसे अपने आप को राधा-किंकरी के रूप में देखना चाहिये। इसके लिये उपासक को यह अनुभव करना चाहिये कि 'मैं एक परम सुकुमारी किशोरी हूँ, जिसने अपनी स्वामिनी के द्वारा प्रणय पूर्वक दिये हुए वस्त्राभूषणों को धारण कर रखा है, जो सदैव अपनी स्वामिनी के पार्श्व में स्थित है, और जो नाना प्रकार की परिचर्याओं में चतुर है ।'

(रा० सु० ५२)

श्यामा श्याम की परिचर्या का प्रकार बतलाते हुये श्रीध्रुव-

दास जी कहते हैं 'उपासक को स्नानादिक से निवृत्त होकर अपने मस्तक पर तिलक धारण करना चाहिये और फिर स्त्री (दासी) के शरीर का भाव रख कर सेवा के निमित्त विविध शृंगारों को उस शरीर पर धारण करना चाहिये। युगल के महल की टहल का अधिकार तभी प्राप्त होता है। नारी किंवा पुरुष जिनके हृदय में भी यह भाव स्थिर होगया है उनके चरणों की रज लेकर नित्य प्रति अपने मस्तक पर धारण करनी चाहिये'।

तिय के तन कौ भाव धरि सेवा हित शृंगार।
युगल महल की टहल कौ तब पावै अधिकार ॥
नारी किंवा पुरुष हो जिनके मन यह भाव।
दिन-दिन तिनकी चरण-रज लै लै मस्तक लाव ॥

(भजन सत)

दासी रूप के चिंतन से उपासक के चित्त में जिस भाव-स्वरूप का निर्माण होता है, वह उसका भाव-देह कहलाता है। जीव के प्राकृत देह का संचालन उसका मलिन अहंकार करता है, जिसके कारण वह अपने को अमुक जाति, कुल, वर्ण और सम्बन्धों वाला समझता है। उपासक के भाव देह का संचालन उसका शुद्ध अहंकार करता है, जिसके कारण वह अपने को राधामाधव की दासी एवं उनही के सम्बन्धों से सम्बन्धित व्यक्ति समझता है। भाव-देह के पुष्ट होने से प्राकृत देह का प्रभाव क्षीण होने लगता है एवं उससे सम्बन्धित सम्पूर्ण सम्बन्ध भी शिथिल हो जाते हैं। मनुष्य की इन्द्रियाँ निसर्गत: बहिर्मुख हैं अत: उसकी साधारण गति बाहर की

ओर है। साथ ही, मनुष्य में कोई एक ऐसी चीज है जो बाहर की गति से सन्तुष्ट नहीं होती और उसको अन्दर की ओर जाने को प्रेरित करती है। सब साधना-मार्ग मनुष्य की इस अन्तर्मुखता को प्रोत्साहित करके उसको एक परम तोषमय पद पर पहुँचाने की चेष्टा करते हैं। दास किंवा सखीभाव की साधना मनुष्य की अंतर्मुखता को श्रीराधा-किंकरी के रूप में एक ऐसा आकर्षक एवं रुचिकर आधार प्रदान करती है जिसके सहारे वह क्रमशः बढ़ती चली जाती है। मनुष्य का अंतर्मुख रूप ही उसका स्थायी एवं वास्तविक रूप है। श्री लाड़िलीदास कहते हैं 'सखी रूप त्रिगुण देह से प्रथक है। उसमें स्थित होकर ही अनुपम नित्यविहार के दर्शन होते हैं। उस रूप में स्थित होते ही त्रिगुण देह का अभिमान छूट जाता है और सुख-दुख, लाभ-अलाभ एवं मान-अमान में समता प्राप्त हो जाती है'।

त्रिगुण देह तें प्रथक है सखी आपनौ रूप।
तामें स्थित ह्वै निरखि नित्यविहार अनूप॥
वामें स्थित ह्वै तजौ त्रिगुण देह अभिमान।
दुख-सुख, लाभ-अलाभ सम मानामान समान॥

(सु० बो०)

उज्जवल प्रेम की परिचर्या के लिये दासी भाव आवश्यक है और दासी भाव की स्थिति के लिये परिचर्या आवश्यक है। परिचर्या के विविध अंगों का अनुष्ठान करने से दासी भाव पुष्ट होता है और दासी भाव से की गई परिचर्या पूर्ण एवं रसमय बनती है। उपासक के मन को प्रेमाधीन बनाकर

अन्तर्मुख बना देनापरिचर्या का फल है । प्रेम के द्वारा अन्तर्मुख बना हुआ मन ही जड़ता के बंधनों से निकल कर परम प्रेम रस का आस्वाद करता है। इस सम्प्रदाय में परिचर्या के तीन भेद माने गये हैं—प्रकट सेवा, भावना एवं नित्यविहार ।

प्रकट—सेवा

श्री राधाकृष्ण के प्रकट स्वरूपों (विग्रहों) की परिचर्या को प्रकट सेवा कहते हैं। राधावल्लभीय पद्धति की सेवा में राधावल्लभलाल का त्रिभंग-ललित, वेणुवादन-तत्पर स्वरूप विराजमान रहता है और उनके वाम अंग में, एक विशेष प्रकार से, भव्य वस्त्रों के द्वारा श्रीराधा की 'गादी' की रचना रहती है, जिसमें कनक-पत्र पर लिखा हुआ—'श्री राधा' नाम धारण रहता है । इस 'गादी' किंवा 'आसन' पर ही श्री राधा की परिचर्या में आवश्यक द्रव्य धारण कराये जाते हैं ।

स्थापयेद्वामभागे तु प्रेयस्या आसनं प्रभोः ।
तदीयं परिचर्यार्हं द्रव्यं तत्रैव विन्यसेत् ॥

[अ० वि० २०]

कहा गया है 'श्री राधा के विना न तो श्री हरि का पूजन करना चाहिये, न ध्यान करना चाहिये और न जप करना चाहिये । क्योंकि राधा के विना क्षणार्ध में ही श्री कृष्ण विकल होकर सुध-बुध खो बैठते हैं । इसलिये सार वेत्ता शुद्ध युगल उपासक को, श्री राधा के साथ रह कर ही

प्रमुदित रहने वाले अपने स्वामी की, सदैव श्री राधा के साथ ही सेवा करनी चाहिये'।

श्रीमद्राधां विना न प्रभुवर मनिशं श्री हरिं पूजयेच्च,
नध्यायेन्नोजपेत्तामल युगलवरोपासकः सारवेत्ता।
यस्मादर्ध क्षणेतद्विरह विकलितो मुग्धतामेति कृष्ण–
स्तस्मात्साकं तयैव प्रमुदित मनसं स्वामिनं स्वं भजेत ।।

(से० वि० ६)

सेवा का आरंभ प्रातःकाल से होता है। 'स्नानादिक से निवृत्त होकर उपासक मस्तक पर तिलक एवं अंगों में भगवन्नामांकित मुद्रा धारण करता है और फिर भक्ति पूर्ण हृदय से गुरु-प्रदत्त मंत्र का जाप करता है। इसके बाद वह अपने सेव्य के मन्दिर का संमार्जन करके उसको शुद्ध जल से धोता है और सेवा के पात्रों को माँज कर साफ़ करता है। तदनंतर युगल का गुण-गान करता हुआ वह उनको शय्या पर से उठाता है और उनके सन्मुख जल, कुल्ला करने का पात्र एवं मुख पौंछने के लिये स्वच्छ वस्त्र रखता है स्निग्धभोग-सामग्री एवं शीतल जल निवेदन करके उनको ताम्बूल अर्पण करता है और फिर श्री युगल की 'मंगला आरती' करता है। इसके बाद प्रभु के शरीर पर सुगंधित तेल का मर्दन करके उनको गुनगुने सुगंधित जल से स्नान कराता है और स्वच्छ वस्त्र से अंग अँगोछ कर उनका विविध वस्त्राभूषणों से शृंगार करता है। उनके मुख पर चंदन से मकरी-लेखन (पत्र-रचना) करता है और उनको पुष्पों की वैजयंती माला धारण

कराकर चरणों में तुलसी अर्पण करता है। तदनंतर भोग एवं जल अर्पण करके प्रीति पूर्वक शृंगार आरती करता है और प्रमुदित मन से युगल की परिक्रमा करके उनको दर्पण दिखाता है। इसके बाद सेवा के अपराधों के लिये क्षमा माँगता हुआ, उनके मार्जन के लिये भगवन्नाम का जप करता है। तदनंतर वह अपने प्रभु के सामने रसिक महानुभावों के बनाये हुए पदों का गान करता है और प्रेम पूर्वक नृत्य करता है। इन सुख मय कार्यों से निवृत्त होकर वह युगल को विविध प्रकार की भोग-सामग्री अर्पण करता है और ताम्बूल अर्पण करके मध्याह्न आरती करता है। आरती के बाद सुगंधित पुष्पों के द्वारा शय्या की रचना करके अपने इष्ट को उस पर शयन कराता है और स्वयं प्रीति पूर्वक उनका चरण-संवाहन करता है एवं पंखे से धीरे-धीरे हवा करता है।"

"इस प्रकार प्रात:कालीन एवं मध्याह्न-कालीन सेवा से निवृत्त होकर वह अपने परिजनों, अन्य वैष्णवों एवं अतिथियों के साथ भक्ति पूर्वक प्रभु का प्रसाद ग्रहण करता है। अवकाश के समय में अपने जीवन निर्वाह के कार्यों को भगवन्नाम का जप करता हुआ नीति पूर्वक करता है।'

'अर्धयाम (डेढ़ घंटे) दिन अवशिष्ट रहने पर वह सायं सेवा के लिये, गुण-गान करता हुआ, अपने प्रभु को पुन: उठाता है। युगल को विमल जल पान कराकर वह उनका नवीन शृंगार करता है एवं उनको कालोचित भोग-सामग्री एवं ताम्बूल अर्पण करता है। तदनंतर वह उनके सन्मुख

स्वयं अथवा गुणी-जनों के द्वारा अनेक वाद्यों के सहित गान करता है या कराता है और प्रभु को सन्ध्याकालीन भोग अर्पण करके प्रेम पूर्वक उनकी सन्ध्या आरती करता है। तदनंतर प्रभु के सन्मुख समयोचित पदों का गान एवं नृत्य करके उनको शयन-भोग अर्पण करता है। शयन आरती के बाद उनको पुष्प-रचित शय्या पर शयन कराकर सेवापराधों के लिये क्षमा माँगता हुआ प्रेम पूर्वक प्रभु का चरण-संवाहन करता है''।

नित्य सेवा का यह वर्णन सम्प्रदाय के सेवा-ग्रन्थों से उद्धृत किया गया है। नित्य सेवा के अतिरिक्त नैमित्तिक सेवा भी है जो विशेष अवसरों पर विशेषता के साथ की जाती है। इसको उत्सव-सेवा भी कहते हैं। विशेष शृंगार एवं विशेष भोग-राग के द्वारा उत्सव-सेवा निष्पन्न होती है। श्री लाड़लीदास ने प्रधान उत्सव दस बतलाये हैं—फाग डोल, चंदन वसन, भूलन, शरदोत्सव, *पाटोत्सव, दीपमालिका, कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा, वनविहार, खिचरी उत्सव और वसंत।

दासी भाव से भावित होकर ही प्रकट सेवा करने का विधान है। 'सेवा-विचार' में इस भाव के उपासक को एक बात से सावधान कर दिया गया है। कहा है 'श्री राधा किंकरी का भाव एक मानसिक धर्म है अतः सर्व साधारण के

---

* राधावल्लभलाल की प्रकट सेवा का स्थापना-दिन, कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी।

सामने न तो उसका वर्णन करना चाहिये और न उसका अनुकरण अपने शरीर पर धारण करना चाहिये। सब मुनि-जनों ने भावना के अनुकूल सिद्धि मानी है अतः इस प्रकार के भावुक को भी, श्री राधा की कृपा से, उनकी दासी पद की प्राप्ति निश्चित रूप से होती है।

धर्मोयं मानसोस्ति प्रभुवर गृहिणी दासिकायास्तुभावो,
वक्तव्यो नैव वाह्ये न तदनुकरणंस्वे शरीरेथधार्यं।
सिद्धः सर्वत्र गीता सकल मुनि जनै भविना या समाना,
श्रीमद्राधा कृपातो नियत मथभवेत्तत्पद प्राप्ति रस्य॥

(से० वि० ६०)

इस सम्प्रदाय की सेवा में किसी अवसर पर भी वैदिक, तांत्रिक और पौराणिक मंत्रों का प्रयोग नहीं होता और शुद्ध तत्सुख मयी प्रीति के आधार पर ही सेवा के सम्पूर्ण कार्यों का निर्वाह होता है। श्री व्रजलाल गोस्वामी कहते हैं 'वेदों में, तंत्रों में और पुराणों में अनेक प्रकार की श्री कृष्ण-सेवा बतलाई गई है। वह सब मंत्रात्मिका है, विभिन्न मंत्रों से निष्पन्न होने वाली है। हमारे यहाँ तो श्रीगुरु की कृपा से अपने भाव एवं अपनी कुल-परिपाटी के अनुकूल प्रेमपूर्ण सेवा ही प्रकाशित हो रही है।'

वेदैस्तंत्रैः पुराणैर्जगति बहु विधा कृष्ण सेवा प्रदिष्टाः
नाना मंत्रात्मिकासा तदधिकृत जनेसर्वदास्तांप्रकामं।
अस्माकं तु स्वभाव स्वकुल समुचिता प्रेमपूर्णा पुरोक्ता,
श्री राधाकृष्ण सेवा समुदयतु हृदि श्रीगुरोः सत्कृपातः।

(से० वि० ६३)

इसके साथ यह व्यवस्था भी दी हुई है, 'अपने सेव्य स्वरूप के सामने न तो आँख बन्द करके ध्यान करना चाहिये और न प्राणायाम, अंगन्यास, करन्यास आदि कर्म ही करने चाहिये, क्योंकि प्रभु के समक्ष ध्यानादिक करने से उनमें सेव्य भाव तत्काल ही शिथिल हो जाता है और उनके प्रति ब्रह्म बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। शुद्ध प्रेम का प्रकाश केवल श्रीकृष्ण की परिचर्या से ही होता है, अन्य किसी साधन से नहीं'।

न ध्यायेन्नेत्र युग्मं प्रभुवर पुरतः सन्निमील्य स्वकीयं,
प्राणायामाङ्ग हस्तन्यसन जपमुखं कर्म नैवाचरेत ।
ध्यानादेः सेव्य भावः सपदि विरमति ब्रह्मबुद्धिश्च नश्ये-
च्छुद्ध प्रेम्णाप्रकाशं रचियति सततं कृष्ण सेवैव नान्या ॥
(से० वि० ४६)

इस सेवा प्रणाली में शालिग्राम शिला की सेवा का भी विधान नहीं है। कहा गया है 'शालिग्राम आदि मूर्तियों में प्रेमलीला परायण वृन्दावन विहारी की नित्य कैशोर लीला की अनुकृति वंशी, मोरमुकुट, त्रिभंगत्व आदि चिन्हों के द्वारा देखी नहीं जाती। अतः अपने अनन्य विमल एवं सहज सुखमय भाव से बँधे हुए हमारे पूर्वाचार्यों ने इष्टाक्षरों के लेख वाली 'नाम सेवा' रूपी मूर्ति स्थापित की है'।

शालिग्रामादि मूर्तौ विपिनवर गत प्रेम लीला परस्य,
नित्या कैशोर लीलानुकृतिरथ यतो दृश्यते नैव चिन्है ।

तस्मात्पूर्वैरनन्यामल सहजसुख स्वीय भावानुवद्धै
लेप्या संस्थापितेष्टाक्षर लिखनमयी नाम-सेवेति मूर्ति ।
(से० वि० ५२)

'नाम-सेवा' इस सम्प्रदाय की एक विशेष वस्तु है । वैष्णव सिद्धान्त में नाम और नामी सर्वथा अभिन्न हैं । अतः जो सपर्या हम नामी के स्वरूप को अर्पण करते हैं वही नाम के स्वरूप को भी अर्पण कर सकते हैं ।

'नाम-सेवा' में नाम का लिपि मय रूप प्रस्तर पर किंवा काठ पर उपस्थित किया जाता है । इसमें 'राधा-वल्लभो जयति' अथवा 'श्री राधावल्लभ-श्री हरिवंश' नाम लिखा रहता है । 'नाम सेवा' का आकार चौकोर रहता है और शृंगार धारण कराने की सुविधा के लिये किसी-किसी में चौकोर भाग के ऊपर मुख का आकार बना दिया जाता है । श्रीमद् भागवत् में आठ प्रकार की भगवत् प्रतिमाओं का विधान है उनमें 'नाम-सेवा' भगवान की-'लेप्या' प्रतिमा है । संकट काल में किंवा प्रवासादि में जहाँ स्वरूप-सेवा का अवसर प्राप्त नहीं होता वहाँ नाम-सेवा को कंठ में धारण करके उसका प्रसाद एवं चरणोदक लेने की व्यवस्था दी हुई है ।

अनन्य रसिकों ने अपनी नित्य-कैशोर-लीला की सेवा प्रणाली में वैकुंठादि लीलाओं के चिन्हों को ग्रहण नहीं किया है । इनकी सेवा में न तो शंख-चक्रादिक रहते हैं और न घंटा पर गरुड़ का आकार स्थापित रहता है । अनेक पुराण–वाक्यों के आधार पर यह सिद्धांन्त किया गया है कि 'राधापति की

प्रथम अवतार-रचना वैकुंठ में है । श्रीकृष्ण के अंश से नारायण हरि की उत्पत्ति हुई है और श्री राधा के अंश से कमला का प्रादुर्भाव हुआ है। जगत की रक्षा के लिये इन दोनों लक्ष्मी-नारायण से अनेक अवतारों की रचना हुई है । वृन्दाविपिन में नित्य विहारी श्री राधामोहन सर्वोत्कृष्ट रूप में विराजमान हैं' ।

वैकुंठे प्रथमावतार रचना राधापतेर्वर्तते,
कृष्णांशेन हरिर्बभूव कमला राधांशतो निश्चितं ।
भूत्वा तौ बहुधावतार रचनां कृत्वा जगद्रक्षतोऽ
रण्ये नित्य विहारिणौ हि जयतः श्रीराधिका मौहनौ ।।
(से० वि० ५४)

प्रकट सेवा को नित्यविहार की नींव कहा गया है । 'भगवत् कृपा से जिस उपासक के चित्त में प्रकट सेवा की सुदृढ़ नींव लग जाती है उसके हृदय में 'हित-महल-रस' (नित्यविहार-रस) निश्चल रूप से स्थित हो जाता है' ।

प्रगट भाव की नींव दृढ़ कीजै कृपा मनाइ ।
तव निश्चल हित-महल-रस रहै चित्त ठहराइ ।।
(सु० बो०)

श्री लाड़िलीदास अन्यत्र कहते हैं 'प्रकट सेवा एक सच्ची हुंडी है। जिन्होंने इस हुंडी को ग्रहण किया है उनको इसके पूरे दाम मिले हैं। अब भी जो उपासक इसको दृढ़ विश्वास पूर्वक ग्रहण करते हैं उनको वृन्दावन की सुन्दर सम्पत्ति मिलती है।'

प्रगट भाव हुंडी सही गही लहे तिन दाम ।
अबहुँ गहैं विस्वास दृढ़ लहैं सु संपति धाम ।।

(सु० बो०)

भावना

'भावना' से तात्पर्य उस सेवा से है जो किसी बाह्य उपादान के विना केवल मन के भावों के द्वारा निष्पन्न होती है । इस सेवा में सेव्य, सेवा की सामग्री एवं सेवक भाव के द्वारा उपस्थापित होते हैं । इस सेवा का समावेश 'ध्यान' के अन्तर्गत होता है। इस सेवा में भी सर्व प्रथम सखी भाव को अपने मन में स्थिर करना होता है । भावना के अभ्यासी को यह तीव्र आकांक्षा अपने मन में जगानी होती है कि 'मुझको जिस भाव का आश्रय है, वही जिनका भाव है, भगवान के उन नित्य संगीजनों (सखीजनों) जैसा प्रेम मुझ में भी हो ।'

निजोपजीव भावानां भगवन्नित्य संगिनाम् ।
जनानां यादृशो रागस्तादृगस्तु सदा मयि ।।

(अ० वि० ६)

'अभ्यासी को सखीजनों के भाव की भावना में स्थिर रहना चाहिये क्योंकि उस भाव को लक्ष्य करके अपने अन्दर बढ़ी हुई भावना–वल्ली कभी फलहीन नहीं होती' ।

इत्थं भावनयास्थेयं स्वस्मिन्स्तत्समभिलक्षिता ।
समृद्धा भावना वल्ली न वंध्या भवति ध्रुवम् ।।

(अ० वि० ७)

इस सम्प्रदाय के भाव के अनुकूल भावना के अभ्यास का क्रम इस प्रकार बतलाया गया है। ब्रह्ममुहूर्त में उठकर एवं मन को एकाग्र करके पहिले मंत्रोपदेष्टा गुरु के सखीरूप को और फिर सम्प्रदाय-प्रवर्तक गुरु के सखीरूप को श्रद्धा-पूर्वक नमस्कार करना चाहिये। तदनन्तर श्रीमद् वृन्दावन का ध्यान करना चाहिये 'जिसमें लताओं के ही नाना प्रकार के भवन बने हुए हैं और जिसकी दिशायें विचित्र पक्षियों के समूह के नाद से मुखरित हैं। उपासक, इस वृन्दावन में प्रियतम से संयुक्त प्रिया का और प्रिया से संयुक्त प्रियतम का एवं इन दोनों का मिलन ही जिसके जीवन का एक मात्र आधार है उस सखी-समुदाय का, भली प्रकार से स्मरण करे। जो युगल परस्पर दर्शन, स्पर्शन, गंधग्रहण, और श्रवण में ही तत्पर रहते हैं एवं इन बातों को छोड़कर जिनमें परस्पर कोई अन्य व्यवहार है ही नहीं, उनकी शैय्या पर विराजमान होने से पूर्व की एवं शैय्या से उठने के पश्चात् की मधुर रस भरी नित्य-लीला का मन के द्वारा संस्मरण करे'।

श्रीमद् वृन्दावनं ध्यायेन्नानाद्रुम लतालयम्।
विचित्र पत्रिनिवह मुखरीकृत दिङ्मुखम्॥

प्रियां दयित संयुक्तां दयितं च प्रिया युतम्।
तत्संगमैक जीवातु मालिव्यूहं च संस्मरेत्॥

यौ दर्शस्पर्शनाघ्राण श्रवणेषु च तत्परौ।
परस्परं तदितर व्यवहार वियोगिनौ॥

नित्यां स्वारसिकीं लीलां मनसा संस्मरेत्प्रभोः ।
शैया रोहणतः पूर्वां परां शय्यावरोहणात् ॥
(अ० वि० १२-१३-१५-१६)

प्रकट सेवा जिस प्रकार मंगला आरती से शयन आरती पर्यन्त होती है, उसी प्रकार भावना का भी क्रम है । दोनों सेवाओं में भेद यह है कि प्रकट सेवा स्थूल देश काल से आवद्ध है और भावना में इस प्रकार का कोई बंधन नहीं है। भावना में ऐसी लीलाओं का भी समावेश हो जाता है जिनका दर्शन प्रकट सेवा में संभव नहीं है । उदाहरण के लिये सायंकालीन सेवा में उत्थापन के बाद बन-विहरण, जल-केलि, कंदुक-क्रीडा, दानलीला आदि लीलाओं का चिंतन करने की व्यवस्था भावना-पद्धति में दी हुई है। इसी प्रकार संध्या आरती के पश्चात् रासलीला का चिंतन होता है।

प्रकट सेवा से भावना में सेवा का अवकाश अधिक रहता है, इसीलिये इस सेवा का महत्व अधिक है । दूसरी बात यह है कि प्रकट सेवा में मन का पूरा योग न होने पर भी सेवा का कार्य चलता रहता है किन्तु भावना में मन के इधर-उधर होते ही सेवा रुक जाती है और सेवा को पूर्ण करने के लिये मन को स्थिर होना ही पड़ता है। मन को वश करने के लिये यह अभ्यास श्रेष्ठ है । मन स्थिर होकर जिस विषय का चिंतन करता है उसी के प्रति उसमें राग उत्पन्न हो जाता है और अनुकूल पदार्थ में

राग का नाम ही 'प्रेम' है । भावना के द्वारा, इसीलिये, अधिक प्रेमोत्पत्ति मानी गई है ।

इस सम्प्रदाय के साहित्य में 'अष्टयामों' का एक स्वतन्त्र एवं महत्वपूर्ण स्थान है । इन अष्टयामों में रस-सिद्ध संतों की भावना का वाङ्मय स्वरूप प्रकट हुआ है । प्राय: सभी पहुँचे हुए रसिकों ने अष्टयामों की रचना की है जिनमें से अनेक उपलब्ध हैं । अकेले श्री वृन्दावनदास चाचाजी के चौदह अष्टयाम प्राप्त हैं । इन रसिकों के अधिकांश सुन्दर पद अष्टयामों में ही ग्रथित हैं । अष्टयामों में युगल की अष्ट कालिक लीला का चमत्कार पूर्ण गान एवं सखीजनों की रसमयी सेवा का विशद वर्णन रहता है । भावना का अभ्यास करने वाले को यह अष्टयाम अत्यन्त सहायक होते हैं । प्रेम-पूर्ण मनोयोग के साथ किसी अष्टयाम का गान कर लेने से भावना का कार्य सरस रीति से निष्पन्न हो जाता है ।

नित्य-विहार

परिचर्या का सहज एवं पूर्ण प्रेममय रूप 'नित्य विहार' में प्रकट होता है । नित्य विहारी प्रेम सहज रूप से सेव्य-सेवक भाव मय है । 'तहाँ सेव्य श्री राधिका सेवक मोहन लाल' और सहचरी गण सेवा की मूर्ति हैं । प्रकट सेवा और भावना में क्रमश: अधिक स्थिर होने पर मन की देहासक्ति कम होने लगती है । देह और उससे सम्बन्धित समस्त पदार्थों की ओर से वह धीरे-धीरे मरने लगता है और धीरे-धीरे प्रेम-रस का अद्भुत चमत्कार उसको अपनी ओर अधिक आक-

षित करने लगता है। हृदय में प्रेम के सुस्थिर होते ही उस प्रेम में से रूप की झलक मारने लगती है और यहीं से उपासक नित्यविहार सेवा का अधिकारी बनने लगता है ।

प्रेम-सौंदर्य के दृष्टि में आते ही सम्पूर्ण दृष्टि बदल जाती है । इसको देखकर और सब देखना भुला जाता है । 'जो एक वार इस छवि को देख लेता है उसको त्रिभुवन तृण सा लगता है। इस द्वार के भिखारी से सारा संसार भिक्षा माँगता है। जो यहाँ का हो जाता है वह अन्यत्र का नहीं रहता और युगल के रूप-लावण्य में पग जाता है । वह बेसुध और मतवाला बनकर सोता हुआ-सा संसार में जागता रहता है' ।

एक बार छवि देखी उसको त्रिभुवन तृन-सा लागै है ।
इस दर का जु भिखारी उससे सब जग भिक्षा मागै है ॥
जो ह्याँ का फिर सो न अनत का दंपति पानिप पागै है ।
'हित भोरी' बेसुध मतवारा सोता-सा जग जागै है ॥

नित्य प्रेम के नित्य नूतन रूप का प्रत्यक्ष परिचय हुए विना यहाँ केवल बुद्धि से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता । श्री वृन्दावनदास कहते हैं 'रसमय धाम की रसमय सृष्टि की कथा अलौकिक है। रासेश्वरी की कृपा के अतिरिक्त यहाँ अन्य कोई साधन नहीं है। इस सृष्टि को समझने के लिये विद्वान और अविद्वान सदैव से बुद्धि-बल का प्रयोग करते रहे हैं और सदैव करते रहेंगे। प्रेम-रूप का स्पर्श हुए विना यहाँ नीरस तर्क से काम नहीं चलता ।'

रस मय धाम सृष्टि जहाँ रसमय कथा अलौकिक न्यारी ।
रासेश्वरी कृपा तें जानें और नहीं अधिकारी ।
बुधि बल करत, करि गये, करिहैं पंडित और अनारी ।।
बृन्दावन हित रूप न परचे नीरस तर्क विकारी ।।
(युगल-सनेह-पत्रिका)

नित्यविहार सेवा मानसी-सेवा की भाँति केवल मानस-प्रत्यक्ष ही नहीं होती, वह प्रकट सेवा की भाँति इन्द्रिय-प्रत्यक्ष भी होती है। उपासक के मन एवं इन्द्रियों में प्रेम का प्रकाश होने के बाद वह अपने इन ही नेत्रों से युगल की अद्भुत रूप-माधुरी का दर्शन करता है और अपने इनही कानों से उनके अद्भुत मधुर वचनों को सुनता है। वह अपनी इसी नासिका से उनके अंगों की अद्भुत सुगंध का आघ्राण करता है एवं अपने इनही हाथ-पैरों से उनकी अद्भुत सुखमयी परिचर्या में नियुक्त होता है। श्री ध्रुवदास ने कहा है 'जो उपासक मन और वाणी को एकत्र करके इस रस का गान करता है वह निश्चय सहचरि पद को प्राप्त होता है। वह इनही नेत्रों से सम्पूर्ण सुख देखता है और अपने जीवन को सफल मानता है। नव मोहन एवं राधा प्यारी को निरख कर वह उनपर न्यौछावर हो जाता है।'

यह रस जो मन बच कै गावै, निश्चै सो सहचरि पद पावै ।
इनही नैननि सब सुख देखै, जनमसुफल अपनौं करि लेखै ।
नव मोहन श्रीराधा प्यारी, हित ध्रुव निरखि जाइ बलिहारी ।
(रसानंद)

इन्द्रियाँ जब प्रेममयी सेवा के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होतीं तब उनकी प्रत्येक क्रिया सेवा-सुख में वृद्धि करने वाली बन जाती है। इन्द्रियों के सामने प्रकट संसार के स्थान में नित्य प्रकट प्रेमोल्लास आजाता है और वे सहज रूप से उसका उपभोग करने लगतीं हैं। श्री नागरीदास बतलाते हैं 'यदि इन्द्रियाँ अपने विषयों को छोड़ कर भजन (सेवा) में स्थिर हो जाँय तो उपासक सर्वत्र सेवा-सुख का भोग करता हुआ विचरण कर सकता है। उसको कहीं भी सुख की कमी नहीं रहती। भजन के बल से यदि इन्द्रियों के हाथों भाव का स्फुरण होने लगे तो सर्व गुणों से पूर्ण नित्य-विहार प्रत्यक्ष हो जाय और हृदय में नित्य नूतन चाव बढ़ता रहे।'

इन्द्री अपगुन त्यागि जो भजन माँहि ठहराँइ।
जहँ-तहँ सुख विलसत फिरै तौ कहुँ टोटौ नाँहि॥
भजन बल इन्द्री हाथ जो फुरिबौ करिहै भाव।
सब गुन वस्तु विलोकि है नव-नव नित चित चाव॥

इस बात को अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं 'प्रेम का मार्ग इतना विकट है कि उस पर दौड़ कर नहीं चला जा सकता। इस पर चलने के लिये तन और मन को समेट कर बहुत जमा कर पैर रखने होते हैं। रसिक-नरेश (हित-प्रभु) के मार्ग पर चलना नितांत विकट है। जो अपने तन और मन को उबाल कर, ठंडा करके, छान डालते हैं वही इस मार्ग पर चल पाते हैं, अन्य लोग तो केवल बकवास करते

हैं । जिस स्थान पर मनकी भी गति नहीं होती वहाँ शरीर को लेकर निकलना होता है । व्यासनंदन (हितप्रभु) के चरणों का बल मिलने पर ही इस प्रकार चला जा सकता है ।'

> **कठिन पहुँचनौ प्रेम कौ पंथ न निकस्यौ धाइ ।**
> **तन मन दसा समेटि सजि गाढ़े धरने पाँइ ।।**
> **मारग रसिक नरेस के निपट विकट है चाल ।**
> **तन-मन औंटि, सिराय, गरि वृथा बजादत गाल ।।**
> **जामें मन की गति नहीं तामें काढ़ें गात ।**
> **व्याससुवन पद पाइ बल इहि विधि निकरयौ जात ।।**

उपासना के मार्ग से चलकर साधक का मन जब नित्य प्रेम-विहार के आनंदोल्लास में प्रविष्ट होता है तब उसकी सब क्रियायें लोक-बाह्य बन जाती हैं । उसकी हृदय-ग्रन्थियों का भेदन हो जाता है और उसके संपूर्ण संशय छिन्न हो जाते हैं । उसकी उस समय की स्थिति का वर्णन करते हुए सेवक जी कहते हैं, 'जिस पर श्री हरिवंश की कृपा होती है, वह राधा-हरि के नित्य विहार का दर्शन पुलकित शरीर से करता रहता है और उसके नेत्रों से आनंद की झड़ी लगी रहती है । वह कभी तो रोता है, कभी आनंदोल्लास में गान करता है और कभी अट्टहास करता है। वह क्षण-क्षण में श्यामाश्याम के साथ विहरण करता है, क्षण-क्षण में प्रेम पूर्ण नेत्रों से उनको देखता है और क्षण-क्षण में उनका अभंग यश-गान करता है । नित्यकिशोर के दर्शन से उसकी रति नित्य नवीन बनती रहती है और वह युगल की आलस्य भरी

प्रातः कालीन छवि का नित्य दर्शन करता रहना है । सघन कुंज के छिद्रों से युगल की अद्भुत तन-कांति को देखकर उसके नेत्र तृप्त नहीं होते ।'

निरखत नित्य विहार, पुलकित तन रोमावली ।
आनंद नैन सुढ़ार, यह जु कृपा हरिवंश की ॥
छिन-छिन रुदन करंत, छिन गावत आनंद भरि ।
छिन-छिन हहर हसंत, यह जु कृपा हरिवंश की ॥
छिन-छिन विहरत संग, छिन-छिन निरखत प्रेम भरि ।
छिन जस कहत अभंग, यह जु कृपा हरिवंश की ॥
निरखत नित्य किशोर, नित्य-नव-नव सुरति ।
नित निरखत छबि भोर, यह जु कृपा हरिवंश की ॥
त्रिपित न मानत नैन, कुंज रन्ध्र अवलोकि तिन ।
यह सुख कहत बनै न, यह जु कृपा हरिवंश की ॥

(से० वा० ६)

नित्य विहार सेवा की प्राप्ति ही राधा वल्लभीय उपासना मार्ग का लक्ष्य है । जिस सेवा-भाव की नींव प्रकट-सेवा में रखी जाती है वह नित्य विहार सेवा में पहुँच कर सिद्ध एवं इन्द्रिय गोचर हो जाता है । तीनों सेवाओं में भाव तो एक ही है किन्तु वह क्रमशः अधिक सामर्थ्यवान एवं सहज बनता जाता है । श्री लाड़िलीदास ने बतलाया है कि 'प्रकट सेवा में रति किंवा भाव की स्थिति कूप-जल के समान होती है, भावना में वह नदी के समान होती है और उसके ऊपर नित्य विहार रस में समुद्र के समान हो जाती है ।'

प्रकट भाव जल कूप लौं नदी भावना जान ।
तापर नित्यविहार रस ज्यौं समुद्र रति मान ॥

भाव की एकता की दृष्टि से तीनों सेवायें समान रूप से महत्व पूर्ण हैं और इनमें से किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती । श्री लाड़िलीदास ने स्पष्ट कहा है 'कहीं घुटने तक, कहीं ग्रीवा तक और कहीं अमित जल के तीन रूपों में रहने वाली यमुना जिस प्रकार एक है उसी प्रकार प्रकट सेवा, भावना एवं नित्य-विहार एक हैं ।'

घौंटू ग्रीवा अमित जल यमुना तीन प्रकार ।
सेवा प्रकट अरु भावना जो सो नित्य विहार ॥

तीनों सेवाओं में एक उज्ज्वल प्रेम-विलास ही सखी भाव के द्वारा सेव्य है और इसी के अनुकूल सेवा-पद्धति का निर्माण हुआ है । प्रकट सेवा में शालिग्राम शिला, गरुड़, शंख आदि का त्याग एवं एकादशी के दिन महाप्रसाद ग्रहण की व्यवस्था, इसी भाव के अनुकूल रहने के लिये किये गये हैं । पूजा-पद्धति में वैदिक एवं तांत्रिक मंत्रों के स्थान में इस भाव से भावित पदावली का गान भी इसी दृष्टि से रखा गया है । तीनों सेवाओं में एक ही भाव एवं सेवा-पद्धति का दृढ़ अंगीकार, राधावल्लभीय उपासना-मार्ग की अपनी विशेषता है जो अन्य उपासना-मार्गों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होती है ।

नाम

सुप्त भगवत्-प्रेम को हृदय में जगाने के लिये और जाग्रत प्रेम को नित्य वर्धमान रखने के लिये नाम-स्मरण, सभी वैष्णव पुराणों और संप्रदायों द्वारा, अत्यन्त सफल

उपाय बतलाया गया है। अनाम और अरूप के साथ गाढ़ स्नेहानुबन्ध संभव नहीं है अत: जैसे-जैसे उपासना में प्रेम की प्रधानता होती गई वैसे-वैसे प्रियतम के नाम और रूप का गौरव बढ़ता गया। भगवान के नाम और रूप भगवत्-प्रेम के एकान्त आधार हैं और नित्य प्रेममय हैं। यह हमारे परिचित नाम-रूपों से भिन्न हैं, जो माया के अंग बने हुए हैं और उसी के समान नाशवान हैं। मायिक नाम नामी की- नाम वाले की- उपाधि मात्र हैं और उससे सर्वथा भिन्न पदार्थ हैं। भगवन्नाम भगवान को उपाधि नहीं है, वह स्वयं भगवान है। भगवान में नाम और नामी का संपूर्ण अभेद माना गया है।

सोलहवीं शती की भक्ति संप्रदायों में नामोपासना के तीन रूप दिखलाई दिये—नाम-जप, नाम-गान और नाम-सेवा। नाम-जप अधिकतर एकान्त में किया जाता है और सर्वथा व्यक्तिगत वस्तु है। नाम-गान व्यक्तिगत की अपेक्षा सामुदायिक अधिक है। नाम-गान को नाम-कीर्तन भी कहते हैं। सामुदायिक नाम-गान के द्वारा, चैतन्य महाप्रभु ने, बंगाल में भगवत्-प्रेम की मंदाकिनी बहाई थी। दक्षिण के संतों ने भी नाम-गान पर खूब भार दिया है।

राधावल्लभीय उपासना आरंभ से ही एकान्त और व्यक्तिनिष्ठ रही है। यह प्रेम की उपासना है। श्री ध्रुवदास कहते हैं, 'और सब भजन में गोष्ठी है, स्नेह में गोष्ठी कहा !' समुदाय चाहे कितना भी अनुकूल क्यों न हो प्रेमी की इच्छा सबसे निराले रहने की ही होती है। प्रेम-स्वरूप श्याम श्यामा भी

प्रीति-परवश बनकर सखियों की भीड़ से न्यारे रहने की आकांक्षा करते हैं। वे सब सखियों की दृष्टि बचाकर प्रेम–गली को ही ताकते रहते हैं।

'चलिरी भीरतैं न्यारेई खेलैं ।'

'श्री हरिदास के स्वामी श्यामा फिरत न्यारेई न्यारे,
सखियन की दृष्टि बचावत तकि तब खोरी' ।

(केलिमाल-१००, १०५)

हितप्रभु की रचनाओं में 'रहस' (एकान्त) शब्द बार-बार आता है। वे राधा कृष्ण की एकान्त प्रेम लीला के उपासक हैं। उनके भजन–प्रकार को समझाते हुए नागरीदास जी कहते हैं, 'श्री हरिवंश के मन में वह एकान्त भजन समा रहा था जिसमें परमहंसों के आधार स्वरूप रस-सार की धारा श्रवित होती रहती है।'

परमहंस आधार रससार धारा श्रवत
भजन एकान्त जिन मन समानी ।

(श्री हरिवंशाष्टक)

इस प्रकार के भजन में, स्वभावतः, सामुदायिक नाम-कीर्तन को अवकाश नहीं है और वह इस संप्रदाय की विशेषता कभी नहीं रहा है। सेवक वाणी में नाम-जप किंवा नाम-रटन पर अत्यधिक भार दिया गया है। सेवकजी ने नाम-जप का अपना अनुभव बतलाते हुए कहा है कि नाम के रटने से ही मेरे हृदय में संपूर्ण शोभा आई है–'नाम रटत आई सब सोहि ।'

सेवा की भाँति नाम-जप भी उपासक के हृदय में प्रेम

के रूप को जगाता है। नाम-जप के द्वारा जगाया हुआ रूप कल्पित नहीं होता, सहज होता है। नाम से रूप के प्रकट होने की प्रक्रिया को श्री भोरीसखी ने अपने एक पद में सुन्दर ढंग से दिखलाया है। वे कहते हैं, 'अविरत नाम-जप से जब इन्द्रिय और मन नाममय बन जाते हैं और समस्त विषयों का स्फुरण नष्ट हो जाता है, जब बाहर और भीतर नाम को छोड़कर अन्य कुछ शेष नहीं रह जाता और हृदय एवं नाम एक हो जाते हैं तब नाम का अपना रूप प्रकट होता है और उपासक के शरीर में ही सहज रूप से श्री वृन्दावन, अपने समस्त प्रीति- वैभव सहित, दिखलाई देने लगता है।'

मेरौ जिय घबरात रहत नित, एसे तौ मन धीर न आवै ।
नाम-श्वास दोऊ विलग चलत हैं,इनकौ भेद न मोकौं भावै ॥
श्वासहि नाम, नाम ही श्वासा, नाम-स्वास कौ भेद मिटावै ।
रोम-रोम रग-रग जब बोलै,तब कछु स्वाद नाम कौ पावै ॥
इन्द्रिय-मन सब होइ नाम जब,सकल विषय फुरना जु नसावै ।
बाहिर कछु न कछु तब भीतर,जिय अरु नाम एक ह्वै जावै ॥
तब निजु रूप नाम कौ प्रकटै,तन में श्रीवन सहज दिखावै ।
ह्वै मृदु भूमि चरण तल चूमैं,जमुना ह्वै जु ललित लहरावै ॥
जल-थल विविध कुसुम ह्वै फूलैं,सीतल पवन सुरभि धावै ।
अंबर ह्वै अंग अंगनि लपटै,विविध अनिल हठि ताहि उड़ावै ॥
प्रफुलित लता लपटि भई कुंजें,पुहुप सेज ह्वै तहँ जु सुहावै ।
तापै हित उमगीली जोरी,तन-मन उमगि-उमगि उमगावै ॥
तन हित, मन हित, प्रान तहाँ हित,हित में ह्वै हित रूप समावै ।
हित कौ कोक, कला सब हित की, हितपानिप, हितरंग चुचावै ॥

हित अनखान भौंह कौ चढ़िवौ, हित मिठास मृदु मुसिकन भावै ।
हित नीवी-बँध खोलत, हित भुज गौर-श्याम हित-कलह मचावै ॥
हित कौ खेत, जुरेभट हित के, हित कौ खेल अधिक अधिकावै ।
हित उमगीली, हित उमगीलौ, हित उमगै हित ही उंमगावै ॥
हित जु बिबस, हित चेतत छिन-छिन, हित पानी,हित प्यास कहावै ।
बिच-बिच मृदु-मृदु बोलनि हित की. हित पसेव ह्वै आनन छावै ॥
हित पौंछै, हित व्यजन डुलावै, हित समीर ह्वै सुख जु बढ़ावै ।
हित नख-छत ह्वै लसत कुचन पै, हित रद-छद अधरन दरसावै ॥
हित चुंबन, हित ही परिरंभन, भुजनि कसनि हित, हित लपटावै ।
हित जु झरत कुसुमावलि टूटी, हित लट छुटी कपोलनि दावै ॥
हित कौ रूप उमंग कौ सागर, क्षुभित अनंत लहरि अकुलावै ।
तामें बूंद मिलो हित भोरी, सो क कौन भाँति ठहरावै ॥

हित प्रभु द्वारा दर्शित वृन्दावन रस रीति में एक मात्र हित का ही संपूर्ण वैभव देखकर, सेवक जी ने, राधावल्लभीय उपासकों के लिये हित-नाम, श्री हरिवंश-नाम, के जप का विधान किया है । उन्होंने कहा है, 'श्री हरिवंश के गुण और नाम का जो स्मरण और मनन करता है उसको सदैव सत्संग मिलता रहता है, उसके चित्त में रस रीति बढ़ती रहती है और वह विमल वाणी से गुण-गान करता रहता है । सदैव आनंदित रखने वाली एवं परम हित साधन करने वाली प्रेम-लक्षणा-भक्ति उसके हृदय में उदित हो जाती है और श्रीराधा के चरणों में उसका अत्यन्त भारी अनुराग हो जाता है । हितमय नवकुंज महल की टहल (सेवा) में उसका दासी रूप से प्रवेश हो जाता है और वहाँ वह श्री

हरिवंश के चरणों की शरण में रहकर सदैव उनके समीप निवास करने लगता है ।'

पढ़त गुनत गुन-नाम सदा सत संगति पावै ।
अरु बाढ़ै रसरीति विमल वाणी गुन गावै ॥
प्रेम-लक्षणा-भक्ति सदा आनंद हितकारी ।
श्री राधा युग-चरण प्रीति उपजै अति भारी ॥
निज महल टहल नव कुंज में नित सेवक सेवा करणं ।
निश दिन समीप संतत रहै सु श्री हरिवंश चरण शरणं ॥
(से० वा० ११–५)

अन्यत्र, वृन्दावन रसरीत में प्रविष्ट होने का मार्ग बतलाते हुए सेवकजी कहते हैं, 'जो व्यक्ति प्रतिदिन क्षण-क्षण में श्री हरिवंश नाम रटता है, वह सदैव उस स्थान से संबंधित रहा आता है जहां नित्य प्रसन्न रहने वाले श्रेष्ठ दंपति श्याम-श्यामा रहते हैं । यह देखकर कि जहाँ हरि (श्याम-श्यामा) हैं वहाँ हरिवंश हैं और जहाँ हरिवंश हैं वहाँ हरि हैं, मैंने एक श्री हरिवंश नाम को अपने समीप कर लिया है । हरिवंश नाम से हरि प्रसन्न होते हैं और हरि के प्रसन्न होने पर श्री हरिवंश के प्रति रति उत्पन्न होती है । हरि का और हित का, श्री हरिवंश का, इस प्रकार का ओत-प्रोत संबंध ही वृन्दावन रस रीति की विशेषता है और इसी से उसकी वास्तविक गति (चाल) का सूचन होता है ।' श्रीहरि (श्याम-श्यामा) अनेक रसरीतियों से संबंधित हैं और अनेक प्रकार से वे उपासित होते हैं । वृन्दावन रस रीति में उनका वह रूप आस्वादित होता है जो श्रीहित हरिवंश के साथ अभिन्न बन

रहा है और जिसका ग्रहण केवल श्री हरिवंश नाम से होता है ।

नित-नित श्री हरिवंश नाम छिन-छिन जु रटत नर ।
नित-नित रहत प्रसन्न जहाँ दम्पत्ति किशोर वर ॥
जहाँ हरि तहाँ हरिवंश, जहाँ हरिवंश, तहाँ हरि ।
एक शब्द हरिवंश नाम राख्यौ समीप करि ॥
हरिवंश नाम सु प्रसन्न हरि, हरि प्रसन्न हरिवंश रति ।
हरिवंश चरण सेवक जिते, सुनहु रसिक रस-रीति गतिं ॥
(से० वा० ६–१५)

नामोपासना का तीसरा प्रकार नाम-सेवा है जिसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं और जो केवल इसी संप्रदाय में दिखलाई देता है । सब वैष्णव-संप्रदायों में नाम और रूप अभिन्न माने जाते हैं । सर्वत्र नाम का जप अथवा कीर्तन होता है और रूप की सेवा की जाती है। श्री हिताचार्य ने नाम की सेवा का विधान बनाकर नाम और रूप की मौलिक अभिन्नता को स्पष्ट कर दिया है और नाम को रूपमय और रूप को नाममय प्रमाणित कर दिया है ।

उपासना–पद्धति में नामोपासना के साथ मंत्र–जप भी बहुत आवश्यक माना जाता है । इस सम्प्रदाय में दो मंत्र प्रचलित हैं । इनमें से एक 'शरणागति-मंत्र और दूसरा 'निज मंत्र' कहलाता है। संप्रदाय में दीक्षित होते समय पहिले शरणागति-मंत्र दिया जाता है । यह अष्टादशाक्षर मंत्र' है । साधन-पथ पर आरूढ़ होने पर निज-मंत्र दिया जाता है । यह द्वादशाक्षर मंत्र है । यह वह मंत्र है जो श्रीराधा ने हितप्रभु को दिया था। दोनों मंत्र आगम-तंत्रों में प्रसिद्ध मंत्रों से भिन्न

हैं और इनके आदि में 'क्लीं' आदि बीजों की योजना नहीं है। निज मंत्र में तो 'नमः' 'शरणं' आदि शब्द भी योजित नहीं हैं। श्री राधा-प्रदत्त 'निज मंत्र' को राधावल्लभीय उपासना का बीज माना जाता है। श्री भजनदास ने बतलाया है, 'हित का यह नित्यविहार 'निज मंत्र' का ही स्वरूप है और हित प्रभु की रसद एवं अनुपम वाणी भी इसी के अनुसार है। ध्यान, भावना, भजन आदि इसके विना व्यर्थ हैं। इस मंत्र के मानसिक जप से अपार प्रेम बढ़ता है। इसके जप में शुद्ध-अशुद्ध शरीर का विचार नहीं है।'

श्री हित नित्य विहार यह सो निज मंत्र स्वरूप।
याही के अनुकूल हित वानी रसद अनूप ॥
ध्यान भावना भजन सब, याहि बिना कछु नाहि।
यातें श्री हित मंत्र के अक्षर मन अवगाहि ॥
मानसीक निज जाप तें बाढ़त प्रेम अपार।
शुद्ध-अशुद्ध शरीर कौ यामें कछु न विचार ॥

'सेवा विचार' में इस मंत्र के सम्बन्ध में दो श्लोक दिये हैं। प्रथम श्लोक में कहा गया है—'व्यासात्मज श्री हित हरिवंश के कान में श्री राधिका ने जो सिद्ध मंत्र कहा था, उसीसे गुणवान गुरु को श्रद्धा-युक्त जीवों को दीक्षित करना चाहिये। इस शुद्ध मंत्र के दान में शरणागत ब्राह्मणों का, क्षत्रियों का, वैश्यों का, साधु चरित्र वाले शूद्रों का एवं स्त्रियों का भी समान रूप से अधिकार है।' (से० वि० ८८)

दूसरे श्लोक में मंत्र की 'सिद्धता' का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है 'इस मंत्र में पुरश्चरण आदि की विधि नहीं

है, किसी विशेष आसन से बैठकर इसके जप करने की विधि नहीं है, मंत्र-जप के समय किसी विशेष प्रकार के भोजन को विधि नहीं है, मंत्र-जप काल में तीर्थ सेवन की विधि नहीं है, मंत्र-जप के पूर्व प्राणायाम और अंगन्यास-करन्यास आदि की विधि नहीं है, एसे, श्री वृषभानुजा द्वारा कहे गये, सिद्ध मंत्र का प्रति दिन जप करना चाहिये।' (से० वि० ८६)

नित्य विहार की उपासना में 'इष्ट (श्री राधावल्लभ लाल) गुरु (श्री हित हरिवंश) एवं निज मंत्र का एक ही स्वरूप माना गया है और तीनों नित्य विहार के बीज माने गये हैं। इनको छोड़कर जो अन्य का भजन करता है वह व्यभिचारी समझना चाहिये।

इष्ट, गुरू अरु मंत्र निज एक रूप रसखान।
इनकैं तजि औरहिं भजै सो व्यभिचारी जान॥

(श्री भजनदास जी)

———

वाणी

राधावल्लभीय उपासना-मार्ग का तीसरा अंग वाणी-अनुशीलन है। रसिक महानुभावों को वाणियों को प्रत्यक्ष दर्शन से उद्भूत माना गया है। इन वाणियों में जिस सहजउल्लास से प्रेम-रस का वर्णन हुआ है वह, अज्ञात प्रकार से, हृदय को इनके आशय के सन्बन्ध में निस्संदिग्ध बना देता है। काम-क्रीडा का वरणन करते हुए भी इन वाणियों में पद-पद पर काम को इस क्रीडा के आगे पराजित और विवश होता दिखलाया गया है। हित चतुराशी की एक प्राचीन फलस्तुति में उसको 'काम पावक के लिये पानी' बतलाया है, 'भव जल-निधि कौं नाव काम पावक कौं पानी'। काम-क्रीडा के वर्णन को काम-बीज नाशक बना देना, इन अनन्य रसिकों का ही काम था। वाणियों में वर्णित क्रीडा काम-क्रीडा ही है और उसका वर्णन उज्ज्वल रस को परिपाटी को छोड़ कर नहीं किया जा सकता। किन्तु इस क्रीडा में काम प्रेम का प्रेरक नहीं उसका अनुचर है। वह प्रेम को शृंगार युक्त बनाता हुआ, उस का रुख लेकर, उसके पीछे चलता रहता है।

रसिकों की वाणियों में प्रेम-सौन्दर्य का वर्णन है। प्रेम-सौंदर्य नेत्रों का विषय है और उसका वर्णन वाणी के द्वारा होता है। विधि का विधान एसा है कि नेत्रों को वाणी नहीं मिली है और वाणी को नेत्र नहीं मिले हैं। प्रेमियों ने प्रेम की बात कहने के लिये इस विधान को बहुत-कुछ अंशों में शिथिल

बना दिया है। उन्होंने नेत्रों को वाणी प्रदान की है और वाणी को नेत्र दिये हैं। उन्होंने वाणी के नेत्रों से प्रेम का अद्वय युगल-स्वरूप देखा है और नेत्रों की वाणी से उसका वर्णन किया है।

बैंननि के नैनानि सौं दरस्यौ युगल स्वरूप।
नैननि के बैनानि सौं बरन्यौ बरन अनूप ॥

जो लोग वाणियों का श्रवण करके प्रेम-सौंदर्य का आस्वाद करना चाहते हैं उनको अपने कानों से देखना होता है और आँखों से सुनना होता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए श्री मोहन जी कहते हैं 'मेरे कानों में जब तेरी बात पड़ी तब वह बात ही मेरे प्राण बन गई और जब मैंने कान में आई हुई बात के स्वरूप को देखा तब मेरे कान ही नेत्र बन गये। फिर तो मेरे यह कान रूप को सुनने लगे और वाणी को देखने लगे। इस प्रकार कभी तो यह कान रहते और कभी नेत्र बन जाते। जो देखता है वह इसी प्रकार देखता है और जो इस प्रकार देखता है वही देख पाता है। जो देखने और सुनने में अंतर रखते हैं वे अपनी इस अनसमझी से दिन-रात जलते रहते हैं। समझदारी का उदय उसी के चित्त में मानना चाहिये जो देखी हुई बात को सुन सके और सुनी हुई बात को देख सके'।

जब तोरी बात परी मो काना, बातहि होइ गये मोरे प्राना।
जब ही बात स्वरूप निहारा, तब ही कान होइ गये तारा ॥
सुनहि रूप देखैं तब बैना, कबहूँ कान कबहुं ये नैना।
सो जोहै सो एसौ जोहै, जोहन हारौ एसौ जोहै ॥

देखन सुनन जो अंतर करहीं, अस अन समझनि सों दिन जरहीं।
देखा सुना, सुना सो देखा, भई तिहि समझ–रेख की रेखा।

(केलि-कल्लोल)

प्रेम की बात के रूप को देखने के बाद प्रेमी का मन जिस सहज प्रकार से प्रियतम के पास पहुंच जाता है उसका सजीव वर्णन करते हुए श्री मोहन जी कहते हैं 'जब से बात का रूप पहिचान लिया तभी से नेत्र और कानों का नाता जुड़ गया। कानों ने रूप को मन के पास पहुँचा दिया और मन रूप-वान बनकर नेत्रों में समा गया। नेत्रों में रूप के पहुँचते ही वे रूपमय बन गये और आनन्द से अधीर होकर रूप की बात करने लगे। उनकी बात सुनकर मन ने नेत्रों से पूँछा तुम जिसकी बात करते हो वह कहाँ है? नेत्रों ने कहा यह हमको कुछ मालुम नहीं है, हम विना देखे उसको कैसे पहिचान सकते हैं? चलो, एक उपाय करें और प्रेम से ही इस सम्वन्ध में पूँछें। यह विचार कर मन और नेत्र प्रेम के पास गये किन्तु प्रेम ने उन दोनों को अलग कर दिया। उसने मन को तो प्रियतम के पास पहुँचा दिया और नेत्र निराश होकर अपनी जगह पर रह गये। अब तो नेत्र दिन-रात रोने लगे। उनसे जिसने रूप की बात कही थी वह साथी उनको अब ढूढ़े नहीं मिलता था। मन तो प्रियतम के पास पहुँच गया और नेत्र अन्यत्र रह गये, इस कारण वे दिन-रात रोते हैं और उनको नींद नहीं आती। प्रेम की अद्‌भुत गति से रुके हुए नेत्र अपने प्रियतम के पास भला कैसे पहुँचें?

बात रूप जबही ते चीन्हा, नैननि कानन नाता कीन्हा।
काननि रूप मनहि पहुँचायौ, मन सरूप ह्वै नैन समायौ ॥
रूप मई नैंना ह्वै रहे, आनँद आतुर जाँय न कहे।
मन पूछ्यौ नैननि के ताईं, करत जो बात सोव किहि ठाईं ॥
नैंननि कह्यौ न हम कछु जानहिं, देखे विना नाहिं पहिचानहिं।
आवहु कीजै एक उपाऊ, प्रेमहिं पूछैं सहज सुभाऊ ॥
मन अरु नैन प्रेम पहिं गये, तिहि दोऊ न्यारे कर दये।
मन लै पहुँचायौ पिय पास, नैंन अकेले रहे निरास ॥
रोवहिं नैंना दिन अरु राती, लहें न अपने बात-सँघाती।
मन पिय पै नैंना अनत रोवहिं सोवहिं नाहिं।
प्रेम-पंथ रोके तिनहिं क्यौव तहाँ लौं जाहिं ॥

(आनंद लहरी)

चाचा हित वृन्दावनदास ने उन करुणा अयन-रसज्ञ जनों की वंदना की है जिन्होंने श्री युगल से मिलने के लिये वाणी रूपी नेत्र बनाये हैं। इन नेत्रों के सहारे जो चले हैं वे निस्सन्देह पहुँचे हैं। स्नेहहीन, तर्की और मन्दमति नरपशु इनको छोड़कर भटकते ही रहते हैं।'

वन्दौं सुमति रसज्ञ जन अति करुना के ऐंन।
बानी दंपति मिलन कैं जिननि बनाये नैंन ॥
इन नैंनन-बल जे चलैं पहुँचैं निस्सन्देह।
भटकैं तर्की मंदमति नरपशु हीन-सनेह ॥

(अष्टयाम)

रसिकों ने अनेक रूपकों से वाणी के स्वरूप को स्पष्ट किया है। श्री प्रियादास कहते हैं 'प्रेम जब मेघ के समान हृदय में गरज उठता है तो उसकी सार रूप वाणी विद्युत की

भाँति मन, बुद्धि और चित्त के ऊपर गिर कर बड़ी गहरी चोट पहुँचाती है।'

प्रेम गरजि हिय में उठ्यौ बानी बिजुरी सार।
मन, बुधि, चित ऊपर पड़ी भीतर-भीतर मार॥

श्री चाचा जी कहते हैं 'वाणी प्रेम के द्वारा भेजी हुई वह पाती (पत्र) है जिसमें सब बातें विस्तार पूर्वक एवं सुन्दर ढंग से लिखी हुई हैं। इस पाती को पढ़कर और समझ कर जो चलते हैं वे प्रियतम के घर पहुँचते हैं'।

बानी पाती प्रेम की ब्यौरौ लिख्यौ बनाइ।
बाँच बूझि कैं जो चलै प्रीतम के घर जाइ॥

हम देख चुके हैं कि राधावल्लभीय उपासना का लक्ष्य सखी भाव की प्राप्ति कराना है। सखियाँ श्यामा-श्याम के पारस्परिक प्रेम से आसक्त हैं और सदैव उसी का भजन करती रहती हैं। सखियों के भजन को प्रेम-भजन, प्रेम का भजन, कहते हैं। इस भजन की श्रेष्ठता इस बात से समझी जा सकती है कि जो प्रेम थोड़ा-सा भी भजन के साथ मिलकर उसको स्वाद युक्त और श्रेष्ठ बना देता है वही इसमें आस्वाद्य बनता है, उसीका इसमें भजन किया जाता है। भजन के अनेक प्रकार हैं किन्तु वे सब इस प्रेम-भजन के दास हैं।

औरौ भजन आहि बहुतेरे, ते सब प्रेम-भजन के चेरे।

(नेह मंजरी)

सखियों के प्रेम-भजन को समझने के लिये श्याम श्यामा के प्रेम की रीति को समझना आवश्यक होता है। वाणियों में ही इस प्रेम-रीति का वर्णन मिलता है। श्री ध्रुवदास

कहते हैं 'मैंने प्रेम की रीति का वर्णन इसलिये किया है कि इसके श्रवण से हृदय सरस बनता है और रस-रीति के पंथ की पहिचान होती है। प्रेम-रीति से परिचित व्यक्ति ही वृन्दावन रस का स्वाद पाता है'।

कही प्रेम की गति ध्रुव यातें, सुनतहि सरस होय हिय तातें।
अरु रस-रीति पंथ पहिचानें, तब या रस के स्वादहि जानें॥

श्री नागरीदास कहते हैं, 'प्रेम-भजन के पेच वाणी में ही समझ में आते हैं। आनन्द-कोलाहल से पूर्ण, कौतुक-निपुण और सुख-निधि नेह का स्वरूप वाणी में ही पहिचाना जाता है। जिसके हृदय में वाणी का एक कण भी रमा रहता है उसी को भजन का विस्तार दिखलाई देता है। उसके हृदय में सदैव उजाला बना रहता है और उसके मन में उदार प्रेम-वस्तु स्थिर रहती है। वाणी में रसिक नृपति श्रीहरिवंश ने अपने हृदय के बल से हृदय के सुख को प्रगट किया है। उनकी वाणी के मोद रूपी मृदुल मानसर में भजनी हंस रमण करते रहेंगे।'

भजन प्रेम के पेच गुन वाणी मांहि विचार।
कोलाहल कौतुक निपुण सुख निधि नेह निहार॥
वाणी कनिका उर रमें सूझै भजन पसार।
हिय उजियारौ ह्वै रहै मन में वस्तु उदार॥
हियबल हियसुख प्रगट करि रसिक नृपति हरिवंश।
गिरा मोद मृदु मानसर रमिहैं भजनी हंस॥

अन्यत्र, एक पद में, नागरीदासजी ने प्रेम-भजन के निर्वाह

के लिये श्री हिताचार्य की वाणी की एकान्त उपादेयता का वर्णन करते हुए कहा है 'यदि यह श्रेष्ठ वाणी हित प्रभु के मुख से न निकलती और विमल मंगल की निधि-स्वरूप उनके पद प्रकट न होते तो उपासकों के भजन पर यह अद्‌भुत लावण्य न चढ़ता। वृन्दावन रसरीति से युक्त प्रीति की प्रतीति भी न बढ़ने पाती। रसिक-शिरोमणि की वाणी के विना रस-भक्ति को संसार में कहीं आश्रय न मिलता।'

जो मुख वर बानी नहि कढ़ती।
प्रगटते नहीं विमल मंगल-निधि तौ भजनहि क्यों पनिप चढ़ती।
वृन्दावन रस रीति समीती प्रीति प्रतीति कहां तैं बढ़ती।
रसिक सिरोमणि वस्तु बिना नागरीदास रस भक्ति ढुनी सब रढ़ती।

चाचा हित वृन्दावनदास ने, इसीलिये, कहा है 'कृपा-लभ्य वाणी का स्वाभाविक लक्षण यह समझना चाहिये कि उसके कथन और श्रवण से हृदय में प्रेम प्रकाशित हो जाय।'

वाणी कृपा उदोत कौ लक्षण लखौ सुभाय।
जाके कहत-सुनत हिये प्रेम प्रकासै आय॥

(अष्टयाम)

वाणियों की कृपा से जिनका भजन युगल किशोर के नित्य प्रेम-विहार में अनुरक्त हो गया है, उन रसिकों की चरण रज को शिर पर धारण करने का आदेश श्री ध्रुवदास ने दिया है। साथ ही उन्होंने बतलाया है कि जिनका भजन अनुराग-युक्त बन गया है और जिनके हृदय में रसमय मधुर किशोर सदैव झलमलाते रहते हैं, ऐसे रसिक जन बहुत कम मिलते हैं।

अनुरागे जिनके भजन युगल किशोर विहार ।
तिन रसिकन की चरण-रज लैलै ध्रुव सिरधार ।।
अनुरागे जिनके भजन तेतौ पैयत थोर ।
जिनके हिय में झलमलैं रसमय मधुर किशोर ।।

संपूर्ण वाणी साहित्य गेय-काव्य है। रसिक संतों ने विभिन्न राग-रागनियों में अपने पदों को बाँधा है। इन पदों के गान के द्वारा ही इन में वर्णित प्रेम का उद्रेक होता है। इसीलिये, इस संप्रदाय में, पद-गान को अत्यन्त महत्व दिया गया है। श्री हरिराम व्यास ने तो यहाँ तक कहा है, 'मैने ध्यान करने के लिये न तो कभी नेत्र बन्द किये और न जप करने के लिये कभी अंगन्यास ही किया। मैं तो वृन्दावन में नाच-गाकर वहाँ के रास-विलास में मिल गया हूँ।'

नैन न मूंदे ध्यान कौं किये न अंग न्यास ।
नाचि गाइ रासहिं मिले बसि वृन्दावन व्यास ।।

वाणियों को दो दृष्टियों से देखा जाता है। एक तो साहित्यिकों की दृष्टि है, जो इनके काव्य-सौष्ठव का आस्वाद करके उपरत हो जाती है। दूसरी दृष्टि उन प्रेमी उपासकों की है जो अपने संपूर्ण-भाव जीवन को इन वाणियों में व्यंजित प्रीति के साँचे में ढालना चाहते हैं। चाचाजी ने इन दोनों दृष्टियों को एक सुन्दर रूपक के द्वारा व्यक्त किया है। वे कहते हैं 'श्रेष्ठतम अक्षरों की बनी हुई यह पालकी रसिकों को लेने के लिये इस लोक में आई है। जिन्होंने इसको देख कर केवल वाह-वाह की वे तो यहीं रह गये और जो उस पर चढ़ गये वे रस-धाम में पहुँच गये।'

अक्षर धुर की पालकी आई रसकनि लैन।
वाह-वाह करि रहि गये चढ़े सु पहुँचे ऐंन ॥

वाणी को केवल वाह-वाह का विषय न बनने देने के लिये रसिकों ने उसको 'नाम' के साथ जोड़ कर रखा है। सेवा के अतिरिक्त नाम-वाणी किंवा नाम-गिरा के अनुशीलन से प्रेम-साधना पूर्ण बनती है। नाम का जप वाणी पाठ के लिये हृदय में उपयुक्त भूमिका तैयार करता है और वाणीगान हृदय को स्नेह-द्रवित बनाकर उसको अविराम नाम-स्मरण की योग्यता प्रदान करता है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों मिल कर उपासक के हृदय में प्रेम-भजन को खड़ा करते हैं।

सेवक जी ने नाम-वाणी के युग्म को, इसीलिये, बहुत महत्व दिया है। उन्होंने कहा है, 'नाम-वाणी में परम प्रीति का प्रकाश देखकर श्याम-श्यामा सदैव उनके निकट रहे आते हैं। अत्यन्त प्रेम, रस और माधुर्य का दान करते वाली नाम-वाणी को सुनकर श्याम-श्यामा वशीभूत हो जाते हैं। जहाँ नाम-वाणी है। वहीं श्याम श्यामा रहते है। मैं श्री हरिवंश-नाम और उनकी वाणी की बलिहार होता हूँ।'

नाम-बानी निकट श्याम श्यामा प्रकट,
रहत निशि दिन परम प्रीति जानी।
नाम-बानी सुनत श्याम श्यामा सुबस,
रसद, माधुर्य अति प्रेम दानी।
नाम-बानी जहाँ श्याम श्यामा तहाँ,
सुनत, गावंत मो मन जु मानी।

वलित शुभनाम बलि विशद कीरति जगत,
हौं जु बलि जाऊँ हरिवंश बानी।
(से० वा० ४-१०)

अपनी वाणी की समाप्ति श्री सेवक जी ने यह कह कर की है, 'मैं सदैव श्री हरिवंश की वाणी अथवा श्री हरिवंश नाम की शरण में रहता हूँ। इनको छोड़ कर मुझको अन्यत्र कहीं विश्राम नहीं मिलता।

सेवक शरण सदा रहै अनत नहीं बिश्राम।
वाणी श्री हरिवंश की कै हरिवंशहि नाम ॥

साहित्य



सम्प्रदाय का साहित्य

हिन्दी के क्षेत्र में भक्ति-साहित्य का उदय एक विशेष घटना है। इसकी विशेषता यह है कि यह अचानक-सी घटित हो गई है। भक्ति-साहित्य से पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य में इस घटना के कोई स्पष्ट आसार नहीं दिखलाई देते। जहाँ-तहां जो सूत्र मिलते हैं वे भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्नता भर को प्रमाणित करते हैं, उनसे भक्ति-साहित्य की विशेषताओं पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। यह साहित्य उस महान भक्ति-आन्दोलन से संबद्ध है जो पन्द्रहवीं शताब्दी में हिन्दी भाषी प्रदेश में चल पड़ा था। यह दक्षिण से आया था। पद्मपुराण के भागवत-माहात्म्य में स्वयं भक्ति ने कहा है 'मेरा जन्म द्रविड़ में और वर्धन कर्णाटक में हुआ है'—उत्पन्ना द्रविड़े साहं वृद्धिं कर्णाटके गता। कबीरदास ने बतलाया है कि भक्ति द्राविड़ में उत्पन्न हुई थी और रामानंद उसको उत्तरभारत में लाये थे—भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाये रामानंद। उत्तर भारत में आने से पूर्व यह दक्षिण में खूब फैल-फूल चुकी थी और वहाँ की लोक-भाषा में एक ऐसे साहित्य की प्रेरक बन चुकी थी जो अपनी रहस्योन्मुख प्रवृत्ति और भाव-प्रवणता में अनूठा है। तामिल भाषा में आलवार भक्तों की रचनाओं को वही स्थान प्राप्त है जो हिन्दी में कबीर, तुलसीदास और सूरदास के पदों को।

भक्ति में साहित्य की प्रयोजक बनने की शक्ति सहज रूप से विद्यमान है। वह एक मधुर और तीव्र अनुभूति है जो मानस

में हलचल मचाकर मनुष्य को मुखरित कर देती है। साहित्य-सर्जन के पीछे मनुष्य की वे विरल तीव्र अनुभूतियाँ ही हैं जो अपने साथ गान की विवशता लिये होती हैं। इन अनुभूतियों के विवश गायक को ही कवि कहा जाता है। चित्त में अनुभूतियों के द्वारा उठाई गई हलचल 'भाव' कहलाती है और भाव की चर्वणा ही, भारतीय साहित्य शास्त्र की दृष्टि में, साहित्य का एकान्त प्रयोजन है। सम्वेदन शील भक्तों के द्वारा भक्ति-भाव की चर्वणा ही भक्ति-साहित्य के रूप में उपलब्ध है। भारतवर्ष में ही नहीं, संसार मे जहाँ कहीं भी भक्ति-भाव की निविड़ चर्वणा हुई है, उच्च साहित्य की सृष्टि हो गई है।

इसके साथ भक्ति का एक यह भी स्वभाव है कि वह भक्ति की वैयक्तिक विशेषताओं, उसकी शिक्षा, संस्कार और परिस्थिति, के अनुकूल बन कर अपनी अभिव्यक्ति करती है। श्री मद्भागवत में बतलाया गया है कि भक्ति योग बहु-विध मार्गों से भावित होता है और मनुष्यों के विभिन्न स्वभाव-गुण के कारण वह अनेक प्रकारों में विभेदित हो जाता है। (भागवत्, ३–२९–७) भक्तों की वाणियाँ और उनके चरित्र ही इसका प्रमाण हैं। दो भक्तों के चरित्र न तो सम्पूर्णतया एक-से होते हैं और न उनकी वाणियाँ ही। एक ही सम्प्रदाय के अनुयायी भक्तों की वाणियों में भी स्वभाव-गुण-जन्य विशिष्टता दिखलाई देती है। व्यक्तित्व की विशिष्टता को लेकर ही अभिव्यक्ति की विशिष्टता खड़ी होती है। भक्ति अपने गायक के व्यक्तित्व को साथ लेकर अभिव्यक्त

होती है अतः भक्ति साहित्य को व्यञ्जना की अपेक्षित बैचित्री सहज रूप से प्राप्त है और इसीलिये भक्ति साहित्य में वह स्वास्थ्य और ताज़गी देखने को मिलती है जो किसी भी साहित्य को गौरव प्रदान कर सकती है ।

भक्ति की अभिव्यक्ति पर भक्त के व्यक्तित्व का बड़ा गहरा प्रभाव होता है। इस प्रभाव के कारण भक्ति साहित्य को वह मानवीय संबन्ध (Human Relation) मिल जाता है जो रसास्वाद के लिये परम आवश्यक होता है । उस साहित्य में जिसको आजकल 'शुद्ध साहित्य' (Pure Literature) कहा जाता है और जिसको भक्ति कवि 'लौकिक काव्य' कहते थे, मानवीय सम्बन्ध ही—चाहे वह मनुष्य-मनुष्य के बीच हों, चाहे मनुष्य और प्रकृति के बीच—वर्ण्य विषय होते हैं । इन सम्बन्धों का ज्ञान सर्व सामान्य होता है, इसीलिये इन पर आधारित रूप-विधान का साधारणी करण कवि-प्रतिभा के बल से हो जाता है। साधारणी कृत रूप विधान सर्व सहृदय-संवेद्य बन जाते हैं । इससे यह स्पष्ट है कि मानवीय संबन्ध के कारण ही साहित्य आस्वाद्य बनता है ।

भक्ति—साहित्य का वर्ण्य विषय मनुष्य और भगवत्तत्व के बीच का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को आस्वादनीय बनाने के लिये सगुण शाखा के भक्तों ने भगवत्तात्व को मानवीय धरातल पर लाकर उसका गान किया है । इस कार्य में अवतार के सिद्धान्त ने बहुत सरलता उत्पन्न की है । भगवान के दो रूप माने गये हैं–ऐश्वर्य रूप और माधुर्य रूप । ऐश्वर्य रूप

लोकातीत और माधुर्य रूप लोकवत् माना गया है। सगुण शाखा के भक्तों ने माधुर्य रूप की लोकवत् लीलाओं का ही गान किया है। किन्तु निर्गुण शाखा के भक्त अवतारों का वर्णन नहीं करते और न उनकी लोकवत् लीलाओं का ही गान करते हैं। उनका भगवत्तत्व निर्गुण और निराकार है किन्तु उनका इस तत्व के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध है। व्यक्तिगत सम्बन्ध होते ही उसमें मानवीय तत्व प्रविष्ट हो जाता है और उनका निर्गुण—निराकार का गान भी आस्वाद्य बन जाता है। अपने सुदृढ़ प्रेम-सम्बन्ध के बल पर ही निर्गुण शाखा के भक्तों ने असीम और अरूप को अपना उपास्य बनाया है। सगुण भक्ति शाखा की भाँति निर्गुण भक्ति-साहित्य में उपास्य का रूप और लीला-वैभव तो प्रदर्शित नहीं किया जाता किन्तु भक्त की भक्ति का वैभव खूब प्रकाशित होता है। अरूप और असीम को विषय बनाकर भक्ति अमित सामर्थ्य शालिनी बनी है और सम्पूर्ण निर्गुण साहित्य उसी की शक्ति से प्राणवान और तेजस्वी बना हुआ है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि भक्ति साहित्य भक्ति के द्वारा ही प्रयोजित और उसीके स्वभाव के अनुसार नियोजित है। भक्ति-सूत्रों में भक्ति का लक्षण 'ईश्वर में परानुरक्ति' बतलाया गया है। 'भक्ति' शब्द 'भज्' धातु से बनता है जिसका अर्थ 'सेवा करना' है। धात्वर्थ को साथ लेकर 'भक्ति' से सेवा-परायण प्रेम का बोध होता है। सेवा के लिये सगुण और साकार तत्व की आवश्यकता होती है। अपनी जन्म-

भूमि दक्षिण में भक्ति सविशेष उपास्य तत्व के आश्रय में ही फूली-फली थी। श्री रामानुज ने वेदान्त प्रतिपाद्य अद्वय तत्व को जीव और जगत् विशिष्ट सिद्ध किया है। उनके मत में निर्गुण वस्तु की कल्पना ही असंभव है। ब्रह्म सदा सगुण ही होता है, निर्गुण ब्रह्म का अर्थ इतना ही है कि वह प्राकृत गुणों से विरहित है। श्री मध्वाचार्य भी सगुण ब्रह्म को ही परात्पर तत्व मानते हैं।

भक्ति की यह दो शाखायें उत्तर भारत में आकर हुईं। उस समय यहाँ का एक बहुत बड़ा प्रदेश उन मतों से प्रभावित था जिनका साधन-पक्ष योग पर और विचार पक्ष शांकार वेदान्त पर आधारित था। श्री शंकराचार्य ने ब्रह्म की निर्गुण स्थिति को ही उसकी आत्यंतिक स्थिति माना है, सगुण तो वह माया शवलित होकर बनता है। सगुण होते ही उसमें नाम-रूप की क्षमता आजाती है और वह उपासना के योग्य बन जाता है। साधक का मन सगुण पर सध जाने पर वह निर्गुण ब्रह्म की उपलब्धि कर लेता है। स्वभावतः इस मत में ब्रह्म का सगुण रूप उसके निर्गुण रूप से भिन्न है और यह भिन्नता मायोपाधि के कारण है। भक्ति को इन मतों के प्रदेश में लाने वाले श्री रामान्द स्वयं इन मतों से कितने ही अंशों में प्रभावित थे। उनकी दृष्टि भक्ति के स्वभाविक पक्ष की ओर अधिक थी, उसके दार्शनिक पक्ष के प्रति उनका विशेष आग्रह मालुम नहीं होता। परिणामतः उनके अन्यतम शिष्य कबीर-

दास जी ने भक्ति के सहज पक्ष की रक्षा करके उसके दार्शनिक पक्ष का समन्वय प्रचलित योग मार्ग और शांकर वेदान्त परिपाटी के साथ कर दिया। इस समन्वय से भक्ति का जो रूप बना वही भक्ति की 'निर्गुण शाखा' कहलाता है। शंकराचार्य ने सगुण को माया-शवलित तत्व बतलाया था। अतः इस शाखा के भक्तों ने भी उसका निषेध कर दिया और अपना उपास्य 'निर्गुणराम' को बतलाया। यह 'निगुँणराम' श्री शंकराचार्य के निर्गुण तत्व से भिन्न हैं, किन्तु ढाँचे में उसी के ढले हैं। 'निर्गुणराम' में विशेषता यह है कि उनके साथ भक्ति का स्वरूपगत सेव्य-सेवक सम्बन्ध या उपास्य-उपासक सम्बन्ध लगा हुआ है। उनके निर्गुण होने के कारण इस सम्बन्ध की स्थिति भी केवल भाव में रह गई है और सेवा-प्रकार भी भावमय है। इस शाखा का साहित्य सेव्य-सेवक की बड़ी भाव-पूर्ण एवं सुन्दर व्यंजनाओं से भरा पड़ा है, जो इस साहित्य का सबसे बड़ा आकर्षण हैं। कबीरदास जी ने योगिक क्रियाओं की ओर आकर्षित होते हुए भी 'भाव' को अपनी साधना में बड़ा उन्नत स्थान दिया है। वे अपने अनेक पदों में भाव-हीन योगी को फटकारते दिखलाई देते हैं और यह कहने की तो आवश्यकता नहीं है कि भक्ति के सम्पूर्ण भावों का आधार उपास्य-उपासक सम्बन्ध ही है।

सगुण शाखा वैष्णव-दर्शन का सहारा लेकर चली। इस शाखा का परात्पर तत्व सगुण एवं नराकृति है। इसके साथ का सेव्य-सेवक सम्बन्ध सम्पूर्णतया मानव सम्बन्ध

है और इसकी सेवा का सर्वश्रेष्ठ प्रकार आत्मवत् सेवा है। सगुणशाखा की सबसे सुन्दर और बलशालिनी योजना इष्ट योजना है। इसमें भगवान के किसी एक रूप को इष्ट मानकर उसकी उपासना की जाती है। इष्ट सम्पूर्ण प्रियता का आधार होता है और भक्त सम्पूर्ण हृदय से केवल उसीके रूप-गुणका गान करता है। इस योजना में भक्ति का सहज व्यक्तिगत दृष्टिकोण निखर आया है। साथ ही उपास्य तत्व इष्ट बनकर उपासक के बहुत निकट आ जाता है और उपासक उसके साथ सहज आत्मीय सम्बन्ध से बँध जाता है। इष्ट के प्रति इस निर्व्याज आत्मीयता ने ही सगुण साहित्य की सृष्टि की है और यह समूचा साहित्य आत्मीयता के राग से ही रंजित है।

राम और कृष्ण को अलग-अलग इष्ट रूप में ग्रहण करके सगुण भक्ति साहित्य, राम-भक्ति शाखा और कृष्ण-भक्ति शाखा में बँटा हुआ है। राम-भक्ति शाखा में लोक और वेद की मर्यादाओं को स्वीकार करके श्रीराम के चरित्रका वर्णन किया गया है। कृष्ण-भक्ति शाखा श्रीकृष्ण के स्वच्छन्द प्रेम-स्वरूप को लेकर चलती है और प्रेम-बंधन के अतिरिक्त अन्य किसी बंधन को स्वीकार नहीं करती। राम-भक्ति-शाखा का सबसे महत्व पूर्ण ग्रन्थ 'रामचरितमानस' है जो अपनी विमल भक्ति और अनुपम उदारता के लिये प्रसिद्ध है। तुलसीदास के राम परम प्रेमास्पद होने के साथ आदर्श लोक नायक हैं। गीता में अवतारके जो तीन प्रयोजन—साधु परित्राण, दुष्ट-नाश और धर्म-संस्थापन बतलाये गये हैं, उनके चरित्र

में सम्पूर्णतया चरितार्थ हुए हैं। श्रीराम के चरित्र में प्रेम की कोमल वृत्तियों के साथ कर्तव्य की निर्मम कठोरता का समावेश है और व्यक्तिगत सुख-दुख के ऊपर समाज का व्यापक हित प्रतिष्ठित है। बहुत दिनों से यह चरित्र भारतीय कवि-गायकों का आकर्षण बना हुआ है किन्तु इसका रूप जैसा 'रामचरित्रमानस' में निखरा है, वैसा अन्यत्र नहीं। राम को पाकर तुलसीदास धन्य हैं और तुलसी को पाकर राम कृत-कार्य हैं, इन दोनों को पाकर हिन्दू-समाज सम्मान पूर्वक जीवित है। 'रामचरितमानस' में उस भारतीय जीवन के सुगठित चित्र हैं जिसमें प्रेम भी है और कलह भी और जिसका पर्यवसान शाश्वत मांगलिकता में है। दुर्बल और विच्छिन्न हिन्दू समाज को इस ग्रन्थ से नवीन प्रेरणा मिली, और उसके अन्दर एक नवीन आत्म-विश्वास का उदय हुआ। पराजित और पराधीन होते हुए भी इस समाज का विजय-स्वप्न नष्ट नहीं होने पाया और वह प्रतिवर्ष उत्साह के साथ दानवता के ऊपर मनुष्यता की विजय का उत्सव मनाता रहा है। इन कार्यों को करने वाली प्रतिभा सामान्य नहीं हो सकती। साहित्यिक दृष्टि से भी 'रामचरितमानस' की गणना संसार के गिने-चुने महाकाव्यों में की जाती है। इसमें भाषा का अनुपम शृंगार हुआ है और भाव को अनुपम सुषमा मिली है।

गो० तुलसीदास का समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रसिद्ध है। वे भारतीय संस्कृति की सहज समन्वयात्मक प्रवृत्ति के

प्रतीक हैं। सर्वथा सगुणोपासक होते हुए भी वे अपनी उपासना में निर्गुण का समन्वय करने को तयार हैं। उनका राम-नाम निर्गुण और सगुण के स्वर्ण-संपुट में शोभा देने वाला सुन्दर रत्न है।

हृदय अगुन नैननि सगुन रसना राजत नाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी रतन ललाम॥

तुलसीदास जी के बाद इस शाखा में कोई असाधारण शेमुषी-संपन्न कवि नहीं हुआ और बाद के लोग इनही की छाया में बैठकर रामगुण गान करते रहे।

कृष्ण-भक्ति-शाखा के अन्यतम प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य स्वयं एक वैष्णव-दर्शन के स्थापक हैं। उन्होंने गीता (१८-१४) के आधार पर 'पुरुषोत्तम' को परातपर तत्व माना है। पुरुषोत्तम उस अक्षर ब्रह्म से अतीत है जो ज्ञान-मार्ग का प्राप्य है। उन्होंने अक्षर ब्रह्म में आनंद की मात्रा भी कम मानी है। श्री कृष्ण ही पुरुषोत्तम हैं और वे अगणितानंद हैं। श्री वल्लभाचार्य के अनुयायी अष्ट-छाप के कवियों ने इनही आनंद-स्वरूप श्री कृष्ण की लीला का गान अपने पदों में किया है। इन श्रीकृष्ण के अमित माधुर्य के आगे निर्गुण ब्रह्म फीका और बेस्वाद मालुम देता है। इस तथ्य का प्रदर्शन करने के लिये इन कवियों को श्रीमद्भागवत का गोपी–उद्धव मिलन बहुत उपयुक्त लगा और उन्होंने इसके आधार पर अपने प्रसिद्ध भ्रमर-गीतों की सृष्टि की है। भ्रमर-गीतों में निर्गुण-सगुण सम्बन्धी प्रश्न को अनन्य प्रेमियों के दृष्टिकोण से देखा गया

है एवं इसी दृष्टिकोण की श्रेष्ठता उनमें सिद्ध की गई है। प्रेमी गोपियों को निर्गुण वादियों का पक्ष हास्यास्पद प्रतीत होता है। उनका प्रेम नित्य सगुण पदार्थ है। वे यह नहीं समझ पातीं कि इस प्रेम का आधार सगुण से भिन्न कैसे हो सकता है। कृष्ण-भक्त कवियों को यह प्रसंग इतना रुचिकर प्रतीत हुआ कि भ्रमर गीतों और उद्धव-संदेशों की एक लम्बी परम्परा इस शाखा के साहित्य में मिलती है।

राम-भक्ति-शाखा में श्रीराम के 'चरित्र' का चित्रण हुआ है, कृष्ण-भक्ति-शाखा में श्रीकृष्ण की 'लीला' का गान। 'चरित्र' और 'लीला' का प्रयोग प्रायः समानार्थ में होता है और राम चरित्र को रामलीला भी कहते हैं। 'चरित्र' और 'लीला' चाहे बाहर से एक जैसे दिखते हैं, किन्तु इन दोनों में महत्वपूर्ण भिन्नता है। चरित्र के वर्णन में उन क्रियाओं का प्रकाशन विशेष रूप से होता है जो जीवन में किसी विशेष उद्देश्य से की जाती हैं, लीला के गान में उन क्रियाओं को प्रकट किया जाता है जो केवल आनंदमयी हैं और जो निरुद्देश्य हैं। लीला का प्रयोजन लीला ही माना गया है। भागवत में श्रीकृष्ण चरित्र और लीला, दोनों का वर्णन मिलता है। कृष्ण भक्त कवियों ने श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन बहुत कम किया है और लीला का बहुत अधिक। सूरदास श्रीमद्भागवत के आधार पर सम्पूर्ण कृष्ण चरित्र का वर्णन करते हैं किन्तु उनके विश्राम स्थल दो ही हैं-बाल गोपाल की आनंदमयी और निरुद्देश्य बाल-चेष्टायें और श्रीकृष्ण और गोपियों का सहज प्रेम।

लीला को भक्तों ने क्रीडा भी कहा है और जिसमें हार-जीत का प्रश्न प्रधान न हो वही सुन्दर क्रीडा है। क्रीडा का प्रयोजन क्रीडा के सुख की अनुभूति ही है और लीला-सुख के अनुभव के लिये ही भक्तों ने लीला का गान किया है। लीला में किसी शिक्षा को ढूँढ़ना व्यर्थ है क्योंकि फिर तो—लीला सोद्देश्य बनकर चरित्र बन जायगी। इस बात को ध्यान में न रख कर ही कृष्ण-भक्ति काव्य में लोक संग्राहकता के अभाव की शिकायत की जाती है। कृष्ण-भक्ति काव्य के बहुत बड़े अंश में, निर्विवाद रूप से, लोक संग्राहकता का अभाव है किन्तु यह इस काव्य का दूषण नहीं कहा जा सकता। इस अभाव से इसकी सुषमा को कोई हानि नहीं पहुँचती। यह तो भिन्न युग के लोगों की भिन्न रुचि का प्रश्न है। भक्ति-काल में भगवान के प्रत्येक चरित्र पर लीला की निरुद्देश्यता का आरोप किया जाता था, अब लीला से चरित्र के समान आदर्श-वाहक बनने की आशा की जाती है।

सगुण भक्ति के पाँच मुख्य रस माने जाते हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमें से शान्त रस में तो न लीला के लिये अवकाश है और न चरित्र के लिये। यह रस उन लोगों को आस्वादित होता है जो ज्ञाननिष्ठ हैं और जिनमें यदृच्छा से भगवद्रति उत्पन्न हो गई है। ज्ञाननिष्ठ पात्र में आधारित होने के कारण यह रति भगवद्-स्वरूप के आस्वाद में ही तृप्त रहती है, भगवद्-चरित्र या लीला के आस्वाद तक नहीं पहुँचती। दास्य रस में प्रथम बार भगवान और भक्त के बीच में स्वामी-सेवक सम्बन्ध के स्पष्ट दर्शन होते

हैं इस सम्बन्ध के बल से मनुष्य भगवान के चरित्रों के आस्वाद का अधिकारी बन जाता है। दास्य भक्ति के साहित्य में भगवान के लोकानुग्राहक चरित्रों का गान किया गया है। इस भक्ति का अमर काव्य 'रामचरित-मानस' है। दास्य भक्ति में स्वामी और सेवक के बीच में स्वाभाविक संभ्रम बना रहता है और दोनों ओर से मर्यादा का पालन होता है। भगवान के स्वच्छन्द लीलामय रूप का विकास इस भक्ति के वातावरण में नहीं होता।

सख्य रस में चरित्र के साथ लीलाओं को भी अवकाश है और लीला का क्षेत्र यहीं से आरंभ होता है। सखाओं में परस्पर निरुद्देश्य क्रीडा का होना स्वाभाविक है और भक्त कवियों ने इस क्रीडा के सजीव वर्णन उपस्थित किये हैं। सख्य, वत्सल और मधुर रतियाँ संभ्रम के भार से मुक्त होती हैं। साथ ही इनमें 'आनंद के लिये आनंदवाली' प्रवृत्ति जाग्रत रहती है। इसी प्रवृत्ति को लेकर लीला की अवतारणा होती है। वात्सल्य रस में भी माता और बालक का प्रेम संभ्रम-शून्य और अन्य उद्देश्य हीन होता है। बाल लीला के सबसे बड़े गायक सूरदास हैं। सख्य और वात्सल्य में लीला की अभिव्यक्ति कुछ बँधे हुए रूपों में होती है, इनमें भाव गांभीर्य तो होता है किन्तु लीला का विस्तार और उसकी विविधता कम होती है। मधुर रस में लीला को उन्मुक्त प्रदेश मिल जाता है और वह अनेक नये रूपों में प्रगट हो जाती है। प्रेमलीला के उपासक भक्तों

ने, इसीलिये, मधुर रस को सर्वाधिक महत्व दिया है। सूरदास ने भी जितने पद वात्सल्य और सख्य के कहे हैं उनसे कहीं अधिक शृंगार के कहे हैं। अष्टछाप के अन्य कवियों में सख्य और वात्सल्य के पदों का अनुपात और भी कम रह गया है।

लीला साहित्य के प्रणेताओं में सूरदास जी का विशिष्ट स्थान है। श्री वल्लभाचार्य का शिष्य होने के बाद, उनकी आज्ञा से, सूरदास जी ने श्री कृष्णलीला का गान प्रारंभ किया था। वार्ता में बतलाया गया है कि श्री वल्लभाचार्य जी ने उनको भागवत के दशम स्कध की अनुक्रमणिका सुनाई थी और फिर उनको व्रज में लाकर गोकुल के दर्शन कराये थे। गोकुल के साथ भाव-सम्बन्ध होते ही सूरदास जी को श्री कृष्ण की बाल लीला का स्फुरण हुआ और उन्होंने वहीं एक पद बनाकर श्री वल्लभाचार्य को सुनाया। वल्लभ सम्प्रदाय की उपासना एवं सेवा प्रणाली में बाल-भाव का प्राधान्य है और सूरदास जी ने अपने सम्प्रदाय के सर्वथा अनुकूल रहकर बाल-लीला का गान किया है। किन्तु उनके शृंगार-लीला सम्बन्धी पदों के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। उनके शृंगारी पद श्री वल्लभाचार्य के तत्सम्बन्धी दृष्टि कोण का पूरा अनुसरण नहीं करते। इस बात को समझने के लिये हमें श्री वल्लभाचार्य कृत भागवत की प्रसिद्ध टीका 'सुबोधिनी' का अध्ययन करना होगा। भागवत की टीकाओं में यह टीका अपने ढंग की अनोखी है और इसीमें श्री वल्लभाचार्य ने कृष्ण-लीला सम्बन्धी अपने विशिष्ट दृष्टिकोण को उपस्थित किया है।

सुबोधिनी में दशम स्कंध के प्रथम चार अध्यायों को जन्म-प्रकरण और पाँचवे अध्याय से बत्तीसवे तक के २८ अध्यायों को तामस-प्रकरण कहा गया है। तामस-प्रकरण के चार विभाग हैं–प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल । श्री वल्लभाचार्य दशम स्कंध में ९० अध्यायों के बजाय ८७ अध्याय मानते हैं। वस्त्र-हरण-लीला से सम्बन्धित तीन अध्यायों--तेरह, चौदह और पन्द्रह–को उन्होंने प्रक्षिप्त बताया है। तामस-प्रकरण के फल विभाग में सात अध्याय हैं जो सुबोधिनी के अनुसार २६ से ३२ तक और भागवत की प्रचलित पुस्तकों में २९ से ३५ अध्याय तक हैं। इन सात अध्यायों में २९ से ३३ अध्याय तक रासलीला का गान है, चौतीसवे-अध्याय में अजगर के मुख से नंद को छुड़ाने की कथा है और पैतीसवाँ अध्याय 'युगलगीत' कहलाता है, जिसमें गोचारण के लिये बन में गये हुए श्री कृष्ण का गोपियों ने गुण-वर्णन किया है। फल-प्रकरण में वर्णित लीलाओं का प्रयोजन श्री वल्लभाचार्य ने, व्रज गोपिकाओं को ब्रह्मानंद से निकाल कर भजनानंद में लगाना बतलाया है।

ब्रह्मानंदात्समुद्धृत्य भजनानंद योजने ।
लीला या युज्यते सम्यक् सा तुर्ये विनिरूप्यते ॥

(सुबोधिनी, कारिका-१)

भजनानंद भगवत् स्वरूपात्मक है अतः भजनानंद का दान स्वरूपानंद का दान है। श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ रमण करते हुए उनको भजनानंद किंवा स्वरूपानंद का दान

किया था। इस रमण या लीला को श्री वल्लभाचार्य ने दो प्रकार का बतलाया है—बाह्य और आन्तर। जिस प्रकार इस सम्पूर्ण प्रपंच को 'नाम-रूपे व्याकरवाणि' श्रुति दो प्रकार का—नामात्मक और रूपात्मक बतलाती हैं, उसी प्रकार भगवान की लीला के भी दो भेद हैं—नाम लीला और रूप लीला। जिसमें प्रभु का विरह-जनित गुण-गान हो वह नाम लीला कहलाती है और जिसमें केवल उनका रमण हो वह रूपलीला कहलाती है। रूपलीला को बाह्य लीला और नाम लीला को आन्तर लीला कहा गया है। बाह्य लीला काल-चक्र की भाँति गमनागमन रूप और प्रवाह रूप है, आन्तर लीला नित्य है। आन्तर लीला को परमफल-रूपा भी बतलाया गया है।

बाह्याभ्यंतर भेदेन आंतरं तु परं फलम्,
ततः शब्दात्मिका लीला निर्दुष्टा सा निरूप्यते।

(सु० का० ५)

आंतर लीला 'निर्दुष्ट' है, उसमें रूप लीला की भाँति मानादि दोष नहीं होते। फल प्रकरण के सात अध्यायों में से प्रथम पाँच में जो 'रास पंचाध्यायी' कहलाते हैं, रूप लीला का वर्णन हैं। भगवान ने पाँच प्रकार से रूप लीला की है—आत्मा से, मन से, वाणी और प्राण से, इन्द्रियों से और शरीर से। पंचाध्यायी में इन पाँच प्रकारों की रूप लीला का और अंतिम दो अध्यायों में आंतर लीला का वर्णन है। इनमें से अंतिम अध्याय (३५ अ०) में निर्दोष फल-रूपा आन्तर

लीला कही गई है। आंतर लीला केवल विप्रयोगात्मिका एवं भगवद्-गुणात्मिका है। श्री घनश्याम भट्ट ने अपनी 'सूचिका' में तामस-फल प्रकरण के सात अध्यायों में से प्रथम छह अध्यायों में भगवान के प्रसिद्ध ऐश्वर्यादि धर्मों का और सातवें अध्याय में उनके धर्मी स्वरूप का वर्णन बतलाया है। श्री वल्लभाचार्य ने सातवें अध्याय की अपनी कारिका में इस अध्याय की लीला को 'सर्वोत्तमा' कहा है।

सर्वोत्तमा हरे र्लीला वेणु नाद पुरःसरा ।

श्री वल्लभाचार्य के लीला-सम्बन्धी सिद्धान्त के उपरोक्त विवरण से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं:—

(१) श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्ण-लीलाओं में शृंगार लीला फल रूपा है।

(२) शृंगार लीला का प्रयोजन गोपियों को भजनानंद किंवा स्वरूपानंद का दान करना है।

(३) फलरूपा लीलाओं में 'वेणु-नाद पुरःसरा' और 'विप्रयोगात्मिका' लीला परमफल रूपा और सर्वोत्तमा है। यह भगवद्-गुण-गानात्मिका होती है।

सूरदास जी के शृंगार लीला सम्बन्धी पदों को देखने से स्पष्ट मालुम होता है कि वे उपरोक्त सिद्धान्त का कुछ अंशों में ही अनुसरण करते हैं। श्री वल्लभाचार्य की भाँति वे भी शृंगार लीला को फल रूपा मानते हैं किन्तु उनकी भाँति गुणात्मिका नाम-लीला को रूप-लीला से अधिक महत्व नहीं देते। उन्होंने नाम लीला का खूब गान किया है और

उससे भी अधिक रूप-लीला का किया है। उन्होंने विरह-व्याकुल कंठ से श्रीकृष्ण के अद्भुत प्रेम-गुणों का वर्णन किया है और साथ ही संभोग शृंगार की विविध क्रीडाओं का मार्मिक चित्रण भी किया है। उनके शृंगार केलि के वर्णन संयोग-शृंगार के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। श्री वल्लभाचार्य की दृष्टि में गोपियों और श्रीकृष्ण का प्रेम भक्त और भगवान के बीच का प्रेम है। उन्होंने, इसीलिये गोपियों को सात्विक, राजस और तामस के भेदों में विभक्त किया है। सूरदास में इस प्रकार के वर्गीकरण की कहीं व्यंजना नहीं हुई है। अतः सूरदास जी के शृंगारी पदों को समझने के लिये हमको अन्यत्र दृष्टि डालनी होगी।

श्रीवल्लभाचार्य से लगभग दो शताब्दी पूर्व श्रीधर स्वामी ने श्रीमद्भागवत पर 'भावार्थ दीपिका' नामक एक संक्षिप्त टीका लिखी थी। इस टीका में उन्होंने रासलीला का प्रयोजन भगवान के द्वारा उस कंदर्प के दर्प का नाश करना बतलाया है जो ब्रह्मादि को विजित करके दर्पित हो रहा है।

ब्रह्मादि जय संरूढ़ दर्प कंदर्प दर्पहा।
जयति श्रीपति गोपी रास मंडल मंडनः ॥

श्रीधर स्वामी की दृष्टि में रासलीला वह काम-क्रीडा है जिसको देखकर स्वयं कामदेव लज्जित हो जाता है, कामदेव को लज्जित करना ही इस काम-क्रीडा का प्रयोजन है। श्री चैतन्य को श्रीधर स्वामी का यह मत मान्य था और उनके अनुयायी वंगीय गोस्वामी गण ने रासलीला को शुद्ध

शृंगार-लीला ही माना है। इस लीला में श्रीकृष्ण और गोपियों का सम्बन्ध केवल भगवान और भक्त का सम्बन्ध नहीं है, नायक और नायिका का सम्बंध है। इन महानुभावों ने रासलीला का विवेचन शृंगार रस की परिपाटी से किया है और इस लीला में प्रगट होने वाले भावों का वर्गीकरण भी उसी परिपाटी के अनुकूल किया है। सूरदास जी ने श्री वल्लभाचार्य एवं श्रीधर स्वामी के रास लीला सम्बन्धी दृष्टिकोणों का सामंजस्य अपने एक विशिष्ट दृष्टिकोण में किया है। महाकवि होने के नाते मौलिकता उनका स्वाभाविक धर्म है। यह मौलिकता भावों और उनकी अभिव्यक्ति तक ही सीमित नहीं है, उनका दृष्टिकोण भी मौलिक है।

रासलीला में एक ही कृष्ण-प्रेम अनंत गोपियों में प्रतिष्ठित है। सब गोपियाँ समान रूप से श्रीकृष्ण को परम कांत मानती हैं। इसमें गोपियों की ओर से तो प्रेम की सहज एक-निष्ठता का निर्वाह हो जाता है किन्तु श्रीकृष्ण का प्रेम अनेक-निष्ठ ही रहता है। रास आरंभ होते ही श्रीकृष्ण अनेक रूप धारण करके प्रत्येक गोपी के साथ हो जाते हैं और इस प्रकार रास काल में श्रीकृष्ण का प्रेम भी एक-निष्ठ बन जाता है। दोनों ओर से प्रेम के एक-निष्ठ बनते ही उसको वह लास्यमयी गति प्राप्त हो जाती है जिसका नाम 'रास' है। प्रेम का स्वभाव गत धर्म एक-निष्ठता है। दोनों ओर से एक-निष्ठ बनने पर ही प्रेम उज्ज्वल, स्थायी और गंभीर बनता है। रासलीला पर अपनी प्रेमोपासना आधारित

करने वाले भक्त गण इस बात को भली भाँति समझते थे। 'रासपंचाध्यायी' में प्रेम के अनेक-निष्ठ और एक-निष्ठ दोनों रूप दिखलाई देते हैं। वहाँ एकान्त सौभाग्यशालिनी एक गोपी का उल्लेख हुआ है जिसको लेकर श्रीकृष्ण सब गोपियों के मध्य से अंतर्धान हो गये थे। भागवत में इस गोपी का स्पष्ट नामोल्लेख नहीं है। भक्तों ने, कृष्णलीला का वर्णन करने वाले अन्य पुराणों की सहायता से, इस गोपी का नाम 'राधा' बतलाया है। श्रीकृष्ण के अनेक-निष्ठ प्रेम को एक-निष्ठ बनाने वाली यही 'श्रीराधा' हैं। प्रारंभ में राधा भी अन्य गोपियों के समान ही एक गोपी हैं जिनके प्रति श्रीकृष्ण का कुछ अधिक आकर्षण है। धीरे-धीरे वे अन्य गोपियों से भिन्न बनकर श्रीकृष्ण के अधिक निकट आ जाती हैं। श्रीराधा का प्रेम इस प्रकार का है कि उससे विवश बनकर श्रीकृष्ण को चारों ओर से सिमिटना पड़ता है। श्रीराधा कान्ता-शिरोमणि बन जाती हैं और अन्य गोपियाँ उनकी सखी बनकर अपने को धन्य मानने लगती हैं। गोपी कृष्ण से राधा कृष्ण का महत्व अधिक बढ़ जाता है और इन दोनों को लेकर ही अधिकांश शृंगार-लीलाओं की रचना होने लगती है।

श्रीधर स्वामी की दृष्टि को अपनाने वाले बंगाली महात्माओं ने अपनी टीकाओं में रास पंचाध्यायी के उन शब्दों को पकड़ा है जो श्रीराधा की ओर संकेत करते हैं। श्री वल्लभाचार्य की सुबोधिनी और श्रीधर स्वामी की टीका में

इस प्रकार का प्रयास दिखलाई नहीं देता। श्रीवल्लभाचार्य ने श्री राधा को अपने ग्रन्थों में कहीं महत्व नहीं दिया और न उनके द्वारा की हुई श्रीराधा की कोई स्तुति ही प्राप्त है। किंतु उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने और उनके द्वारा स्थापित अष्टछाप के कवियों ने श्री राधाकृष्ण के प्रेम का जी भर कर गान किया है। श्रीराधा की स्तुति में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी कृत चार स्वतंत्र रचनायें प्राप्त हैं जिनमें उन्होंने श्रीराधा की कृपा-प्राप्ति के लिये विकल प्रार्थना की है और उस कृपा को अपने भक्ति-सम्प्रदाय की उन्नति के लिये परम आवश्यक बतलाया है।

कृपयति यदि राधा बाधिताशेष बाधा,
किमु परम वरिष्ठं पुष्टिमर्यादयोर्मे।

वार्ता के अनुसार, सूरदास जी के प्रयाण-काल में श्री विट्ठलनाथ ने उनसे जब यह पूछा कि इस समय तुम्हारी चित्त की वृत्ति कहाँ है तो वह उन्होंने श्रीराधा में स्थित बतलाई थी। उनका उस समय कहा हुआ पद यह है!

बलि बलि बलि हो कुँवरि राधिका नंद सुवन जासौं रति मानी।
वे अति चतुर तुम चतुर शिरोमनि प्रीति करी कैसे होत है छानी॥
वे जु धरत तन कनक पीत पट सोतौ सब तेरी गति ठानी।
तें पुनि श्याम सहज वह शोभा अंबर मिस अपने उर आनी॥
पुलकित अंग अब ही ह्वै आयौ निरखि देखि निज देह सयानी।॥
सूर सुजान सखी के बूझे प्रेम प्रकास भयौ विहँसानी॥

सूरदास जी ने राधा का बड़ा मन-मोहक चित्रण किया है। उनका काल श्रीराधा के व्यक्तित्व का विकास काल था।

गीत गोविंद से चली आने वाली राधाकृष्ण के प्रेम-वर्णन की परम्परा उनके समय तक बद्ध-मूल हो चुकी थी। लोक भाषा के कवियों में चंडीदास और विद्यापति श्रीराधा के प्रेम-चरित्र को अपने ढंग से उपस्थित कर चुके थे। सूरदास जी के पदों में श्रीराधा के स्वरूप का एक अभिनव विकास दिखलाई दिया। वह पुराणों पर तो आधारित है ही किंतु, ऐसा मालुम होता है, उस समय व्रजमंडल में एवं अन्यत्र प्रचलित श्रीराधा-संबन्धी अनेक मान्यताओं का समावेश उसमें हुआ है। सूरदास का रचना-काल बहुत लम्बा है। वे लगभग ६० वर्ष तक लीला-गान करते रहे थे। इस काल में अन्य दो कृष्ण भक्त सम्प्रदायों—चैतन्य सम्प्रदाय एवं राधावल्लभीय सम्प्रदाय-की स्थापना व्रज में हो रही थी। चैतन्य सम्प्रदाय में वल्लभ सम्प्रदाय की भाँति, श्रीकृष्ण की प्रधानता थी और राधावल्लभीय सम्प्रदाय श्रीराधा को प्रधान मानकर चला था। इस सम्प्रदाय का साहित्य भी मुख्यतया व्रजभाषा में निर्मित हो रहा था। विद्वानों ने, वल्लभ सम्प्रदाय के साहित्य पर चैतन्य सम्प्रदाय के प्रभाव को तो अपने अध्ययनों में लक्षित किया है किन्तु राधावल्लभीय साहित्य एवं इतिवृत्त के अप्रकाशित होने के कारण इस, सम्प्रदाय के प्रभाव का अनुसंधान अभी तक नहीं हो पाया है। यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि लगभग एक ही काल में चल पड़ने वाले तीन भक्ति-आंदोलन एक दूसरे से परस्पर प्रभावित हों। श्रीविट्ठल नाथ जी द्वारा प्रवर्तित अद्भुत सेवा-पद्धति का प्रभाव समका-

लीन संप्रदायों पर स्पष्ट रूप से पड़ा था। ध्रुवदासजी ने अपनी 'भक्त नामावली' में इस सेवा-पद्धति की ही प्रशंसा की है। *

श्रीहित हरिवंश के द्वारा प्रतिष्ठित श्रीराधा के कृष्णाराध्य रूप का एवं उनके द्वारा प्रचलित निकुंजोपासना तथा सखीभाव का प्रभाव स्पष्ट रूप से अन्य समकालीन सम्प्रदायों पर पड़ा था। सूरदासजी के पदों में श्रीराधा के स्वरूप को हम जो क्रमशः उठता हुआ देखते हैं, एवं सखीभाव संवलित निकुंजोपासना के जो अनेक उदाहरण उनकी रचनाओं में मिलते हैं, यह सब इसी प्रभाव का परिणाम है। 'हित-चतुरासी' के कई पद एवं हरिराम व्यास की संपूर्ण 'रास पंचाध्यायी' बहुत दिनों पूर्व ही सूर सागर में ग्रथित कर लिये गये थे और वे ऐसे स्वाभाविक ढ़ंग से वहाँ बैठ गये हैं कि 'नागरी-प्रचारिणी' वाले खोज पूर्ण संस्करण में भी उनको पकड़ा नहीं जा सका है। हमको स्मरण आता है कि द्विवेदी-युग में सूरसागर में मिलने वाले हित चतुरासी के पदों को लेकर 'सरस्वती' में एक विवाद चला था। सूरदासजी का जन्म निर्विवाद रूप से हितजी से पूर्व हुआ था और इसी आधार पर इन पदों को सूरदासजी की रचना सिद्ध किया गया था

---

* वल्लभ सुत विट्ठल भये अति प्रसिद्ध संसार।
सेवा विधि जिहिं समय की कीन्ही तेहि ब्यौहार॥
राग भोग अद्भुत विविध जो चहिये जिहि काल।
दिनहि लड़ाये हेत सौं गिरिधर श्री गोपाल॥
(भक्त नामावली)

किन्तु इस पक्ष के समर्थकों ने इस बात पर गौर नहीं किया कि सूरदासजी श्रीहित हरिवंश से अवस्था में बड़े होते हुए भी उनके बाद में २५ वर्ष तक जीवित रहे थे और उनके जीवन काल में 'हित चतुरासी' ही नहीं हित-सम्प्रदाय के अनेक रसिक महात्माओं की वाणियाँ प्रगट हो चुकी थीं। ऐसे विवादों को मिटाने का सबसे अधिक निर्भ्रान्त तरीका प्राचीन प्रतियों की तुलना करने का है। हित चतुरासी की अनेक प्राचीन प्रतियाँ और टीकायें उपलब्ध हैं और उनके तुलनात्मक अध्ययन से इस संदेह को निवृत्त किया जा सकता है।

अष्ट छाप के अन्य कवियों में, विशेषतया कृष्णदास एवं नंददास में, यह प्रभाव और भी अधिक स्पष्ट दिखलाई देता है। नंददास जी ने अपनी प्रसिद्ध धमार 'ए चलि नवल-किशोरी गोरी होरी खेलन जाँइ' में श्रीराधा के रूप का सुन्दर वर्णन करने के बाद अन्त में उन लोगों के भाग्य की सराहना की है जो श्रीराधा के चरणों के आश्रित हैं एवं जो सदैव इस रस में मग्न रहते हैं।

श्री वृषभानु सुता पद पंकज जिनकैं सदा सहाय।
इहि रस मगन रहैं जे तिन पर नंददास बलि जाय॥

अष्टछाप के कवि श्रीकृष्ण के अष्ट सखा कहलाते हैं। सखी भाव की प्रतिष्ठा होने के बाद इनको अष्ट सखियों का भी अवतार माना जाने लगा और इनके सखा-नामों के साथ सखी-नाम भी निर्दिष्ट कर दिये गये। (देखिये, अग्रवाल प्रेस, मथुरा द्वारा प्रकाशित 'अष्टछाप परिचय' पृष्ठ ६९) अठारहवीं

शताब्दी के शेष में नागरीदास जी ने अष्ट सखाओं में अन्यतम गोविन्द स्वामी को प्रगट तन से सखा और अंतरंग तन से सखी बतलाया है।

इहि तन सखा दुतिय तन सखी-नित देखत लीला मधुमखी।
नागरीदास भये इहि भाय-जे अपनाये विट्ठलराय ॥

(नागर समुच्चय--गोविन्द परचई पृ० ३७७)

इस 'परिचई' में नागरीदास जी ने गोविन्द स्वामी के जीवन की जितनी घटनायें लिखी हैं वे सब सखा भाव की हैं। वे गोविन्द स्वामी को उनके प्रकट जीवन के आधार पर सखा और उनकी वाणी के आधार पर सखी मानते मालुम होते हैं। अष्टछाप के सभी कवियों ने और विशेषतया श्री विट्ठलनाथ के शिष्य चार कवियों ने सखी भावाविष्ट होकर अनेक पद कहे हैं। यह बात उनके जीवन काल में वृन्दावन से प्रसारित सखी भाव के प्रभाव को सूचित करती है। हम कह चुके हैं कि स्वयं श्री विट्ठलनाथ इस ओर आकृष्ट हुये थे और यह आकर्षण अष्टछाप के सभी कवि महात्माओं में कम-वेशी रूप में विद्यमान है। इन कवियों की विशेषता यह है कि इस प्रभाव को इन्होंने अपनी उपासना के अनुकूल बनाकर अंगीकार किया है। पुष्टि साहित्य में श्रीराधा खूब उत्कर्ष को प्राप्त हुई हैं किन्तु इस साहित्य के सृष्टाओं का सहज पक्षपात श्रीकृष्ण की ओर ही रहा है। उदाहरण में श्री हरिराम व्यास और श्री नंददास के दो पद दिये जाते हैं जो सर्वथा एक-से होते हुए भी पक्षपात की भिन्नता के कारण भिन्न बने हुए हैं।

व्यासजी का पद है:—

चाँपत चरन मोहनलाल ।
पलंग पौढ़ीं कुंवरि राधा नागरी नव बाल ।।
लेत कर धरि परसि नैननि हरखि लावत भाल ।
लाइ राखत हृदै सौं तब गनत भाग विशाल ।।
देखि पिय आधीनता भइ कृपा-सिन्धु दयाल ।
व्यास स्वामिनि लिये भुज भरि अति प्रवीन कृपाल ।।
(व्यास वाणी—पृ० ३७९—८०)

इसी भाव को लेकर नंददास का प्रसिद्ध पद है:—

चाँपत चरन मोहनलाल ।
पलंग पौढीं कुँवरि राधे सुन्दरी व्रजवाल ।।
कबहुँ कर गहि नैन लावत कबहुँ छावत भाल ।
नंददास प्रभु छवि निहारत प्रीति के प्रति पाल ।।

इस पद में श्रीकृष्ण की अधीनता की पराकाष्ठा होते हुए भी वे श्रीराधा की प्रीति के प्रतिपालक हैं, वे श्रीराधा की प्रीति का प्रतिपालन करने के लिशे उनके अधीन बनते हैं। व्यासजी के पद में वे श्रीराधा के अधीन बनकर अपने को परम भाग्यशाली मानते हैं। यहां प्रीति की प्रतिपालक श्रीराधा हैं और श्रीकृष्ण सर्वथा उनकी कृपा के आश्रित हैं।

इसी प्रकार सखी-भाव को भी अष्टछाप के महात्माओं ने अपने ढंग से ही अंगीकार किया है। उनकी सखियाँ श्रीकृष्ण-कांता हैं किन्तु उनका श्रीराधा के प्रति सापत्न्य भाव न होकर सख्य भाव है। श्रीहित हरिवंश द्वारा प्रतिष्ठित सखी स्वरूप इससे भिन्न है, यह हम पीछे देख चुके हैं।

श्री चैतन्य-सम्प्रदाय का भक्ति-साहित्य प्रधानतया संस्कृत और बँगला में है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी एतद्देशीय रसिक संतों ने व्रज भाषा में जिस छोटे से साहित्य की सृजना की है उसमें से एक बड़े अंश में राधावल्लभीय रस-पद्धति से राधा कृष्ण के विहार का वर्णन हुआ है। राधावल्लभीय रस पद्धति के तीन प्रसिद्ध एवं मौलिक तथ्य हैं,—श्रीराधा की प्रधानता, राधा और कृष्ण में समान प्रीति की स्थिति एवं एक ही काल में संयोग और वियोग का अनुभव। चैतन्य-सम्प्रदाय का अधिकांश व्रज-भाषा साहित्य इन तीन तथ्यों को आधार बना कर चला है। इस सम्प्रदाय के व्रज-भाषा कवियों में प्रथम नाम रामराय प्रभु का आता है। यह श्री नित्यानन्द प्रभु के शिष्य थे और इनके पदों का संग्रह 'आदिवाणी' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इनकी वाणी के प्रथम पद में और 'हित चतुरासी' के प्रथम पद में अद्भुत साम्य दिखलाई देता है। 'हित चतुरासी' का प्रथम पद है:—

जोई-जोई प्यारौ करै सोई मोहि भावै,
भावै मोहि जोई सोइ-सोई करैं प्यारे।
मोकौं तौ भावती ठौर प्यारे के नैननि में,
प्यारौ भयौ चाहै मेरे नैननि के तारे॥
मेरे तन-मन प्रान हूँ तें प्रीतम प्रिय,
अपने कोटिक प्रान प्रीतम मोसौं हारे।
(जयश्री) हित हरिवंश हंस-हंसनी साँवल-गौर,
कहौ कौन करै जल-तरंगनि न्यारे॥

श्री रामराय जी की वाणी का प्रथम पद है:—

प्यारी जू प्यारे कौं भावैं सो सहज करैं,
करैं सोइ प्यारे जो भावै प्यारी कौं सदा।
तन सौं तन, मन सौं मन, प्रान-प्रान बिक्री कियौ,
जीवत न विन देखे कोऊ कबहूँ एकदा ।।
प्यारी कौं पाइ कैं प्यारौ भयौ महाधनी,
प्यारी हू प्यारे कौं मानैं निज संपदा ।
रामराय प्रभु श्री अनंग मंजरी के पाँव,
परि-परि पाई जुग रसिक प्रेम-संपदा ।।

दूसरे सुकवि महात्मा श्री भगवत् मुदित हैं। इन्होंने, जैसा हम देख चुके हैं, राधावल्लभीय सम्प्रदाय के अनुयायी महात्माओं का प्रथम प्राप्त इतिहास 'रसिक अनन्य माल' के नाम से लिखा है। इनके २०७ सुललित पद मिलते हैं जिनमें राधावल्लभीय रस-पद्धति का ही निर्वाह किया गया है।

तीसरे महात्मा वल्लभ रसिक जी को तो बतलाने पर ही चैतन्य सम्प्रदायानुयायी मानना पड़ता है। उनकी सम्पूर्ण वाणी में न तो कहीं इस बात का उल्लेख मिलता है और न कहीं उसमें गौड़ीय रस-पद्धति की छाया मिलती है। गौड़ीय पद्धति में श्रीकृष्ण और राधा की प्रीति विषम मानी जाती है और इन दोनों में क्रमशः प्रेमपात्र और प्रेमी का सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। वल्लभ रसिकजी को यह दोनों बातें मान्य नहीं हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है:—

यद्यपि प्रीति दुहूँन की कहियतु एक समान।
पै प्यारी महबूब है प्यारौ आशिक जान ।।

(बारह बाट अठारह पैंडे)

इन पंक्तियों में वे राधाकृष्ण की प्रीति को समान मान कर श्रीराधा को प्रेमपात्र और श्रीकृष्ण को प्रेमी बतलाते हैं। विरह-भाव का तो इनकी वाणी में कहीं स्पर्श भी नहीं है और संयोग-वियोग सम्बन्धी राधावल्लभीय सिद्धान्त को ही इन्होंने अपनी वाणी में ग्रहण किया है।

उज्ज्वल भक्ति-रस के कथन के लिये भक्त कवियों ने शृंगार रस की प्रचलित रीति में अनेक संशोधन और परिवर्धन किये। किन्तु वह संशोधित रस रीति भी नित्य प्रेम को प्रगट करने में पूर्णतया समर्थ नहीं हो सकी। नित्य प्रेम से सम्बन्धित लीला निकुंज लीला है। इस लीला में प्रेम का नित्य एक-रस रूप प्रगट होता है। निकुंजलीला का गान गौड़ीय महानुभावों ने भी किया है और पुष्टि सम्प्रदाय के महात्माओं ने भी। किन्तु इन दोनों सम्प्रदायों द्वारा अंगीकृत उज्ज्वल रस की संशोधित पद्धति में निकुंज-लीला की पूर्ण एक-रसता की व्यंजना नहीं हो पाती। श्रीहित हरिवंश ने प्रचलित पद्धति को संशोधित रूप में भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अपनी विशिष्ट रस-दृष्टि के आधार पर नित्य विहार की एक स्वतंत्र रस-रीति की स्थापना की जिसमें नित्य लीला की धारावाहिकता एवं एक-रसता को प्रकाशित करने की अमित क्षमता रही हुई है। श्रीहित प्रभु ने सोलहवीं शती के अंतिम दशक में इस रस-रीति को अपनी वाणी में प्रदर्शित किया और सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक अनेक कवि-महात्माओं ने इसको ग्रहण करके पल्लवित कर दिया। फलतः इस

रस-रीति का निर्वाह करने वाले साहित्य की एक प्रबल धारा वृन्दावन से प्रवाहित हो गई, जिसका प्रभाव व्रज के अन्य भक्ति रस-साहित्य पर पड़ना अनिवार्य था।

इस रसरीति का वर्णन हम द्वितीय अध्याय में कर चुके हैं। यहाँ यह देखना है कि इसके अनुरोध से राधावल्लभीय साहित्य की रचना में क्या विशिष्टता उत्पन्न हुई है।

वृन्दावन रस के रसिकों ने भी राधा कृष्ण की उज्ज्वल प्रेम-लीला का गान किया है। प्रेम में द्वित्व और एकत्व दोनों रहते हैं। न तो इसमें द्वित्व का निषेध किया जा सकता है और न एकत्व का। इसमें द्वित्व का पर्यवसान एकत्व में और एकत्व का आस्वाद द्वित्व में होता है। प्रेम के वर्णनों में, साधारणतया द्वित्व का पर्यवसान एकत्व में दिखलाया जाता है। राधाकृष्ण की प्रेम लीला के वर्णनों में भी प्रेमोदय किंवा पूर्व-राग, विरह, मिलन के क्रम का ही निर्वाह किया गया है। अधिकांश रसिक भक्तों ने संभोग शृंगार में ही प्रेमास्वाद की पराकाष्ठा मानी है क्योंकि उसी में प्रेमी और प्रेमपात्र का सम्पूर्ण एकत्व सम्पन्न होता है। राधावल्लभीय रसिकों ने राधाकृष्ण के एकत्व को सहज और नित्य सिद्ध माना है और उस एकत्व के आस्वाद के लिये द्वित्व को आवश्यक बतलाया है। परिणामतः जहाँ अन्य भक्त—कवि अनेक अनुकूल और प्रतिकूल संयोगों में राधाकृष्ण का मिलन कराकर प्रेम का उत्कर्ष दिखलाते है, वहाँ वृन्दावन-रस के रसिक इन दोनों को

एक से दो बनाकर प्रेम की लीला को अक्षुण्ण रखते हैं। इनकी दृष्टि में इन दोनों का प्रेम इस प्रकार का है कि इनका मिल कर एक बन जाना उतना दुर्लभ नहीं है जितना अपने सहज एकत्व को छोड़ कर एक से दो बनना। 'हित चतुरासी' के प्रथम पद में ही इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया गया है। इस पद में श्रीराधा अपने और अपने प्रियतम के प्रेम को तौलती हुई दिखलाई देती हैं, किन्तु कई बार चेष्टा करने पर भी दोनों का प्रेम समान बलशाली ही दिखलाई देता है। चेष्टा को विफल होता देख कर, पद के अन्त में, श्रीहित हरिवंश कहते हैं कि तुम दोनों 'सांवल-गौर हंस-हंसनी' एक दूसरे में जल और तरंग की भाँति ओतप्रोत हो, तुमको कौन 'न्यारा' कर सकता है? 'हित हरिवंश हंस-हंसनी साँवल-गौर कहौ कौन करै जल तरंगनि न्यारे'।

राधाकृष्ण के एकत्व को सिद्ध और उनके द्वित्व को साध्य मानने से प्रेम की अविच्छिन्न धारावाहिकता के प्रदर्शन में राधावल्लभीय साहित्य को बहुत सहायता मिली है। साथ ही उज्ज्वल प्रेम का वर्णन करने के लिये प्रेमोदय, विरह और संयोग के क्रम–निर्वाह की भी आवश्यकता यहाँ के पदकारों को प्रतीत नहीं हुई। जो 'आदि न अंत विहार करते हैं और जिनमें आज तक परस्पर 'चिन्हारी'-पहिचान-नहीं हो पाई है, उनके स्वभावत: नित्य-नूतन प्रेम में उपरोक्त क्रम के लिये अवकाश नहीं है। ध्रुवदास जी ने बतलाया है कि इस प्रेम की 'भाँति' (प्रकार) हमारे परिचित प्रेम की रचना से भिन्न

है । 'हित चतुरासी' के एक पद में प्रेमोदय का हलका सा वर्णन मिलता है* । श्रीहितजी राधाकृष्ण की नित्य-लीला और प्रगट-लीला में मौलिक सम्बन्ध मानते हैं । इन दोनों लीलाओं के नायक एक श्रीराधा कृष्ण ही हैं । इस तथ्य की ओर संकेत करने के लिये उन्होंने एक पद में प्रेमोदय का वर्णन कर दिया है । व्यास जी की वाणी में भी इस प्रकार का एक पद मिलता है+। व्यास जी के कनिष्ठ समकालीन श्री ध्रुवदास ने हित प्रभु के पद के आधार पर एक पूरी लीला की रचना की है और उसको नित्य-विहार की लीलाओं से भिन्न दिखलाने के लिये उसका नाम 'व्रज-लीला' रखा है । बाद के साहित्य में प्रेमोदय-वर्णन का सर्वथा अभाव मिलता है ।

वृन्दावन रस रीति की दूसरी विलक्षणता जिसने राधा-वल्लभीय साहित्य को बहुत अधिक प्रभावित किया है, वह उसका विरह-मिलन सम्बन्धी दृष्टिकोण है । इस सम्प्रदाय के अनुसार नित्य-विहार में रत रहने वाले प्रेम का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है । उसमें विरह-संयोग की भी बड़ी सूक्ष्म

---

* नंद के लाल हर्यौ मन मोर ।
हौं अपने मोतिन लर पोवत काँकर डारि गयौ सखि भोर ॥
(हि० च०)

\+ मन मोह्यौ मेरौ मोहन माई ।
कहा करौं चित लगी चटपटी खान-पान घरु–बन न सुहाई ॥
(व्यासवाणी पृ० ५१७)

स्थिति होती है। इस प्रेम में विरह और संयोग के बीच का काल-व्यवधान सह्य नहीं होता। इसीलिये इसमें विरह और संयोग सदैव एक काल में उपस्थित रहते हैं। एक कालिक स्थिति का अर्थ यह है कि इसमें प्रेमी को एक काल में विरह और संयोग का पृथक-पृथक अनुभव होता रहता है। वह विरह की अतृप्ति और व्याकुलता के साथ संयोग की तृप्ति और उल्लास का उपभोग करता रहता है। प्रगट लीला किंवा व्रज-लीला में उज्ज्वल प्रेम का अपेक्षा कृत स्थूल रूप प्रकाशित होता है अतः वहाँ विरह-संयोग भी स्थूल हैं। वहाँ इन दोनों को लेकर लीला भी दो प्रकार की होती है और इसीलिये वहाँ लीला की अविच्छिन्नता का पूर्ण निर्वाह नहीं हो पाता। नित्य-विहार की अविच्छिन्न लीलाओं में प्रेम की मंदाकिनी अपने विरह और संयोग रूपी दोनों तटों का एक साथ स्पर्श करती हुई अखंड प्रवाहित होती रहती है। यह लीलायें प्रवहमान प्रेम-सागर में तरंगों की भाँति उठकर उसी में लय होती रहती हैं। इनमें घटनाओं का हेरफेर बहुत कम रहता है। सागर में तरंगों का उठना भी एक घटना है और बस इतनी ही घटना की आशा हमको इन लीलाओं से रखनी चाहिये। इस प्रकार की लीलाओं का स्वरूप 'हित-चतुरासी' के निम्नलिखित पद से समझा जा सकता है।

विहरत दोऊ प्रीतम कुंज।
अनुपम गौर श्याम तन शोभा, बन बरसत सुख पुंज॥
अद्भुत खेत महा मनमथ कौ, दुंदुभि भूषन राव।

जूझत सुभट परस्पर अँग-अँग, उपजत कोटिक भाव ।।
भर संग्राम श्रमित अति अबला, निद्रायत कल नैन ।
पिय के अंक निसंक तंक तन आलस जुत कृत सैन ।।
लालन मिस आतुर पिय परसत, उरू नाभि उरजात ।
अद्भुत छटा बिलोकि अवनि पर बिथकित वेपथ गात ।।
नागरि निरखि मदन विष व्यापत, दियौ सुधाधर धीर ।
सत्वर उठे महा मधु पीवत, मिलत मीन मिव नीर ।।
अब हीं मैं मुख मध्य बिलोके, बिंबाधर सु रसाल ।
जाग्रत ज्यौं भ्रम भयो परचौ मन, सत मनसिज कुल जाल ।।
सकृदपि मयि अधरामृत सुपनय सुंदरि सहज सनेह ।
तव पद-पंकज कौ निजु मंदिर पालय सखि मम देह ।।
प्रिया कहत कहु कहाँ हुते पिय नव निकुंज वर राज ।
सुन्दर बचन-रचन कत वितरत रति-लंपट बिनु काज ।।
इतनौं श्रवन सुनत मानिनि-मुख अंतर रह्यौ न धीर ।
मति कातर विरहज दुख व्यापत बहु तर स्वाँस समीर ।।
(जै श्री) हित हरिवंश भुजनि आकर्षे लै राखे उर माँझ ।
मिथुन मिलत जु कछुक सुख उपज्यौ त्रुटि लवमिव भइ साँझ ।।

(हि० च० ६६

इस पद की प्रथम चार तुकों में सुरत की तरंग, अगली तीन तुकों में भ्रम की तरंग, इसके बाद की दो तुकों में मान की तरंग और अंतिम तुक में पुनः सुरत-तरंग के दर्शन होते हैं। इस पद में प्रेम-घटना के अतिरिक्त अन्य कोई घटना नहीं है। श्री वृन्दावन की एक ही चित्र-विचित्रमयी नित्य-नूतन पृष्ठभूमि पर यह लीलायें नित्य उद्भासित होती रहती

हैं। भक्ति-साहित्य के समीक्षकों ने इन लीलाओं की परिधि बहुत छोटी होने की शिकायत की है। किन्तु इस आरोप को इस लिये ठीक नहीं माना जा सकता, कि यह सम्पूर्ण साहित्य एक विशिष्ट रस-रीति से बँधा हुआ है और इसका उद्देश्य केवल इस रस-रीति का निर्वाह करना है। साहित्य समीक्षा का यह मोटा-सा सिद्धान्त है कि किसी भी साहित्य की परख करते समय यह देखना चाहिये कि वह अपनी बात को कहने में कहाँ तक सफल हुआ है और उसके इस कार्य से सौंदर्य की निष्पत्ति हुई है या नहीं। इस दृष्टि से देखने से अनेक राधावल्लभीय रसिकों की कृतियाँ उत्तम साहित्य की कक्षा में आ जाती हैं। इस साहित्य में वर्णित प्रेम का स्वरूप हमारे परिचित रूप से थोड़ा भिन्न है, अतः उसके आस्वाद में कठिनाई होना तो स्वाभाविक ही है।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय का साहित्य बहुत विपुल है। काव्य रचना यहाँ की साधना का अंग रही है। प्रत्येक उपासक ने प्रेम-विह्वल स्वर से यही याचना की है,

नेकु कृपा की कोर लहौं तौ उँमगि ऊँमगि जस गाउँ।
नेह भरी नव-नागरी के रस भाइनि कौं दुलराऊँ॥

परिणामतः अपने इतिहास के प्रत्येक युग में इस साहित्य की वृद्धि होती रही है और अब भी हो रही है। इनमें अनेक रचनायें ऐसी हैं जिनका साहित्यिक दृष्टि से अधिक मूल्य नहीं है किन्तु साफ-सुथरी और रस-बहुल कृतियों की संख्या भी बहुत काफी है। पिछले दिनों इस साहित्य की जो

थोड़ी-सी खोज हुई है उससे पता चलता है कि अनेक कवियों की सम्पूर्ण रचनायें अप्राप्त हो गई हैं और अनेकों की कुछ रचनायें ही मिल रही हैं। ध्रुवदास जी ने अपनी 'भक्त नामावली' में वैष्णवदास, गोपालदास, खरगसेन, गंगाबाई और यमुनाबाई की वाणियों का उल्लेख किया है, किन्तु इनमें से एक की भी रचनायें प्राप्त नहीं हैं। ऐसे वाणीकारों की संख्या भी बहुत अधिक है जिनके कुछ पद ही प्राप्त होते हैं।

चार शताब्दियों में फैले हुए इस विशाल साहित्य का परिचय देने के लिये इसको चार काल–विभागों में बाँट लेना सुविधा जनक होगा। प्रत्येक विभाग में बीसियों वाणीकारों के नाम और उनके पद प्राप्त हैं किन्तु यहाँ कुछ का ही परिचय दिया जा रहा है। इस साहित्य का आरंभ संवत् १५९० के पूर्व मानना चाहिये। संवत् १५९१ में हितप्रभु के एक पद को सुनकर श्री हरिराम व्यास उनकी ओर आकृष्ट हुए थे, अतः प्रथम काल–विभाग को हम 'श्रीहित हरिवंश काल' कहेंगे, जो संवत् १५९० से १६५० तक माना जा सकता है। दूसरा काल-विभाग 'श्री ध्रुवदास काल' कहा जा सकता है। इसकी अवधि सं० १६५० से सं० १७७५ तक माननी चाहिये। यह इस साहित्य का सबसे अधिक समृद्ध काल है और श्री ध्रुवदास इस काल के सबसे बड़े कवि हैं। तीसरा विभाग 'श्रीहित रूप लाल काल' कहा जा सकता है। यह सं० १७७५ से सं १८७५ तक रहा था। चौथे एवं अंतिम विभाग को 'अर्वाचीन काल' कह सकते हैं।

श्रीहित हरिवंश काल–सं० १५६० से १६५० तक

यह वृन्दावन रस की स्थापना का काल है। श्री हित-हरिवंश इस रसरीति के स्थापक एवं इसके सबसे बड़े गायक हैं। इनके व्रजभाषा में केवल १०८ पद और ४ दोहे प्राप्त हैं। इनमें से ८४ पद 'हित चतुरासी' के नाम से प्रसिद्ध हैं और २४ पद एवं ४ दोहों के संग्रह को 'फुटकर वाणी' कहते हैं। अनुश्रुति के अनुसार 'हित चतुरासी' का संकलन हिताचार्य के अंतर्धान के बाद हुआ है। इस संकलन में लीला क्रम तो नहीं है किन्तु राग-रागनियों का क्रम प्रातःकाल से रात्रि पर्यन्त का मिलता है। 'हित चतुरासी' के पद १४ रागों में बँधे हुए हैं। इनमें ६ पद विभास में, ७ पद बिलावल में, ४ टोड़ी में, २ आसावरी में, ७ धनाश्री में, २ वसंत में, ७ देव गंधार में, १६ सारंग में, ४ मलार में, १ गौड़ में, ६ गौरी में, ६ कल्याण में, ६ कान्हरे में, ४ केदारे में हैं।

शृंगार रस के वर्णनों में भोग्य के रूप-माधुर्य का वर्णन अधिक चमत्कार पूर्ण किया जाता है। संस्कृत-साहित्य में स्त्री भोग्य रही है अतः उसमें शकुन्तला, पार्वती, दमयन्ती आदि अनेक सौंदर्य-प्रतिमायें देखने को मिलती हैं। श्री मद्भागवत में कृष्ण-कथा के अनुरोध से, पुरुष सौंदर्य का वर्णन अधिक लगन के साथ किया गया है। श्रीकृष्ण की एक से एक सुन्दर छवि-छटायें इस ग्रन्थ में बिखरी पड़ी हैं। भागवत के बाद श्रीकृष्ण की शृंगार लीला को गाने वाले जयदेव, विद्यापति, चंडीदास आदि कवीश्वरों ने श्रीकृष्ण-सौंदर्य के जो

नितांत मनोरम चित्र रचे हैं, वे भारतीय सौंदर्य-विधान के उज्ज्वल रत्न हैं । हिन्दी में सूरदास जी ने यही कार्य अत्यन्त निपुणता के साथ किया है । उनके हृदय के अगाध प्रेम में श्रीकृष्ण की बाल, पौगण्ड और किशोर छटायें समान रूप से प्रतिबिंबित हुई हैं । कृष्ण-सौन्दर्य के कदाचित वे सबसे बड़े कवि हैं । इन सभी कवियों के वर्णनों में श्रीकृष्ण-सौंदर्य स्त्री-सौंदर्य के बहुत निकट आगया है, फिर भी वह पुरुष-सौंदर्य है । सूरदास जी ने गोपियों और विशेषत: श्रीराधा के अत्यन्त सुन्दर चित्र खींचे हैं किन्तु गोपियों और श्रीराधा के साथ उनकी प्रीति श्रीकृष्ण के सम्बन्ध से है । उनका सीधा नाता श्रीकृष्ण के साथ ही है ।

श्रीहित हरिवंश द्वारा प्रचारित रस-रीति में श्रीकृष्ण भोक्ता हैं, श्रीराधा भोग्य हैं । अत: उनकी और उनके अनुयायिओं की रचनाओं में स्त्री-सौंदर्य की प्रधानता है । श्रीराधा के अद्भुत रूप-गुण के मनोरम वर्णन राधावल्लभीय साहित्य के प्रमुख आकर्षण हैं । श्रीकृष्ण के भी बड़े सुन्दर वर्णन श्रीहित जी की वाणी में मिलते हैं किन्तु वे हित जी को राधापति होने के कारण प्रिय हैं । सूरदास जी का एक पद है, जो 'देखौ माई सुन्दरता कौ सागर' से आरंभ होता है । 'हित चतुरासी' में एक पद मिलता है जो 'देखौ माई सुन्दरता की सींवा' से प्रारंभ होता है । दोनों पद उत्तम काव्य के नमूने हैं और दोनों में रचयिताओं का स्वाभाविक पक्षपात बड़े-सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है । सूरदास जी का पूरा पद है:—

देखो माई सुन्दरता को सागर ।
बुधि विवेक बल पार न पावत, मगन होत मन नागर ।।
तन अति श्याम अगाध अंबुनिधि कटि पट पीत तरंग ।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजत भँवर परत सब अंग ।।
नैन मीन मकराकृत कुंडल भुज बल सुभग भुजंग ।
मुकत माल मिलि मानों सुरसरि द्वै सरिता लिये संग ।।
मोर मुकुट मनि नग आभूषण कटि किंकिणि नख चंद ।
मनु अडोल वारिधि में बिंबित राका उडुगन वृंद ।।
बदन चंद मंडल की शोभा अवलोकनि सुख देत ।
जनु जल निधि मथि प्रगट कियौ ससि श्री अरु सुधा समेत ।।
देखि सरूप सकल गोपीजन रहीं विचारि-विचारि ।
तदपि सूर तरि सकीं न शोभा रहीं प्रेम पचि हारि ।।

'हित चतुरासी' का पद है:—

देखौ माई सुन्दरता की सींवा ।
ब्रज-नव-तरुणि-कदंब-नागरी निरखि करत अधग्रीवा ।।
जो कोउ कोटि कलप लगि जीवै रसना कोटिक पावै ।
तऊ रुचिर वदनारविंद की शोभा कहत न आवै ।।
देव-लोक भूलोक रसातल सुनि कवि कुल मति डरिये ।
सहज माधुरी अंग-अंग की कहि कासौं पटतरिये ।।
(जैश्री) हित हरिवंश प्रताप रूप गुण, वय,बल श्याम उजागर ।
जाकी भ्रू विलास बस पसुरिव दिन विथकित रस-सागर ।।
(हि० च० ५२)

इस राधा-पक्षपात के कारण हिताचार्य द्वारा स्थापित रस-रीति में एक अद्भुत स्वाभाविकता आगई है । श्रीहित हरिवंश

के पदों में नारीत्व अपने स्वाभाविक आस्वाद्य रूप में उपस्थित हुआ है। कृष्ण-कथा के जिस अनुरोध से श्री कृष्ण का भोग्य रूप भक्त-कवियों ने स्वीकार किया था वह, श्रीराधा के स्वरूप के विकास के साथ, बलहीन प्रतीत होने लगा। श्रीहित हरि-वंश की वाणी में श्रीराधा का भोग्य रूप संपूर्णतया स्थापित होगया और उसने एक नई रसरीति को जन्म दे दिया।

हिताचार्य श्रीराधा के नागरी रूप के प्रशंसक हैं, गायक हैं। उन्होंने अपने अनेक पदों में श्रीराधा का इसी रूप में स्मरण किया है तथा कई पदों में उनकी नागरता का विशद वर्णन किया है।

आजु नीकी बनी राधिका नागरी।
व्रज-जुवति-जूथ में रूप अरु चतुरई,शील,शृंगार, गुन सबनि तें आगरी॥

× × × ×

अति नागरि वृषभानु किशोरी।
सुनि दूतिका चपल मृग नैनी आकर्षत चितवत चित गोरी॥

× × × ×

नागरता की राशि किशोरी।
नव नागर कुल मौलि साँवरौ बरबस कियौ चितै मुख मोरी॥

× × × ×

यह नागरता, विचित्र प्रकार से, श्रीहित हरिवंश की वाणी का भी प्रमुख गुण बन गई है। उनके पदों में एक अद्भुत सुसंस्कारिता और रस-सिक्त आभिजात्य के दर्शन होते हैं। क्या शब्दों का चुनाव और क्या भावों का उपस्थापन,

सर्वत्र सुरुचि और दाक्षिण्य का प्रयोग मिलता है। अपने पदों की 'कोमल-कांत-पदावली' के कारण श्रीहित हरिवंश हिन्दी के जयदेव कहलाते हैं। कोमल-कांत-पदावली का आधार सुरुचि पूर्ण शब्द-चयन होता है। इन पदों की संस्कृत-बहुल भाषा में संस्कृत शब्दों का तो सुन्दर चयन किया ही गया है, लोक भाषा के भी उनही शब्दों का उपयोग हुआ है जो कोमलता एवं वज़न में संस्कृत शब्दों से किसी तरह कम नहीं हैं। उदाहरण के लिये, 'मधुरितु पिकशाव नूत-मंजरी चखी' इस वाक्य में लोक भाषा का एक ही शब्द 'चखी' प्रयुक्त है किन्तु वह संपूर्ण वाक्य के प्रभाव में महत्व पूर्ण योग दे रहा है। वाक्य के प्रथम पाँच संस्कृत शब्दों की योजना जितनी सुरुचि पूर्ण है, उतना ही इनके साथ 'चखी' शब्द का प्रयोग भी सुन्दर है। इसी प्रकार निम्नलिखित पक्तियों में 'बोलनि' और 'बिनु-मोलनि' शब्द इनके भूषण बने हुए हैं।

निर्तनि भ्रकुटि वदन अंबुज मृदु सरस हास मधु बोलनि।
अति आसक्त लाल अलि लंपट बस कीने बिनु मोलनि॥
(हि० च० पद ३४)

इन पदों का भाव-पक्ष संभोग शृंगार पर आश्रित है। संभोग शृंगार से सम्बन्धित भावों के वर्णन में सुरुचि और संयम नितांत आवश्यक होते हैं। इस शृंगार की सर्वाङ्गीण अभिव्यक्ति के लिये कवि को उन वर्णनों में प्रवृत्त होना पड़ता है जो 'खुले वर्णन' कहलाते हैं। श्रीहित हरिवंश के कई पदों में इस प्रकार के खुले वर्णन मिलते हैं किन्तु सुरुचि और सुसंस्कृ-

रिता की गहरी छाप सर्वत्र दिखलाई देती है । इस प्रकार के वर्णनों में उनकी भाषा अधिक ओजपूर्ण और शब्द-विन्यास अधिक गुंफित बन जाता है । संभोग शृंगार के इन वर्णनों को देखिये,

परिरंभन विपरित रति वितरित सरस सुरत निज केलि ।
इन्द्रनील मणिमय तरु मानौं लसत कनक की बेलि ॥

(हि० च० पद ३०)

सुरत नीवी-निवंध हेत प्रिय मानिनी,
प्रिया की भुजनि में कलह मोहन मची ।
सुभग श्रीफल उरज पानि परसत,
रोष हुंकार गर्व दृग-भंगि भामिनि लची ॥
कोक कोटिक रभसि रहसि हरिवंश हित,
विविध कल माधुरी किमपि नाहिन बची ।
प्रनय मय रसिक ललितादि लोचन चषक,
पिवत मकरंद सुख राशि अंतर सची ॥

(हि० च० ५०)

'हित चतुरासी' में सुरत का वर्णन करने वाले पद बहुत कम हैं, अधिक पदों में सुरतांत का वर्णन है। हिताचार्य को सुरतांत की स्थिति अधिक प्रिय है । सुरतांत में राधाकृष्ण के अंगों में अलस प्रेम का जो मादक सौन्दर्य फूट निकलता है, उसका वर्णन करते हुए वे नहीं अघाते । इनकी वाणी के सर्व प्रथम विवेचक सेवकजी ने श्रीहित हरिवंश की इस प्रवृत्ति का प्रशंसा-पूर्ण निर्देश अपनी वाणी में किया है,

सुरत-अंत छवि बरनि न जाई छिन-छिन प्रति हरिवंश जु गाई।
आज सँभारत नाहिन गोरी, अंग-अंग छवि कहौं सु थोरी ॥
नैन-बैन भूषन जिहिं भाँती, सो छवि मोपै बरनि न जाती।
प्रेम-प्रीति रसरीति बढ़ाई, श्रीहरिवंश वचन सुखदाई ॥
(सेवक वाणी-प्र०४-४)

श्रीहित हरिवंश ने इस छवि का वर्णन करने वाले अनेक स्वतन्त्र पद तो कहे ही हैं, झूला और फाग जैसे उत्सवों के पदों में लीला का प्रारंभ इस छवि के वर्णन से किया है।

झूलत दोऊ नवल किशोर।
रजनी-जनित रंग सुख सूचत अंग-अंग उठि भोर ॥

फाग के पद में भी राधामाधव की अलस छवि ही सामने आती है,

रसिक रास जहाँ खेलत श्यामा-श्याम किशोर।
उभै बाहु परिरंजित उठे उनीदे भोर ॥

× × × ×

दोउ करतारिनु पटकत-लटकत इत-उत जात।
हो-हो होरी बोलत अति आनँद कुलकात ॥
(हि० च० ६७)

सुरतांत वर्णन का एक स्वतन्त्र पद देखिये,

आजु सँभारत नाहिन गोरी।
फूली फिरत मत्त करनी ज्यौं सुरत समुद्र झकोरी ॥
आलस वलित अरुन धूसर मषि प्रगट करत दृग चोरी।
पिय पर करुन अमी रस बरसत अधर अरुनता थोरी ॥
बाँधत भृंग उरज अंबुज पर अलक निबंध किशोरी।

संगम किरचि-किरचि कंचुकि बँद सिथिल भई कटि-डोरी ।।
देत असीस निरखि जुवती जन जिनिकें प्रीति न थोरी ।
(जैश्री) हित हरिवंश विपिन-भूतल पर संतत अविचल जोरी ।।
(हित चतु० ७०)

सुरतांत सौन्दर्य का वर्णन अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने भी किया है किन्तु इस क्षेत्र में श्रीहित हरिवंश अप्रतिम हैं। सुरत का अधिक वर्णन न करके सुरतांत का वर्णन करना, उनकी नागर-रसिकता का ही द्योतक है ।

साहित्य समीक्षकों ने बतलाया है कि कवि को जो बात कहनी होती है, उसको वह साधारणतया दो रूपों में कहता है—प्रस्तुत रूप में और अलंकार रूप में । प्रस्तुत में वर्ण्य विषय का सीधा-सादा वर्णन किया जाता है, अलंकार रूप में वही वर्णन अलंकारों के योग से होता है। आलंकारिक रूप योजना प्रस्तुत के प्रभाव को बढ़ाने के लिये की जाती है। श्री हित हरिवंश ने अपने कई पदों में बड़ी सुन्दर आलंकारिक योजना की है और उनके इस प्रकार के पदों में 'व्रज नव तरुणि कदंब मुकट मणि श्यामा आजु बनी' से आरंभ होने वाला पद खूब प्रसिद्ध है। किन्तु उनके अधिकांश पदों में वर्ण्य विषय को प्रस्तुत रूप में ही उपस्थित किया गया है और अलंकारों के अभाव में भी वह अलंकृत प्रतीत होता है। सूरदास जी के रूप-वर्णन के पदों में अलंकारों की भरमार रहती है। वे जब श्रीकृष्ण, श्रीराधा या गोपियों का सौंदर्य-वर्णन करने लगते हैं तो उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपकों की बाढ़ आ

जाती है और सम्पूर्ण कवि-समय एवं पौराणिक उपमान इस कार्य में लगा दिये जाते हैं।

श्रीहित हरिवंश प्रस्तुत को ही इस प्रकार उपस्थित करते हैं कि उसका सम्पूर्ण सौन्दर्य निखरता चला आता है। इस कला में भक्त कवियों में से कोई उनकी समता नहीं करता। श्रीराधा के एक-से-एक सुन्दर रूप वर्णन उन्होंने अपने पदों में उपस्थित किये हैं किन्तु उनमें सादृश्य मूलक अलंकारों का उपयोग बहुत विरल है। एक पद देखिये,

रुचिर राजत वधू कानन किशोरी।
सरस सोडष कियें, तिलक मृग मद दियें,
मृगज लोचन, उवटि अंग, शिर खोरी ॥
गंड पंडीर मंडित, चिकुर चंद्रिका, मेदनी कवरि गूंथित सुरंग डोरी।
श्रवन ताटंक कैं चिबुक पर बिंदु दै, कसूंभी कंचुकी दुरे उरजफल कौरी ॥
वलय कंकन दोति, नखन जावक जोति, उदरगुन रेख, पट नील कटि थोरी।
सुभग जघन स्थली, कुनित किंकिनि भली, कोक संगीत रस सिंधु झकझोरी ॥
विविध लीला रचित, रहसि हरिवंश हित, रसिक सिरमौर राधारमन जोरी।
भृकुटि निर्जित मदन, मंद सस्मित वदन, किये रस विवस घनश्याम पिय गोरी ॥
(हि० च० ६७)

जिस प्रकार एक कुशल नाटककार किसी दृश्य के वर्णन में उसके विभिन्न अंगों का संयोजन इस प्रकार करता है कि वह अपनी सम्पूर्ण गरिमा लिये हुए दृष्टि के सामने खड़ा हो जाता है, उसी प्रकार श्रीहित हरिवंश के पदों में प्रस्तुत वस्तु का अंग-विन्यास बड़े कौशल के साथ किया

जाती है। उपरोक्त पद की 'वलय कंकन दोत, नखन जावक जोत, उदर गुन रेख, पट नील कटि थोरी' पंक्ति में 'कटि थोरी' के साथ नील पट के उल्लेख ने कटि और पट दोनों के के सौंदर्य को उभार दिया है। वास्तव में पट का सौंदर्य सूक्ष्म कटि पर आकर ही स्पष्ट होता है। इसी प्रकार 'सुभग जघन स्थली,कुनित किंकिनि भली' के साथ 'कोक संगीत रस सिन्धु झक झोरी' विशेषण के प्रयोग ने श्री राधा के संगीतमय एवं रसमय व्यक्तित्व में 'सुभग जघनस्थली' के महत्वपूर्ण योग-दान को रेखांकित कर दिया है।

यह देखा गया है कि प्रस्तुत रूप के वर्णनों के लिये विस्तृत वर्ण्य विषय उपयुक्त रहता है। संकीर्ण वस्तु के वर्णन में आलंकारिक शैली अधिक उपयोगी होती है। सूर-दास जी ने, इसीलिये, अपने पदों में इसको अपनाया है। श्रीहित हरिवंश का क्षेत्र सूरदास जी से भी अधिक संकीर्ण है, उनका विषय केवल निकुंज-लीला है। इस अत्यन्त छोटे क्षेत्र में निरन्तर नवीन रूप-विधान करना साधारण प्रतिभा का काम नहीं है। 'हित चतुरासी' में क्षेत्र-विस्तार की कमी को वस्तु के कौशल पूर्ण अंग-विन्यास एवं व्यंजना व्यापार के उपयोग द्वारा पूरा किया गया है। थोड़े से उपदे-शात्मक छन्दों को छोड़कर इन सम्पूर्ण पदों का वर्ण्य श्रीराधा का रूप-गुण-माधुर्य ही है। चाहे सुरत का वर्णन हो चाहे मान का, चाहे नित्य लीला का वर्णन हो चाहे नैमित्तिक का, सर्वत्र श्रीराधा का उत्कर्ष व्यंजित किया गया है। इस व्यंजना

में श्रीहित हरिवंश को सबसे बड़े सहायक श्रीराधा के सर्वस्व श्री श्यामसुन्दर हैं। वे रसिक शेखर हैं। परम प्रेमवती समस्त व्रज-सीमंतनियाँ उनके कृपा-कटाक्ष के लिये लालायित रहती हैं। किन्तु वे उनकी रसिकता की कसौटी पर पूरी नहीं उतरतीं। एक मात्र श्रीराधा ही, इन रसिक शेखर के हृदय को पूर्ण रूप से आप्यायित करती हैं। श्रीराधा के अद्भुत मोहक रूप ने इनको सदैव के लिये अपना मधुप बना लिया है।

श्रीराधा के सौंदर्य-वर्णन में, श्रीहित हरिवंश, इस सौंदर्य के अनन्य मधुप श्याम-सुंदर और उनके रसास्वाद का मार्मिक उल्लेख करते चलते हैं। मधुप के ऊपर उस सौंदर्य के प्रभाव का वर्णन करके या उस मधुप के आस्वाद की रीति का वर्णन करके वे श्रीराधा के रूप-गुण-माधुर्य की व्यंजना करते हैं। ऊपर उद्धृत पद में श्रीराधा के रूप-माधुर्य का सुन्दर वर्णन करने के बाद वे कहते हैं 'यह रसिक सिरमौर राधा रमण की जोड़ी हैं,—रसिक सिरमौर राधारमन जोरी'। रसिक-शेखर की जोड़ी होना सामान्य बात नहीं है। इस कथन से श्रीराधा के सौंदर्य के असाधारण आकर्षण की व्यंजना हो जाती है।

एक और छोटा-सा पद देखिये,

आजु नीकी बनी राधिका नागरी ।
व्रज जुवति जूथ में रूप अरु चतुरई, शील शृंगार गुन सबनि तें आगरी।
कमल दक्षिण भुजा वाम भुज अंस सखि गावती मिलिसरस मधुर सुर राग
सकल विद्या विदित रहसि हरिवंश हित मिलत नव कुंज वर श्याम बड़भाग

(हि० च० २५)

इसमें श्री राधा का सीधा-सा रूप-वर्णन है। रूप, चातुर्य, शील, शृंगार-गुणों में समस्त व्रज-युवतियों से 'आगरी' श्री-राधा आज शोभायमान हैं। उनके दक्षिण कर में कमल और उनकी वाम भुजा सखी के अंश पर स्थित है। वे समस्त विद्याओं में निपुण हैं और एकान्त नव कुंज में बड़-भाग श्याम से मिलती हैं। यहाँ, श्रीराधा से नव निकुंज में मिलने वाले श्याम को बड़भाग कह कर श्रीराधा के अद्भुत रूप-गुण की व्यंजना की गई है। इस जगह वाच्य सर्वथा अतिशयित हो गया है अतः यह उत्तम ध्वनि का उदाहरण है।

श्यामसुन्दर के ऊपर पड़ने वाले श्रीराधा के रूप-गुण-माधुर्य के अद्भुत प्रभाव के बड़े मार्मिक रूप उन्होंने अपने पदों में प्रदर्शित किये हैं। मानिनि श्रीराधा, सखी के मुख से, अपने प्रियतम की दारुण विरह कातरता का वर्णन सुनकर चपलता पूर्वक उनके पास चल देती हैं। सखी आगे जाकर उनके आगमन की सूचना श्यामसुन्दर को देती है और वे प्रेम क्षेत्र के धीर सूरमा इस समाचार को सुनकर एक वार भयभीत हो उठते हैं,

(जयश्री) हित हरिवंश परम कोमल चित चपल चली पिय तोर।
सुनि भयभीत वज्र कौ पंजर सुरत-सूर रनधीर॥
(हि० च० ३७)

श्यामसुन्दर के हृदय में भय का संचार दिखाकर यहाँ श्रीराधा के उन्मद-प्रेम की व्यंजना की गई है।

कहीं श्रीहित हरिवंश, श्यामसुन्दर के आस्वाद की रीति

का चित्रमय वर्णन करके श्रीराधा के अद्भुत अंग-सौंदर्य की व्यंजना कर देते हैं।

यह पद देखिये,

नागरता की राशि किशोरी।
नव नागर कुल मौलि साँवरौ बरबस कियौ चितै मुख मोरी॥
रूप रुचिर अंग अंग माधुरी बिनु भूषनि भूषित व्रज गोरी।
छिन-छिन कुशल सुधंग अंग में कोक रभस रस-सिंधु झकोरी।
चंचल रसिक मधुप मोहन मन राखे कनक कमल कुचकोरी।
प्रीतम नैन जुगल खंजन खग बाँधे विविध निबंधन डोरी॥
अवनी उदर नाभि सरसी में मनहुँ कछुक मादक मधु घोरी।
(जै श्री) हित हरिवंश पिवत सुन्दर वर सींव सुदृढ़ निगमन की तोरी॥
(हित० च० ८२)

श्रीराधा नागरता की राशि हैं। उनकी एक लीला युक्त चितवन नें 'नव नागर कुल मौलि' साँवरे को विवश बना दिया है। उनके अंग-अंग में माधुर्य भर रहा है और वे विना भूषण के भूषित व्रज-गोरी हैं। वे क्षण-क्षण में सुधंग नृत्य के विविध अंगों को कुशलता पूर्वक प्रगट करती रहती हैं और वेगवान श्रृंगार-रस-सिंधु में वे झकझोरी हुई हैं। उन्होंने मोहन के चंचल और रसिक मन-मधुप को अपने कनक कमल के समान कुचों की कोर पर रमा रखा है। उनके विविध अंगों ने उनके प्रियतम के 'खंजन खग' के समान युगल नेत्रों को विविध निबंधन डोरियों से बाँध रखा है।

'चंचल रसिक मधुप मोहन मन राखे कनक कमल कुच कोरी' पंक्ति में मोहन के मन को कुच-कोर पर रमने वाला

'चंचल रसिक मधुप' कह कर कुच-कोर के विस्तार को लक्षित कराया गया है। इसके नीचे की पंक्ति में श्यामसुन्दर के नेत्र खंजनों को विविध बंधनों से बँधा बतलाकर श्रीराधा के अंगों के समान आकर्षण को व्यंजित किया गया है।

'हित चतुरासी' में सादृश्य-मूलक अलंकारों का उपयोग भी देखने योग्य है। श्रीहित हरिवंश ने इनका प्रयोग विरल किया है किन्तु वह है बड़ा स्वाभाविक एवं चमत्कार पूर्ण। कुछ उदाहरण देखिये,

नित्य रस पहिर पट नील प्रगटित छबी,
वदन जनु जलद में मकर की चाँदनी ।

(हि० च० ७१)

यहाँ रास में प्रवृत्त श्रीराधा की मुख-छवि का वर्णन है। नृत्य के समय नीलपट के अवगुण्ठन में श्रीराधा का मुख ऐसा मालुम होता है मानों जलद में माघ मास की चाँदनी हो! मकर की चाँदनी शरद्-चंद्रिका की भाँति ही उज्ज्वल होती है, भेद इतना है कि उस समय में वसंत-कालीन मेघ चलते रहते हैं और चाँदनी स्वाभावतः इनमें से छनकर आती है। नृत्य की गति के कारण चंचल बने हुए अवगुण्ठन में श्रीराधा की मुख-छटा की उत्प्रेक्षा इससे अधिक सुन्दर क्या हो सकती है? दूसरा उदाहरण देखिये,

कोमल कुटिल अलक सुठि शोभित अवलंबित युग गंडन ।
मानहुँ मधुप थकित रस लंपट नील कमल के खंडन ॥

(हि० च० ६१)

यहाँ श्यामसुन्दर के श्याम कपोलों पर अवलंबित अलक

की समता नील कमल के खंडों पर थकित रस-लंपट मधुप-अवली के साथ दी गई है। इन सुन्दर पंक्तियों में मधुप के साथ 'थकित रस लंपट' विशेषण का प्रयोग कपोलों पर पड़ी हुई अलक की 'शिथिलता' को लक्षित करा देता है। इसी प्रकार श्याम कपोलों का नील कमल के खंडों (समूहों) के साथ सादृश्य उनकी मेदुरता को लक्षित करता है।

हिताचार्य ने अपने पदों में रूपक भी बड़े सुन्दर रखे हैं। राधाकृष्ण के लिये उनको सबसे अधिक प्रिय रूपक हंस-हंसिनी का है और इसका प्रयोग उन्होंने कई पदों में किया है:—

हित हरिवंश हंस-हंसिनी साँवल गौर
कहौ कौन करै जल तरंगनि न्यारे।

(पद—१)

लाड़िली किशोर राज, हंस-हंसिनी समाज,
सींचत हरिवंश नैन सुरस सार री।

(पद—७६)

हित हरिवंश हंस-हंसिनी समाज,
ऐसे ही करौ मिलि जुग-जुग राज॥

(पद—२७)

तुम जु कंचन तनी, लालमर्कत मनी,
उभै कल हंस हरिवंश वलि दासु री।

(पद—२६)

राधाकृष्ण शृंगार की मूर्ति हैं। शृंगार स्वभावतः उज्ज्वल होता है। युगल में उज्ज्वलता की पराकाष्ठा है। हंस-हंसनी का रूपक राधाकृष्ण की उज्ज्वलता की बड़ी

सुन्दर अभिव्यक्ति करता है। साथ ही श्रृंगार रस की 'शुचिता' और 'दर्शनीयता' भी इसके द्वारा व्यक्त हो जाती है।

इसी प्रकार राधाकृष्ण की प्रेम मत्तता व्यक्त करने के लिये श्री हितजी ने उनको कई पदों में 'जुगल करिनी गज' के रूपक से मंडित किया है।

'हित हरिवंश' जुगल करिनी-गज विहरत पिय बन-प्यारी'
(हि० च० ४५)

हृदय अति फूल समतूल पिय-नागरी,
करिनि-करि मत्त मनौं विविध गुन रागिनी।
(पद–४६)

'हित चतुरासी' में प्रतीप अलंकार के कई सुन्दर उदाहरण हैं जिनमें उपमेय की तुलना में उपमान की निष्फलता प्रदर्शित की गई है। एक उदाहरण देखिये,

सकल सुधंग विलास परावधि नाचत नवल मिले स्वर गावत।
मृगज,मयूर,मराल,भ्रमर,पिक अद्भुत कोटि मदन शिर नावत॥
(पद–७२)

यहाँ युगल के नेत्रों को देखकर मृगज, नृत्य को देखकर मयूर, गति को देखकर मराल, उनके गान को सुनकर भ्रमर और पिक एवं उनकी उस समय की छवि को देखकर, 'अद्भुत-कोटि मदन' नत-शिर हो रहे हैं।

श्रीहित हरिवंश ने अपने पदों में प्रकृति-प्रसिद्ध उपमानों का ही उपयोग किया है। उनकी रचनाओं में कहीं भी 'भानु मनौ शनि अंक लिये' ऐसी उत्प्रेक्षा दिखलाई नहीं देतीं और न कहीं पौराणिक उपमानों का उपयोग मिलता है।

सूरदास जी ने उक्त दोनों प्रकार के उपमान ग्रहण किये हैं जिनके उदाहरण इस प्रकार के हैं,

(क) नील स्वेत पर पीत लाल मणि लटकन माल रुराई ।
सनि, गुरु, असुर, देव-गुरु, मिलि मनौं भौम सहित समुदाई ।।
(ख) हरि कर राजत माखन रोटी ।
मनौ वराह भूधर सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी ।।

'हित चतुरासी' के एक पद में उपमेय को लुप्त रख कर केवल उपमानों का उल्लेख किया गया है। इसमें भी प्रसिद्ध उपमान ही रखे गये हैं और पद को 'कूट' नहीं बनने दिया है।

दान दैरी नवल किशोरी ।
माँगत लाल लाड़िलौ नागर प्रगट भई दिन-दिन की चोरी ।।
नव नारंग कनक हीरावलि विद्रुम सरस जलज मनि गोरी ।
पूरित रस पीयूष जुगल घट कमल कदलि खंजन की जोरी ।।
तो पै सकल सौंज दामनि की कत सतरात कुटिल दृग भोरी ।
नूपुर रव किंकिनी पिसुन घर (जैश्री) हित हरिवंश कहत नहिं थोरी ।।
(हि० च० ५१)

कुछ छंदों को छोड़कर श्रीहित हरिवंश को सम्पूर्ण रचना गेय-काव्य है। गीतों में अनुप्रासों की छटा से युक्त भाषा बहुत उपयुक्त रहती है। अनुप्रासों के विदग्ध उपयोग से शब्द-संगीत की सृष्टि होती है और पदों की गेयता उभर आती है। जयदेव ने भी अनुप्रासों का चमत्कारपूर्ण उपयोग किया है। उन्होंने अपने कई गीतों में प्रत्येक चरण की पहिली दो यतियों पर अनुप्रास डाले हैं। जैसे,

घन चय रुचिरे, रचयति चिकुरे, तरलित तरुणानने।
कुरबक कुसुमं, चपला सुषमं, रतिपति मृग कानने॥
(गी० गो० सप्तम सर्ग)

पतति पतत्रे, विचलित पत्रे, शंकित भवदुपयानम्।
रचयति शयनं, सचकित नयनं, पश्यति तव पंथानम्॥
(गी० गो० पंचम सर्ग)

इस प्रकार की अनुप्रास योजना श्रीहित हरिवंश को भी प्रिय है और उनके अनेक पदों में देखने को मिलती है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित पद देखिये,

मंजुल कल कुंज देश, राधा हरि विशद वेष,
राका नभ कुमुद बंधु शरद जामिनी।
साँवल दुति कनक अङ्ग, विहरत मिलि एक सङ्ग,
नीरद मणि नील मध्य लसत दामिनी॥
(हि० च० ११)

मोहनी मोहन रंगे, प्रेम सुरंगे, मत्त मुदित कल नाचत सुधंगे।
सकल कला प्रवीन, कल्यान रागिनी लीन, कहत न बनैं माधुरी अङ्ग अंगे॥
(हि० च० ६६)

श्रीहिताचार्य संस्कृत में भी बड़ी सरस रचना करते थे। उनका राधा-सुधा-निधि स्तोत्र अपनी स्निग्धता एवं रचना-सौष्ठव के लिये प्रसिद्ध है। अपने व्रज-भाषा के पदों में भो उन्होंने संस्कृत के अत्यन्त कोमल तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से किया है। कहीं-कहीं तो संस्कृत-व्याकरण से निष्पन्न रूप ज्यौं-के-त्यौं रखे हैं,

सकृदपि मयि अधरामृत मुपनय सुंदरि सहज सनेह ।
तव पद पंकज कौ निजु मन्दिर पालय सखि मम देह ।।
(हि० च० ६६)

जपत हरि बिबस तव नाम प्रतिपद विमल,
मनसि तव ध्यान तैं निमिष नहिं टरिबौ ।
(हिं० च० ८३)

इन पदों में व्रज भाषा का अत्यन्त परिमार्जित और वैभव-शाली रूप दिखलाई देता है । भाषा की यह समृद्धि बहुत दिनों से चली आती हुई किसी अज्ञात परंपरा का चरम परिपाक हो सकती है । यह भी संभव है कि रचयिता के राग की तीव्रता ने उनकी भाषा को वह सौष्ठव और प्रवाह प्रदान किया है जो उनके पूर्व नहीं मिलता ।

श्रीहित हरिवंश भक्ति-काव्य-गगन के परमोज्ज्वल नक्षत्र हैं । उन्होंने केवल शृंगार-रस का गान किया है और उनके बहुत थोड़े पद मिलते हैं । इन कारणों को लेकर उनको वह ख्याति प्राप्त नहीं है जो सूरदासजी को है किन्तु श्रीपरशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में यह सत्य है कि 'सूरदास के चुने हुए पदों में यदि हरिवंश जी के पद यत्र-तत्र सम्मिलित कर दिये जाँय तो निश्चय है कि इनकी गणना उनमें से सर्वश्रेष्ठ में होने लगेगी । सूरदास की रचनाओं में विषय की दृष्टि से वर्णनों का अधिक विस्तार है । फिर भी शृंगारिक भाव-चित्रण में इनसे अधिक सफलता नहीं है ।'

(मध्य कालीन प्रेम साधना पृ० १२६)

वास्तव में, सूरसागर में हित चतुरासी के जो पद सम्मिलित कर दिये गये हैं, वे उसके सर्वश्रेष्ठ रत्नों में से हैं। नीचे श्रीहिताचार्य के कुछ छंद उद्धृत किये जाते हैं,

ना जानौं छिन अंत कवन बुधि घटहि प्रकाशित।
छुटि चेतन जु अचेत तेउ मुनि भये विसवासित॥
पारासर सुर इन्द्र कलप कामिनि मन फंद्या।
परिव देह दुख द्वन्द कौंन क्रम काल निकंद्या॥
इहि डरहि डरपि हरिवंश हित जिनव भ्रमहि गुण सलिल पर।
जिहिं नामनि मंगल लोक तिहुँ सु हरि पद भजु न विलम्ब कर॥

मैं जु मोहन सुन्यौ वेणु गोपाल कौ।
व्योम मुनियान सुर नारि विथकित भईं,
कहत नहिं बनत कछु भेद यति-ताल कौ॥
श्रवण कुण्डल छुरित रुरत कुंतल ललित,
रुचिर कस्तूरि चंदन तिलक भाल कौ।
चंद गति मन्द भई निरखि छवि काम गई,
देखि हरिवंश हित-वेष नँदलाल कौ॥

दोऊ जन भींजत अटके बातन।
सघन कुंज के द्वारे ठाड़े अम्बर लपटे गातन॥
ललिता ललित रूप रस भींजी बूँद बचावत पातन।
(जय श्री) हित हरिवंश परस्पर प्रीतम मिलवत रति रस घातन॥

चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुख निधान,
रास रच्यौ स्याम तट कलिंद नंदिनी।
निर्तत युवती समूह राग-रङ्ग अति कुतूह,

बाजत रस-मूल मुरलिका अनंदिनी ॥
वंशीवट निकट जहाँ परम रमनि भूमि तहाँ,
सकल सुखद मलय बहै वायु मंदिनी ।
जाती ईषद विकास कानन अतिशय सुवास,
राका निसि शरद मास विमल चन्दिनी ॥
नर वाहन प्रभु निहार लोचन भरि घोष नारि,
नख सिख सौंदर्य काम दुख निकंदनी ।
बिलसहिं भुज ग्रीव मेलि भामिनि सुख सिंधु झेलि,
नव निकुंज श्याम केलि जगत वंदिनी * ॥

देखौ माई अवला के बल रास ।
अति गज मत्त निरंकुश मोहन निरखि बँधे लट पाश ॥
अबही पंगु भई मन की गति बिनु उद्यम अनियास ।
तब को कहा कहौं जब पिय प्रति चाहति भ्रुकुटि विलास ॥
कच संजमन व्याज भुज दरसति मुसकनि बदन विकास ।
हा हरिवंश अनीति रीति हित कत डारत तन त्रास ॥
नंद के लाल हरचौ मन मोर ।
हौं अपनें मोतिन लर पोवति काँकरि डारि गयौ सखि भोर ॥
वंक विलोकनि चाल छबीली रसिक शिरोमणि नंद किशोर ।
कहि कैसे मन रहत श्रवण सुनि सरस मधुर मुरली की घोर ॥
इन्दु गोविन्द वदन के कारण चितवन कौं भये नैन चकोर ।
(जै श्री:) हित हरिवंश रसिक रस जुवती
तू लै मिलि सखि प्राण अकोर × ॥

---

* यह पद कुंभनदास जी के नाम से प्रचलित है ।
× यह पद सूरदास जी के नाम से प्रचलित है ।

सुनि मेरौ बचन छबीली राधा—तैं पायो रस-सिंधु अगाधा।
तू वृषभानु गोप की बेटी—मोहन लाल रसिक हँसि भेटी॥
जाहि विरंचि उमापति नाये—तापै तैं बन-फूल बिनाये।
जो रस नेति-नेतिश्रुति भाख्यौ—ताकौं तैं अधर-सुधा-रस चाख्यौ॥
तेरौ रूप कहत नहिं आवै—(जै श्री) हित हरिवंश कछुक जस गावै॥

आजु नागरी किशोर भाँवती विचित्र जोर,
कहा कहौं अंग-अंग परम माधुरी।
करत केलि कंठ मेलि बाहु दंड गंड-गंड,
परस सरस रास-लास मंडली जुरी॥
श्याम-सुन्दरी विहार बाँसुरी मृदंग तार,
मधुर घोष नूपुरादि किंकिनी चुरी।
(जै श्री) देखत हरिवंश आलि निर्तनी सुधंग चालि,
वारि फेर देत प्राण देह सौं दुरी॥

झूलत दोऊ नवल किशोर।
रजनी जनित रंग सुख सूचत अंग अंग उठि भोर॥
अति अनुराग भरे मिलि गावत सुर मंदर कल घोर।
बीच-बीच प्रीतम चित चोरत प्रिया नैन की कोर॥
अबला अति सुकुमारि डरत मन वर हिंडोर झकोर।
पुलकि-पुलकि प्रीतम उर लागत दैनव उरज अकोर॥
अरुझी विमल माल कंकन सौं कुंडल सौं कच-डोर।
वेपथ जुत क्यौं बनै विवेचित आनंद बढ़्यौ न थोर॥
निरखि-निरखि फूलति ललितादिक विवि मुख चन्द्र-चकोर।
दै असीस हरिवंश प्रशंसित करि अंचल की छोर॥

नागरता की राशि किशोरी।
नव नागर कुल मौलि साँवरी बरबस कियौ चितै मुख मोरी॥
रूप रुचिर अंग-अंग माधुरी बिनु भूषण भूषित व्रज गोरी।

छिन-छिन कुशल सुधंग अंग में कोक रभसि रस-सिंधु झकोरी ॥
चंचल रसिक मधुप मोहन मन राखे कनक कमल कुच-कोरी ।
प्रीतम नैन जुगल खंजन खग बाँधे विविध निबंधन डोरी ॥
अवनी उदर नाभि सरसी में मनौं कछुक मादक मधु घोरी ।
(जै श्री)हित हरिवंश पिवत सुन्दर वर सींव सुदृढ़ निगमनि की तोरी * ।

वृषभानु नंदिनी मधुर कल गावै ।
विकट औघर तान चर्चरी ताल सौं,
नंद-नंदन मनसि मोद उपजावै ॥
प्रथम मज्जन चारु चीर कज्जल तिलक,
श्रवण कुंडल वदन चंद्रनि लजावै ।
सुभग नक बेसरी रतन हाटक जरी,
अधर बंधूक दसन कुंद चमकावै ॥
वलय कंकन चारु उरसि राजत हारु,
कटिव किंकिनी चरण नूपुर बजावै ।
हंस कल गामिनी मथत मद कामिनी,
नखनि मदयंतिका रंग रुचि द्यावै ॥
निर्त सागर रभसि रहसि नागरि नवल,
चन्द्र चाली विविध भेदनि जनावै ।
कोक विद्या विदित भाइ अभिनय निपुन,
भ्रू विलासनि मकर-केतनि नचावै ॥
निविड़ कानन भवन बाहु रंजित रवन,
सरस आलाप सुख-पुंज बरसावै ।
उभय संगम सिंधु सुरत पूषण बंधु,
द्रवत मकरंद हरिवंश अलि पावै ॥

---

* यह पद सूरदास जी के नाम से प्रचलित है ।

आज अति राजत दंपति भोर ।
सुरत रंग के रस में भीने नागरि नवल किशोर ॥
अंसनि पर भुज दिये विलोकत इंदु-वदन विवि ओर ।
करत पान रस-मत्त परस्पर लोचन तृषित चकोर ॥
छूटी लटनि लाल मन करष्यौ ये याके चित चोर ।
परिरंभन चुम्बन मिलि गावत सुर मंदर कल घोर ।
पग डगमगत चलत बन विहरत रुचिर कुंज घन खोर ।
(जै श्री, हित हरिवंश लाल-ललना मिलि हियौ सिरावत मोर ॥

बन की कुंजन कुंजनि डोलनि ।
निकसत निपट साँकरी वीथिनि परसत नाहि निचोलनि ॥
प्रातकाल रजनी सब जागे सूचत सुख दृग लोलनि ।
आलसवंत अरुण अति व्याकुल कछु उपजति गति गोलनि ।
निर्तनि भृकुटि वदन अंवुज मृदु सरस हास मधु बोलनि ॥
अति आसक्त लाल अलि-लंपट बस कीने बिनु मोलनि ॥
विलुलित सिथिल स्याम छूटी लट राजत रुचिर कपोलनि ।
रति विपरित चुम्बन परिरम्भन चिबुक चारु टक टोलनि ॥
कवहुँ श्रमित किसलय सिज्या पर मुख अंचल झकझोलनि ।
दिन हरिवंश दासि हिय सींचत वारिधि-केलि-कलोलनि ॥

आज बन क्रीड़त श्यामा श्याम ।
सुभग बनी निशि शरद चाँदनी रुचिर कुंज अभिराम ॥
खण्डन अधर करत परिरंभन ऐंचत जघन दुकूल ।
उर नख पात तिरीछी चितवनि दंपति रस समतूल ॥
वे भुज पीन पयोधर परसत वामदृशा पिय हार ।
वसननि पीक अलक आकर्षत समर श्रमित सत मार ॥
पल पल प्रवल चौंप रस-लंपट अति सुन्दर सुकुमार ।
(जै श्री) हित हरिवंश आज तृण टूटत हौं बलि विशद विहार ॥

सुन्दर पुलिन सुभग सुखदायक।
नव-नव घन अनुराग परस्पर खेलत कुँवर नागरी-नायक ॥
शीतल हंस सुता रस-वीचिनि परस पवन सीकर मृदु बरसत।
वर मन्दार कमल चंपक कुल सौरभ सरस मिथुन मन हरसत ॥
सकल सुघंग विलास परावधि नाचत नवल मिले सुर गावत।
मृगज, मयूर, मराल, भ्रमर, कपि अद्भुत कोटि मदन शिर नावत ॥
निर्मित कुसुम सैन मधु पूरित भाजन-कनक निकुंज विराजत।
रजनी-मुख सुख-रासि परस्पर सुरत समर दोऊ दल साजत ॥
विट-कुल-नृपति किशोरी कर धृत बुधि-बल नीवी-बंधन मोचत।
नेति-नेति वचनामृत बोलत प्रणय-कोप प्रीतम नहिं सोचत ॥
(जैं श्री) हित हरिवंश रसिक ललितादिक-
लता-भवन-रंध्रनि अविलोकत ॥
अनुपम सुख-भर भरित विवस असु-
आनँद वारि कंठ दृग रोकत ॥

चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर।
तो बिनु कुंवर कोटि बनिता जुत मथत मदन की पीर ॥
गदगद सुर, विरहाकुल, पुलकित, श्रवत विलोचन नीर।
क्वासि-क्वासि वृषभानु नंदिनी विलपत विपिन अधीर ॥
बंशी विसिख, व्याल मालावलि, पंचानन पिक कीर।
मलयज गरल हुतासन मारुत शाखामृग-रिपु चीर ॥
(जैं श्री) हित हरिवंश परम कोमल चित चपल चली पिय तीर।
सुनि भय भीत वज्र कौ पंजर सुरत सूर रणवीर * ॥
प्रीति न काहु की कानि विचारै।
मारग अप मारग विथकित मन को अनुसरत निवारै ॥

---

* यह पद सूरदास जी के नाम से प्रचलित है।

ज्यौं सरिता साँवन जल उँमगत सनमुख सिंधु सिधारैं ।
ज्यौं नादहिं मन दिये कुरगनि प्रगट पारधी मारै ।।
(जै श्री) हित हरिवंश हिलग सारँग ज्यौं सलभ शरीरहिं जारैं ।
नाइक निपुन नवल मोहन बिनु कौन अपनपौ हारैं ।।

श्रीहित हरिवंश की दो 'पत्रियाँ' भी प्राप्त हैं जो उन्होंने अपने शिष्यों के नाम लिखी हैं । यह दोनों सोलहवीं शती के अंतिम दशक में या सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में लिखी गईं थीं ।

प्रथम पत्री ।

श्री सकल गुण सम्पन्न, रस रीति बढ़ावन, चिरंजीव, मेरे प्राणन के प्राण वीठलदास जोग्य लिखितं श्रीवृन्दावन रजोप सेवी श्री हरिवंश जोरी-सुमिरन वंचनो । जोरी-सुमिरन मत्त रहौ । जोरी जोहैं सुख बरसत हैं । तुम कुशल स्वरूप हौ । तिहारे हस्ताक्षर बारम्बार आवत हैं । सुख अमृत स्वरूप हैं । पत्री बाँचत आनंद उमड़ि चलै है । मेरो बुद्धि कौं इतनी शक्ति नहीं जो कहि सकौं, पर तोहि जानत हौं । श्रीस्वामिनी जू तुम पर बहुत प्रसन्न हैं । हम कहा आशीर्वाद देंय, हम यही आशीर्वाद देत हैं कि तिहारौ आयुष बढ़ौ और तिहारी सकल सम्पत्ति बढ़ौ । तिहारे मन कौ मनोरथ पूर्ण होहु, हम नेत्रनि सुख देखौं, हमारी भेट यही है । यहाँ की काहू बात की चिन्ता मत करौ, तेरी पहिंचाँन तें मोकूँ श्रीश्यामा जू बहुत सुख देत हैं । तुम लिखी जो दिन दश में आवैंगे, सोई आशा प्राण रहैं हैं । श्री श्यामा जू बेगि लै आवैं । चिरंजीव कृष्णदास कौं

जोरी प्रसन्न हैं। श्याम-वंदिनी विहार चंदन लेंनौं। गोविन्ददास, संतदास की दंडौत, गाँगू मैदा कौ कृष्ण-सुमिरन बाँचनौं, कृष्णदास मोहनदास कौ कृष्ण-सुमिरन, रंगा की दंडौत, बनमाली धर्मशाला कौ कृष्ण-सुमिरन बाँचनौ।

द्वितीय पत्री।

श्री वृषभानु नंदिनी जयति। जोग्य लिखितं श्रीहरिवंश बीठलदास के कोटि-कोटि अपराध मैं खेबी, आगले पाछिले। बीठलदास मेरे प्राण हैं। जो शास्त्र-मर्यादा सत्य है और गुरु महिमा ऐसे ही सत्य है तो व्रज-नव-तरुणि-कदम्ब-चूड़ामणि श्रीराधे तिहारे स्थापे गुरु-मार्ग विषै अविश्वास अज्ञानी कौं होत है, तातें यह मर्यादा राखनौं। तुम दोऊ सुफल आनंद बरसौ। बीठलदास कौं अही सींचनौं।

श्रीहरिराम व्यास

(सं० १५४९- १६५५)

श्रीहित हरिवंश-काल के दूसरे कवि श्रीहरिराम व्यास हैं। यह निर्विवाद रूप से श्रीहिताचार्य के शिष्य थे और उनके द्वारा स्थापित वृन्दावन रस-रीति को पल्लवित करने में उनके प्रधान सहयोगी थे। 'रसिक-अनन्यमाल' में व्यासजी का विशद चरित्र दिया हुआ है। यहाँ उस का गद्य रूपान्तर दिया जाता है।

चरित्रः—'सब सुखों की राशि श्री चैतन्य के चरणों में प्रणाम करके मैं उल्लास पूर्वक व्यास-चरित गाना चाहता हूँ। मैं श्रीहित हरिवंश के चरणों में शिर नवाता हूँ और इसी बल से व्यास की कथा का गान करता हूँ। व्यासजी के पिता सुकल सुमोखन राजा और प्रजा द्वारा सम्मानित थे। व्यास जी पंडित और गुणवान थे। उनका मन गुरु करने को उत्सुक रहता था किन्तु वे गुरु ऐसा चाहते थे जो उनको भव-सागर से पार उतार दे। उनका मन कभी रैदास की ओर, कभी कबीर की ओर और कभी पीपा की ओर खिंचता था, कभी वे जय-देव का गान करते थे। इसी प्रकार, कभी उनको नामदेव का स्मरण आता था, कभी रंका-बंका का और कभी रामानंद गुसाँई का। कभी उनका मन वृन्दावन के रसिक भक्तों की ओर खिंचता था।

इस झमेले में कोई बात स्थिर न हो सकी और उनकी बयालीस वर्ष आयु व्यतीत हो गई। एक दिन नवलदास वैरागी

उनके घर आये और उनसे मिलकर व्यासजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। व्यासजी ने उनको अपने पास रख लिया। नवलदास ने एक दिन सहज रूप से हित जी का एक पद गाया जो 'आज अति राजत दंपति भोर' से आरंभ होता है और जिसका अंतिम चरण इस प्रकार है, '(जय श्री) हित हरिवंश लाल ललना मिलि हियौ सिरावत मोर'। व्यासजी का रोम-रोम तन्मय हो गया। नवलदास जी ने पद-कर्त्ता का परिचय देते हुए बताया 'जिनके हृदय को 'जोरी' (युगल) शीतल करते हैं, उन श्रीहित हरिवंश ने विधि-निषेध की सुदृढ़ शृंखला को तोड़ दिया है। वे शुद्ध-भक्ति के बल से योग, यज्ञ, जप, तप, व्रतादिक को तुच्छ मानते हैं'। इस अद्भुत रीति को सुनकर व्यासजी के हृदय में हित-गुरु के प्रति प्रीति उत्पन्न हो गई।

ऐसी सुनी नवल मुखरीति—व्यास करी हितगुरु सौं प्रीति।

नवलदास जी ने हितजी के इष्ट श्रीराधावल्लभ बताये और व्यासजी को 'नित्य-विहार' का रहस्य समझाया। उन्होंने व्यासजी से कहा 'तुम वृन्दावन चल कर परम सुख की प्राप्ति करो और श्रीहरिवंश को अपना गुरु बनालो'।

नवलदास को संग लेकर व्यासजी कार्तिकारंभ में वृन्दावन आये। हित जू उनको मंदिर में मिले और व्यासजी के नेत्र उनका दर्शन करके शीतल हो गये। गुसाँई जी उस समय ठाकुर जी के लिये पाक कर रहे थे। व्यासजी की इच्छा उनसे उसी समय चर्चा करने की थी। हितप्रभु ने यह देखकर चूल्हे पर से 'टोकनी' उतार कर नीचे धर दी और अग्नि को

बुझा दिया। व्यासजी बोले "आप रसोई और चर्चा एक साथ कर सकते थे। करना-धरना हाथ का धर्म है और कहना-सुनना मुख और कान का कार्य है"। हितप्रभु ने उसी समय व्यासजी को एक पद सुनाया और उनके सम्पूर्ण संदेहों को नष्ट कर दिया। उस पद की प्रथम पंक्ति है,

"यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौनें सचुपायौ'।

(हित० च० ५९)

इस पद में हितजी ने बताया कि यह काल-ग्रसित प्रपंच नाशवान है और प्रभु के भक्त ही नित्य हैं। व्यासजी ने इस पद को सुनकर हितप्रभु के चरण पकड़ लिये और उनसे दीक्षा देने की प्रार्थना की,

शिक्षा दै कैं दिक्षा दीजै—अब तौ मोहि आपुनौं कीजै।

हितजी ने उनकी श्रद्धा देखकर उनको श्रीराधा से प्राप्त मंत्र (निजमंत्र) सुना दिया,

श्रद्धा लखि निज मंत्र सुनायौ,
भयौ व्यास के मन कौ भायौ।

व्यासजी विवाद करने के लिये जो पोथियाँ लाये थे वे उन्होंने यमुना में फैंक दीं और नित्य-विहार की रस-रीति से उपासना करने लगे। उन्होंने युगल किशोर ठाकुर प्रगट किये और श्रीराधा की गादी स्थापित करके हित-पद्धति से सेवा पूजा प्रारंभ कर दी।

एक दिन व्यासजी रासलीला देख रहे थे। सहसा श्रीराधा के पैर का नूपुर खुल गया। व्यासजी ने अपने यज्ञोपवीत को

तोड़ कर नूपुर बाँध दिया और रासलीला के आनंद को भंग न होने दिया ।

व्यासजी, इस रीति से, वृन्दावन में बहुत वर्षों तक रहे। उनको जिनकी कृपा से यह भजन-संपत्ति मिली उन हित महाप्रभु की स्तुति उन्होंने इस पद में की है,

नमो नमो जय श्री हरिवंश ।
रसिक अनन्य वेणु-कुल-मंडन लीला मान सरोवर हंस ।। इत्यादि

व्यासजी को अपने सब पिछले जन्मों का ज्ञान हो गया और वे राधावल्लभ को सर्वोपरि मानने लगे । उन्होंने गाया है,

राधा वल्लभ मेरौ प्यारौ ।
सर्वोपरि सब ही कौ ठाकुर सब सुखदानि हमारौ ।
अबतारी सब अबतारनि कौ महतारी महतारौ ।। इत्यादि

उन्होंने अपने अनेक जन्मों में अनेक मत देखे थे, अब गुरु-कृपा से उनको वे सब तुच्छ लगने लगे । व्यासजी का एक पद है,

हरि बिनु छिन न कहूँ सुख पायौ ।
दुख-सुख, संपति-विपति सहित हौं स्वर्ग नर्क फिरि आयौ ।।
पुत्र कलत्र बहुत विधि उपजे कपि लौं नाच नचायौ ।
अबकै रसिक अनन्यनि कर गहि राधा रवन बतायौ ।।
इत्यादि

बहुत वर्षों तक इस प्रकार रहने के बाद व्यासजी को हितप्रभु के वियोग का दुख सहन करना पड़ा ।

बहुत बरस लौं एसें रहे—श्रीहरिवंश विरह दुख सहे ।।

श्रीहित जी के निकुंज-गमन के बाद व्यासजी ने बड़ा कष्ट पाया। इस पद के द्वारा उन्होंने उसको व्यक्त किया है:

हुतौ रस रसिकनि कौ आधार।

बिनु हरिवंश कौन पै चलि है सरस प्रेम कौ भार॥ इत्यादि

व्यासजी के बड़े पुत्र किशोरदास जब वृन्दावन आये तो स्वामी हरिदासजी उनको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। व्यासजी ने उनको स्वामी जी का शिष्य करा दिया। इसीलिये वे स्वामी जी को मानते थे और कुंज-विहारी से प्रेम रखते थे।

समय आने पर श्री श्यामा ने व्यास सखी को अपने महल में बुलाया। व्यासजी के नेत्रों में रूप-माधुरी भर गई और वे महल में जाने के लिये तैयार हो गये। सब संत-महात्माओं को हाथ जोड़कर उन्होंने शरीर छोड़ दिया और नित्य-विहार में प्रविष्ट हो गये। व्यासजी के इष्ट श्रीराधावल्लभ और उनके गुरु श्रीहरिवंश थे, इस बात को व्यासजी के पदों से जान लेना चाहिए। इस बात को मेरे कहने की आवश्यकता नहीं है।

राधावल्लभ इष्ट, गुरु श्री हरिवंश सहाइ।

व्यास पदनि तैं जानियौ हौं कहा कहौं बनाइ॥

'गुरु का माना हुआ शिष्य नहीं होता, शिष्य का माना हुआ गुरु होता है' इस बात को व्यासजी ने अपने पदों और साखियों में सरस ढंग से कहा है। उनके चरित्रों को मैं लिख नहीं सकता, वे समस्त संसार में फैल रहे हैं।'

गुरु कौ मान्यौ शिष्य नहीं, शिख मानै गुरु सोइ।

पद साखी करि व्यास नैं, प्रगट कही रस भोइ॥

हित हरिवंश प्रताप तें, पाई जीवन-मूरि ।
भगवत् कहि लिख सकों नाँहि, रहे विश्व भर पूरि ॥
(रसिक अनन्य माल—व्यास चरित्र)

यहाँ स्वयं चरित्र कर्त्ता के शब्दों में व्यासजी के सबसे प्राचीन चरित्र का संक्षेप कर दिया है। इस चरित्र से निम्न-लिखित ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होते हैं:—

१—व्यासजी सुकुल सुमोखन के पुत्र थे और शास्त्र-निष्णात राज्य-सम्मानित विद्वान थे ।

२—वे अपनी बयालीस वर्ष की आयु तक ओड़छे में रहे और फिर नवलदास बैरागी के साथ वृन्दावन चले गये ।

३—वृन्दावन में उन्होंने श्रीहिताचार्य से दीक्षा ग्रहण की और उनकी बताई रीति से वाणी-निर्माण और भजन करने लगे ।

४—इस प्रकार बहुत वर्षों तक वृन्दावन में रहने के बाद उनको हितप्रभु के विरह का दुख सहन करना पड़ा ।

५—बहुत बड़ी आयु में उन्होंने शरीर-त्याग किया ।

कुछ दिन पूर्व श्रीवासुदेव गोस्वामी द्वारा रचित 'भक्त-कवि व्यासजी' नामक पुस्तक का प्रकाशन हुआ है। पुस्तक के द्वितीय अध्याय में लेखक ने 'अध्ययन के सूत्र' बतलाये हैं। इनमें से पहिला सूत्र नाभादास जी का छप्पय है और दूसरा ध्रुवदास जी की 'भक्त नामावली' के व्यासजी से सम्बन्धित तीन दोहे हैं। इन दोनों सूत्रों में व्यासजी की उपासना-पद्धति के अतिरिक्त, उनके जीवन-वृत्त का बहुत कम पता लगता है ।

ीसरा सूत्र भगवत् मुदित जी कृत 'रसिक अनन्यमाल' है। ्यासजी का जीवन-वृत्त सर्व प्रथम इसी में दिया गया है। रसिक अनन्यमाल' के कर्त्ता भगवत् मुदितजी को लेखक ने ्यासजी का सम-सामयिक माना है और वे यह भी मानते ैं कि भगवत्-मुदितजी चैतन्य-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने 'रसिक अनन्यमाल' का रचना-काल विक्रम की अठा-रहवीं शती का प्रारंभ ही माना है। चौथा सूत्र 'भक्तमाल' की प्रियादास जी कृत टीका है जिसका निर्माण वि० सं० १७-६९ में हुआ था। इसके बाद विक्रम की उन्नीसवीं और ीसवीं शताब्दियों में रचित व्यासजी की 'जन्मोत्सव की ्धाइयाँ' एवं उनका चरित्र लिखने वाले अन्य ग्रन्थों का उल्लेख है।

इन सब 'सूत्रों' को एकत्रित करने में एवं उनकी छान-ीन करने में लेखक ने सराहनीय परिश्रम किया है किन्तु उनकी एक बात समझ में नहीं आती। उन्होंने व्यास जी का ़ति-वृत्त लिखने में रसिक अनन्य माल में दिये गये सर्वाधिक ाचीन एवं विशद चरित्र का उपयोग बहुत कम किया है और उनके सम्पूर्ण चरित्र को 'जन्म बधाइयों' एवं बीसबी शताब्दी ं रचित ग्रन्थों पर आधारित कर दिया है! उन्नीसवीं शती े शेष में रचित एक जन्म-बधाई के आधार पर वे व्यास जी ा जन्म संवत् १५६७ में स्थिर कर देते हैं। 'रसिक अनन्य ाल' के अनुसार उनका जन्म सम्वत् १५४९ ठहरता है। उक्त ्रन्थ में व्यास जी के चरित्र में केवल इतना लिखा है कि वे ४२

वर्ष की आयु में वृन्दावन गये थे । इतने मात्र से उनके वृन्दावन गमन काल का पता नहीं चलता किन्तु भगवत् मुदित जी ने राजा परमानंद के चरित्र में बतलाया है कि वे सम्वत् १५९२ की भादों सुदी नवमी को हिताचार्य के शिष्य हुए थे और व्यास जी इसके पूर्व हित प्रभु के शिष्य बन चुके थे । राजा परमानंद ठठ्ठा (सिंध में हुँमायू की ओर से सूबेदार थे और पूरनदास नाम के हित प्रभु के एक शिष्य के सत्सङ्ग से हित धर्मी बने थे । पूरनदास ने ठठ्ठे पहुँच कर राजा परमानंद को व्यास जी के शिष्य होने की घटना सुनाई थी ।

'यह जु एक मन' को पद गायौ—व्यासहिं कह्यौ सु अर्थ बतायौ ।
राजा के मन निश्चय आई—गुरु हरिवंश करौं सुखदाई ।।

व्यास जी के चरित्र में भगवत् मुदित जी ने यह भी लिखा है कि वे कार्तिक के आरम्भ में वृन्दावन पहुँचे थे । इस हिसाब से, व्यास जी संवत् १५९१ के कार्तिक में हिताचार्य के शिष्य हुए थे । इससे पूर्व उनके पहुँचने की गुंजाइश भी नहीं है क्यों-कि स्वयं हित प्रभु १५९० में वृन्दावन गये थे । भगवत् मुदित जी के अनुसार सं० १५९१ में व्यास जी की आयु ४२ वर्ष की थी अतः उनका जन्म सं० १५४९ में सिद्ध होता है ।

'भक्त कवि व्यास जी' के विद्वान लेखक उपरोक्त सभी बातों से परिचित हैं किन्तु उन्होंने इन सब प्रमाणों को मानने से यह कह कर निषेध कर दिया है कि 'रसिक अनन्य माल में व्यास जी का दीक्षा-काल (वृन्दावन आगमन-काल) उनके ही प्रसंग में नहीं दिया गया है, तथा ग्रन्थ का उद्देश्य

किसी प्रामाणिक इतिहास लिखने का न होकर श्री हित हरिवंश जी की महिमा का कथन मात्र था। इस बात को लेखक उस हालत में कहते हैं जब उनको यह मालुम है कि इस ग्रन्थ के कर्ता श्री हित हरिवंश के अनुयायी नही थे! भगवत मुदित जी को श्री हित हरिवंश एवं उनकी उपासना पद्धति से अनुराग था, इसलिये वे हित-धर्मियों के प्रथम इतिहास को लिखने में प्रवृत्त हुए थे। उनसे हम अनुचित पक्षपात की आशंका नहीं रख सकते। भगवत् मुदित जी ने जिन महात्माओं का चरित्र लिखा है उनमें से अधिकांश के वे सम सामयिक हैं अत: 'रसिक अनन्य माल' की प्रामाणिकता प्रमाणित है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है, इसीलिये राधावल्लभीय महात्माओं का इति वृत्त स्थिर नहीं हो पाया है। आचार्य शुल्क जी, डाक्टर राम कुमार वर्मा जैसे विद्वानों ने व्यासजी का वृन्दावन-गमन-काल सं० १६२२ में लिख दिया है। इसका एक बुरा परिणाम यह हुआ है कि श्रीहित हरिवंश का निकुंज-गमन काल भी विवाद-ग्रस्त बन गया है। सम्प्रदाय के सम्पूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थों में एवं पुराने कागजातों में यह निर्विवाद रूप से सं० १६०६ बतलाया गया है।

'रसिक अनन्य माल' के अनुसार व्यासजो सं० १५६१ में वृन्दावन आने के बाद फिर लौट कर ओड़छे नहीं गये। यह बात इस कथन के द्वारा मालूम होती है कि 'बहुत दिनों तक वृन्दावन में रहने के बाद उनको श्रीहरिवंश का विरह-दुख सहन करना पड़ा था।'

बहुत वर्ष लौं ऐसे रहे—श्री हरिवंश विरह दुख सहे।

व्यासजी सं० १५६१ में वृन्दावन गये थे और श्रीहरिवंश का निकुंज-गमन सं० १६०९ में हुआ था। इन अठारह वर्षों में व्यासजी वृन्दावन में ही रहे थे।

'भक्त कवि व्यासजी' में सं० १५६१ में व्यास जी का वृन्दावन-गमन तो स्वीकार किया गया है किन्तु लेखक ने 'अनुमान' लगाया है कि इस सम्वत् में वे 'प्रथम वार' वृन्दावन गये थे और वहाँ कुछ दिन रहने के बाद तीर्थ-यात्रा को चले गये। सं० १६०० के लगभग वे ओड़छे लौटे और फिर सं० १६१२ में वृन्दावन जाकर वहाँ बस गये। लेखक ने अपने अनुमान को जिन प्रमाणों पर आधारित किया है उनमें प्रधान व्यास जी के वे पन्द्रह के लगभग पद हैं जिनमें उन्होंनें वृन्दावन-वास की तीव्र आकांक्षा प्रगट की है। लेखक का कहना है कि तीर्थ-यात्रा से लौटने के बाद ओड़छे में व्यास जी ने इन पदों की रचना की थी। निश्चय ही ये पद वृंदावन से बाहर लिखे गये हैं किन्तु इनकी संगति बैठाने के लिये रसिक अनन्य माल से भिन्न कथानक कल्पित करने की आवश्यकता नहीं है। नवलदास जी से प्रभावित होने के बाद व्यास जी का वृन्दावन में एवं वहां के रसिक भक्तों में अगाध प्रेम जाग उठा था और सांसारिक आसक्तियों के बंधन टूटने लगे थे। वृन्दावन जाने में जो वस्तुयें अन्तराय करती थीं—और उनमें सबसे बड़ी उनकी वंश क्रमानुगत राज्य-गुरुता थी—वे उनको विषवत् प्रतीत होती थीं। उनके सामने वृन्दावन का जो चित्ता-

कर्षक वर्णन किया गया था, मन अब केवल उसी में रमना चाहता था। व्यास जी की उस समय की स्थिति का वर्णन करने वाला एक पद देखिये—

हरि मिलिहैं मोहि वृन्दावन में।
साधु बचन मैं साँचे जाने फूल भई मेरे मन में॥
विहरत सङ्ग देखि अलि गन जुत निविड़ निकुंज भवन में।
नैन सिराइ पाँइ गहिवी तब धीरज रहै कवन में॥
कबहुँक रास विलास प्रगटि है सुन्दर सुभग पुलिन में।
त्रिधि विहार अहार सच्यौ है व्यास दास लोचन में॥

यह मनोदशा काव्य-रचना के बहुत अनुकूल होती है और नवलदास जी से मिलने और उनके साथ वृन्दावन-गमन करने के बीच के थोड़े से समय में ही इन १५–१६ पदों की रचना हो गई थी। 'भक्तकवि व्यासजी' के लेखक के अनुसार यदि व्यासजी को बीस वर्ष वृन्दावन से अलग रहना पड़ा होता तो इस प्रकार के सैंकड़ों पदों की रचना वे कर डालते!

लेखक ने अपने तीर्थ-यात्रा वाले अनुमान को 'चौरासी-वैष्णवन की वार्ता' के एक प्रसंग पर भी आधारित किया है। उन्होंने इस वार्ता को व्यासजी की समसामयिक रचना माना है। सम्बन्धित प्रसंग कृष्णदास अधिकारी की वार्ता में आया है। उसका सारांश यह है कि एक बार कृष्णदास, जो शूद्र थे, द्वारिका से दर्शन करके लौट रहे थे। मार्ग में वे मीराबाई के गांव मैड़ते में ठहरे। वहाँ उन्होंने हरिवंश, व्यास आदि वैष्णवों को कई दिनों से बिदाई की प्रतीक्षा में पड़े देखा। कृष्णदास ने वहाँ पहुँचते ही विदा माँगी और मीराबाई ने

कुछ मोहरें श्रीनाथ जी को भेंट में देना चाहीं। कृष्णदास ने भेंट लेने से यह कह कर निषेध कर दिया कि 'तुम महाप्रभु-जी की शिष्य नहीं हो'। जब वे आगे चले तो किसी वैष्णव ने उनसे पूछा कि तुमने श्रीनाथ जी की भेंट क्यों फेर दी ? इस पर कृष्णदास ने कहा 'जो भेट की कहा है, परि मीराबाई के यहाँ जितने सेवक बैठे हुते तिन सबनि की नीची करि कै भेट फेरी है, इतने इक ठौर कहाँते मिलते। यह हू जानैंगे जो एक बेर शूद्र श्री आचार्य महाप्रभून कौ सेवक आयौ हुतौ तानै भेट न लीनी तौ तिनके गुरुन की कहा बात होयगी'। यह वर्णन अपनी प्रामाणिकता को स्वयं नष्ट कर देता है और फिर यह भी समझ में नहीं आता कि जिन श्रीहरिवंश ने अपने वृन्दावन-वास के प्रथम दो वर्षों में ही व्रज के राजा नरवाहन जी को एवं ठठ्ठे के सूबेदार राजा परमानंद जी को अपना शिष्य बना लिया था, उनको धन-संग्रह के लिये मीराबाई के पास क्यों जाना पड़ा ? और जिन व्यासजी ने यह कहा है कि अपनी बेटी से वेश्यावृत्ति करा कर भी वृन्दावन-वास करना चाहिये, वृन्दावन से अन्यत्र का वैभव-विलास मिथ्या है,* वे 'विदाई की आशा' में सुदूर मारवाड़ देश में कैसे पहुँच गये ? 'भक्तकवि व्यासजी' के लेखक ने व्यासजी के एक

---

* कनक रतन भूषण वसन मिथ्या अनत विलास।
बेटी हाट सिंगार कैं बसि वृन्दावन व्यास।।
(व्यास वाणी, पृ० १९५)

पद के द्वारा इस घटना को प्रमाणित करना चाहा है। इस पद में व्यासजी ने उन भक्तों की भर्त्सना की है जो भूपों के द्वार पर भीख माँगने जाते हैं×। स्वयं बुरा काम करके उसके लिये दूसरों की निन्दा करना भक्तों का मार्ग नहीं है। यदि व्यासजी लोभवश मीराबाई के द्वार पर सप्ताहों पड़े रहे होते तो यह पद वे कभी नहीं कहते। व्यासजी ने ओड़छे के राज-द्वार पर खड़े हुए भक्तों की दुर्दशा अपनी नज़रों से देखी थी और उसी का सजीव वर्णन इस पद में किया है।

डॉ० ग्रीयर्सन एवं अन्य परवर्ती विद्वानों ने व्यासजी का वृन्दावन-गमन-काल सं० १६१२ लिखा है। 'भक्त कवि व्यास जी' के लेखक इन लोगों का अनुसरण करके इस काल को स्वीकार कर लेते हैं। इसके साथ वे रसिक अनन्यमाल के सं० १५९१ को भी मानना चाहते हैं। इन दोनों कालों के लम्बे व्यवधान को पाटने के लिये उन्होंने तीर्थ-यात्रा का अनुमान लगाया है, किन्तु इसका वे पर्याप्त ऐतिहासिक आधार नहीं दे सके हैं। सं० १६१२ के प्रमाण में लेखक ने 'लोकेन्द्र व्रजोत्सव' नामक ग्रन्थ के पद्यांश उद्धृत किये हैं और इस ग्रन्थ का रचना काल सं० १९४८ बतलाया है। इसी प्रकार उन्होंने अपने घर के पुराने बस्तों में प्राप्त एक वंश-वृक्ष का हवाला दिया

× भक्त ठाड़े भूपनि के द्वार।
झुकत, झुकत, पौरियन डरपत गाय बजाय सुनावत तार॥
इत्यादि
(व्यास वा० पृ० १३१)

है जिसको वे सं० १८७५ के पूर्व का मानते हैं । इस बंश.वृक्ष के 'शीर्षक' में लिखा है कि व्यास जी ४५ वर्ष की आयु में सं० १६१२ में वृन्दावन गये । इनमें से पहिला प्रमाण बहुत आधुनिक है और दूसरा प्रमाण भी प्राचीन नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार के प्रमाणों के बल पर अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में रचे गये 'रसिक अनन्यमाल' के वृत्त पर संदेह नहीं किया जा सकता ।

कुछ अन्य लोग भी यह मानते हैं कि व्यासजी का वृन्दावन गमन सं० १६१२ के बाद ही संभव हो सकता है क्योंकि वे राजा मधुकर शाह के गुरु थे और उक्त नृपति सं० १६१२ में ओड़छा की गद्दी पर बैठे थे । इस तर्क में यह मान लिया गया है कि मधुकर शाह राजा होने के बाद ही व्यासजी के शिष्य हुए थे । पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानों ने इसी अनुमान पर व्यास जी का वृन्दावन-गमन-काल सं० १६२२ के आसपास माना है । रसिक अनन्य माल वाले व्यास जी के चरित्र में मधुकर शाह का नामोल्लेख नहीं है । उसमें केवल इतना लिखा है कि व्यास जी के पिता सुकुल सुमोखन के अधीन राजा और प्रजा दोनों थे ।

सुकुल सुमोखन बड़े प्रवीन—राजा परजा सबै अधीन ।।

व्यास जी के कई पदों में मधुकर शाह का नाम आता है । संभव है कि जिस प्रकार महाराज रुद्रप्रताप सुकुल सुमोखन जी के अधीन थे उसी प्रकार उनके द्वितीय पुत्र मधुकर शाह व्यास जी के अधीन रहे हों । इतिहास से पता चलता है कि

राजा रुद्रप्रताप धर्मात्मा व्यक्ति थे और मधुकर शाह उनके साथ अधिक रहते थे। पिता के सङ्ग से ही उनमें धर्म–रुचि जाग्रत हुई थी। पिताकी मृत्यु के बाद मधु-कर शाह के बड़े भाई भारतीचंद सं० १५८८ में गद्दी पर बैठे। मधुकर शाह अपने भाई के यशस्वी राजत्वकाल में शांति पूर्वक भक्ति-साधना में लगे रहे। उन्होंने व्यास जी को राज्य-गुरु के पुत्र होने के नाते अपने पिता के सामने ही गुरु-रूप में वरण कर लिया होगा। महाराज रुद्रप्रताप के स्वर्गवास के तीन वर्ष बाद सं० १५९१ में व्यास जी वृन्दावन गये। अतः मधुकर शाह की शिष्यता को लेकर इस काल की प्रामा-णिकता को संदिग्ध नहीं कहा जा सकता।

हम पहिले कह चुके हैं कि व्यास जी का वृन्दावन-गमन काल अनिर्णीत रहने से श्री हित हरिवंश का निकुंज-गमन-काल चक्कर में पड़ गया है। 'भक्त कवि व्यास जी' के लेखक १५९१ में व्यास जी का 'प्रथम वार' वृन्दावन जाना मानते हैं। उनकी राय में इस बात को लेकर हिताचार्य के निकुंज-गमन-काल पर सन्देह नहीं किया जा सकता। किन्तु उन्होंने व्यास जी के एक पद के साक्ष्य पर हिताचार्य का सं० १६०९ के बहुत बाद तक उपस्थित रहना सिद्ध किया है। वह पद यह है—

राधे जू अरु नवल श्याम घन, विहरत बन उपबन वृन्दावन।
ललित लता प्रति ललित माधुरी, मुनि पंछी बैठे समूह गन॥

× × × ×

हरिवंशी-हरिदासी बोली, नहिं सहचरि समाज कोऊ जन ।
व्यास दासि आगें ही ठाढ़ी, सुख निरखत बीते तीनौं पन ।।

पद के अंतिम चरणों में व्यास जी ने 'हरिवंशी-हरिदासी' का उल्लेख किया है और साथ ही अपने तीनों पन बीत जाना लिखा है । श्री हित हरिवंश का निकुंज-गमन सं० १६०९ में मानने पर, 'भक्त कवि व्यास जो' के लेखक के अनुसार, उस समय व्यासजी की आयु केवल ४२ वर्ष की होती है और इस आयु में व्यासजी अपने तीनों पन व्यतीत होना नहीं लिख सकते । 'रसिक अनन्य माल' के अनुसार व्यासजी की आयु उस समय ६० वर्ष की थी और वे अपने सम्बन्ध में उपरोक्त बात कह सकते थे । साथ ही इस पद में श्री हरिवंश, श्री हरिदास और स्वयं व्यास जी अपने ऐतिहासिक रूपों में हमारे सामने नहीं आते । व्यास जी ने अपने लिये 'व्यास दासि' और श्री हरिवंश एवं श्री हरिदास के लिये 'हरिवंशी–हरिदासी' कहा है । पद में वर्णित घटना इन तीनों के नित्य-सखी-रूप से सम्बन्धित है और इससे कोई ऐतिहासिक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता ।

श्रीहित हरिवंश व्यास जी के दीक्षा-गुरु थे । भगवत् मुदित जी ने व्यास जी के चरित में निर्भ्रान्त रूप से इस बात को लिखा है और चरित्र के अन्त में पुनः इस प्रश्न को उठाकर स्वयं व्यास जी की वाणी में ही इसका समुचित उत्तर पाने को कहा है—

राधावल्लभ इष्ट, गुरु श्री हरिवंश सहाय।
व्यास पदनि तैं जानियौ, हौं कहा कहौं बनाय॥

(रसिक अनन्य माल)

शिष्यता की बात दोहराने से एक बात यह ध्वनित होती है कि 'रसिक अनन्य माल' के रचना काल (अठारहवीं शती के आरंभ में) में ही व्यास जी की शिष्यता का प्रश्न विवादास्पद बन चुका था। व्यास जी के वंशधरों में से कुछ तो राधावल्लभीय परंपरा में शिष्य होते थे और कुछ लोग माध्व गौड़ीय सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये थे। यह लोग स्वयं भी शिष्य बनाते थे और स्वयं जिस सम्प्रदाय के अनुयायी थे उसी का अनुगत अपने आदि पुरुष व्यास जी को सिद्ध करते थे। उधर सुकुल सुमोखन जी भी व्यास जी के कुल-गुरु थे और उनका इस रूप में स्मरण व्यास जी ने अपने कई पदों में किया है। ऐसी स्थिति में जिसकी समझ में जो आता था कह रहा था। भगवत् मुदित जी ने ऐसे लोगों के भ्रम-निवारण के लिये ही शिष्यता की बात को चरित्र के अंत में दोहरा दिया है।

यह भी मालुम होता है कि व्यास जी को हिताचार्य का शिष्य न मानने वालों ने, प्राचीन-काल में ही, व्यास-वाणी के सम्बन्धित पदों को तोड़ना-मरोड़ना आरम्भ कर दिया था। 'भक्त कवि व्यास जी' के लेखक को व्यास-वाणी की जितनी प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं उनमें श्री हित जी को व्यास जी का गुरु सूचित करने वाले छंदों में आवश्यक परिवर्तन कर दिये गये हैं। उक्त लेखक को व्यास-वाणी की तीन प्रतियाँ मिली

हैं जिनमें से एक सं० १८८३ की है, दूसरी सं० १८८८ की एवं तीसरी सं० १८९४ की है। अभी तक उन्नीसवीं शती के अंतिम भाग से पूर्व की कोई प्रति प्राप्त नहीं थी। कुछ ही दिन पहिले व्यास-वाणी की दो प्रतियों का पता इन पंक्तियों के लेखक को चला है। इनमें से एक सं० १७९१ की है और दूसरी सं० १८७६ की। दोनों प्रतियाँ कोलारस, ज़िला शिव पुरी में सुरक्षित हैं। सं० १७९१ वाली प्रति वहाँ के प्रसिद्ध रसिक भक्त पं० वासुदेव जी खेमरिया के पास है और सम्वत् १८७६ की प्रति वहाँ के गोपाल जी के मंदिर के अन्यतम सेवाधिकारी पं० व्रजवल्लभ जी के पास है। सं० १७९१ वाली प्रति की पुष्पिका इस प्रकार है "इति श्री व्यास जी कृत साखी, विष्णुपद भाषा प्रबंध सम्पूर्ण। लिख्यतेज्येष्ठ मासे शुक्ल पक्षे तिथौ नवम्यांगुरु वासरे सं० १७९१। लिपि कृतं भूधर दासेन शुभमस्तु लेखक पाठकयोश्चिरं तिष्ठतु।" इस प्रति का प्रारंभ साखियों से हुआ है और इसमें ६७ साखियाँ दी हुई हैं। साखियों में यह दोहा भी अंकित है—

कोटि-कोटि एकादशी महाप्रसाद कौ अंश।
व्यासहिं यह परतीति है जिनके गुरु हरिवंश॥

यह दोहा 'भक्त कवि व्यास जी' में पृष्ठ ६० पर उद्धृत किया गया है और इसके वारे में यह कहा गया है कि यह व्यास वाणी की प्राप्त प्रतियों में नहीं पाया जाता।

व्यास-वाणी की प्रकाशित प्रतियों में 'रास पंचाध्यायी' के अंतिम छंद में यह पंक्तियाँ मिलती हैं,

कह्यौ भागवत शुक अनुराग-कैसे समुझै बिनु बड़ भाग।
श्रीगुरु सुकुल कृपा करी ॥

सं० १७६१ की प्रति में 'श्रीगुरु सुकुल कृपा करी' के स्थान में 'श्री हरिवंश कृपा विना' पाठ है। इसी प्रकार प्रकाशित व्यास वाणी में एक 'श्रीगुरु-मंगल' मिलता है जिसका आरंभ 'जय जय श्रीगुरु सुकुल वंश उदित भये' से होता है। इस पहिली पंक्ति से ही मालुम हो जाता है कि यह व्यासजी के किसी शिष्य की रचना है। व्यासजी अपने ही जन्म का 'मंगल' कैसे गा सकते थे? किन्तु 'भक्त कवि व्यासजी' में इसको व्यासवाणी के अन्तर्गत ग्रहण कर लिया गया है! यह 'मंगल' सं० १७६१ और सं० १८७६ वाली प्रतियों में नहीं मिलता।

व्यास वाणी की प्रचलित प्रतियों में सिद्धान्त के पदों के मंगलाचरण का पद 'वंदे श्री सुकुल पद पंकजनि' से प्रारंभ होता है। सं० १८७६ की प्रति में यह पद 'वंदे श्री शुक पद पंकजनि' से शुरू होता है। इसी प्रकार शृंगार रस के पदों के मंगलाचरण में 'वंदे राधा रमण मुदारं' से आरंभ होने वाला १ पद मिलता है। प्रकाशित पुस्तकों में इस पद का दूसरा चरण 'श्रीगुरु सुकुल सहचरी ध्याऊँ, दंपति सुख रस सारं' दिया हुआ है। सं० १८७६ की प्रति में इस पद में यह चरण नहीं मिलता। अतः व्यासवाणी के अंतःसाक्ष्य से ही यह सिद्ध हो जाता है कि व्यासजी के दीक्षागुरु श्रीहित हरिवंश थे। 'भक्त कवि व्यासजी' में दिये हुए एक उद्धरण से

मालुम होता है कि सुकुल सुमोखन के इष्ट नृसिंह जी थे (पृ० ४०)। उनसे व्यासजी को नृसिंह-मंत्र की ही दीक्षा मिली होगी । विक्रम की उन्नीसवीं शती मे सुकुल सुमोखन जी को व्यासजी की रसोपासना का भी गुरु प्रमाणित करने की प्रवृत्ति आरंभ हुई और उसके फल स्वरूप 'रास-पंचाध्यायी' और रस के पदों में यत्र-तत्र रसिक भक्त के रूप में उनका ख्यापन करने वाली पंक्तियाँ जोड़ दी गईं। व्यासजी को राधिका जी से प्राप्त मंत्र (निज-मंत्र) की दीक्षा श्रीहित जी से मिली थी और इसी मंत्र के अनुकूल उपासना और रस-रोति का गान उन्होंने अपनी सम्पूर्ण वाणी में किया है।

'रसिक अनन्यमाल' के अनुसार व्यासजी को दीर्घायु प्राप्त हुई थी। सौ वर्ष से अधिक अवस्था मानने पर उनका निकुंज गमन-काल सं० १६५५ के लगभग ठहरता है। ध्रुवदास जी ने अपनी 'भक्त नामावली' में व्यासजी के सम्बन्ध में जो दोहे कहे हैं, उनसे मालुम होता है कि इनकी रचना ध्रुवदासजी ने व्यासजी के निकुंज-गमन के थोड़े दिन बाद ही की है।

कहनी करनी करि गयौ एक व्यास इहि काल।
लोक-वेद तजिकै भजे राधावल्लभ लाल ॥

(भक्त नामावली)

'भक्त नामावली' के रचना-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मत भेद है। 'भक्त नामावली' में अंतिम नाम 'भक्त नरायण' का है जो 'भक्तमाल' के कर्त्ता नारायणदास जी उर्फ नाभा जी हैं।

भक्त नरायन भक्त सब, धरैं हिये दृढ़ प्रीति।
बरनी आछी भाँति सौं, जैसी जाकी रीति॥

नाभा जी का नाम बिलकुल अंत में देखकर यह अनुमान होता है कि 'भक्तमाल' की रचना के थोड़े दिन बाद ही 'भक्त नामावली' की रचना हुई है। 'भक्तमाल' का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसमें नाभा जी ने प्रागैतिहासिक काल के भक्तों से लेकर अपने समय तक के प्रायः सभी प्रकार के भक्तों का वर्णन किया है। इसमें अनेक कृष्णोपासक भक्तों का भी परिचय दिया हुआ है किन्तु उनकी संख्या कम है। ध्रुवदास जी ने कृष्णोपासक रसिक भक्तों का परिचय देने के लिये ही 'भक्त नामावली' की रचना की है। ऊपर उद्धृत 'भक्त नरायन' वाले दोहे के बाद ही यह दोहा मिलता है—

रसिक भक्त भूतल घने लघु मति क्यौं कहे जाहिं।
बुधि प्रमान गाये कछू जो आये उर माहिं॥

'भक्त नामावली' में लगभग ११९ रसिक भक्तों का परिचय मिलता है। अंत में कुछ निर्गुण-शाखा के भक्तों के नाम दिये हैं किन्तु वे संख्या में बहुत कम हैं।

विद्वानों ने नाभाजी की भक्तमाल का रचना-काल संवत् १६५० के लगभग माना है, अतः भक्त नामावली की रचना इसके बाद के दस वर्षों में सं० १६६० के आस पास होगई होगी। 'भक्त नामावली' में जिन रसिक भक्तों का उल्लेख है उनमें से अनेक का सं० १६६० के पूर्व निधन हो चुका था और कुछ भक्तगण उस समय जीवित भी थे। श्री वियोगी हरि ने लिखा है कि भक्त नामावली में सं० १७२५ तक के

भक्तों का वर्णन मिलता है। पता नहीं यह बात उन्होंने किस आधार पर लिखी है। यदि केवल राधावल्लभीय रसिक भक्तों को ही लें तो 'भक्त नामावली' में उनही के नाम मिलते हैं जो सं० १६६० के पूर्व प्रख्यात हो चुके थे। सत्रहवीं शती के उत्तरार्ध में प्रसिद्ध होने वाले रसिकों का उल्लेख उसमें नहीं है। 'भक्त नामावली' हिताचार्य के पुत्रों के परिचय तक ही सीमित रहती है, उनके पौत्रों और प्रपौत्रों का परिचय उसमें नहीं मिलता। श्रीहित हरिवंश के प्रपौत्र श्री दामोदर चन्द्र गोस्वामी सत्रहवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में खूब प्रसिद्ध हो चुके थे। इसी प्रकार दामोदर स्वामी, कल्याण पुजारी जैसे प्रसिद्ध वाणीकारों का उल्लेख 'भक्त नामावली' में नहीं है। यह दोनों महानुभाव सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक प्रख्यात हो चुके थे। 'भक्त नामावली' के रचना-काल को देखते हुए व्यासजी का निकुंज-गमन सम्वत् १६५५ के लगभग ही ठहरता है।

'भक्त कवि व्यासजी' में व्यासजी के एक पद के आधार पर उनका निकुंज-गमन-काल सं० १६६५ के बाद में सिद्ध करने का परिश्रम पूर्ण प्रयास किया गया है। पद यह है—

अब साँचौ ही कलियुग आयौ।
पूत न कह्यौ पिता कौ मानत करत आपनौ भायौ॥
बेटी बेचत संक न मानत दिन-दिन मोल बढ़ायौ।
याहीं तें वर्षा मंद होत है पुण्य तें पाप सबायौ॥
मथुरा खुदति कटत वृन्दावन मुनि जन सोच उपायौ॥
इतनौं दुख सहिबे के काजें काहे कौं व्यास जिवायौ॥

इस पद में 'मंद वर्षा' होने का ज़िक्र है। 'भक्तकवि व्यास जी' के विद्वान लेखक ने 'अकबर नामा' के आधार पर यह बतलाया है कि अकबर के राजत्व के ४१ वें वर्ष में वर्षा बहुत थोड़ी हुई थी और चावल का भाव बहुत बढ़ गया था। किन्तु यह विक्रम सं० १६५३ था और इस घटना के उल्लेख से सं० १६५५ के लगभग व्यास जी का निकुंज-गमन मानने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

इसके बाद लेखक ने पद के पाँचवें चरण में कही हुई 'मथुरा खुदत कटत वृन्दावन' वाली बात को उठाया है और उसको किसी तत्कालीन राजनैतिक घटना से सम्बन्धित करने की चेष्टा की है। 'वाक़याते जहाँगीर' में जहाँगीर के राजत्वकाल के प्रथम वर्ष सं० १६६३ की एक राजनैतिक घटना लिखी है, जिस में दिल्ली-आगरा सड़क पर खुसरो के आदमियों द्वारा लूटपाट करने का और ग्रामीण प्रजा को सताने का वर्णन है। इसमें मथुरा और वृन्दावन के उत्पीडन का कहीं जिक्र नहीं है। 'वाकयाते जहाँगीर' से यह भी मालुम होता है कि खुसरो के आगरे से निकलने के दूसरे दिन ही बादशाह भी उसके पीछे चल पड़ा था और उसने दिल्ली पहुँचने के पूर्व ही खुसरो को गिरफ्तार कर लिया था। खुसरो का विद्रोह, इस प्रकार, दो दिन में ही समाप्त कर दिया गया। इस थोड़े से काल में खुसरो आगरा-दिल्ली सड़क से लगे हुए गामों में ही उपद्रव कर सका था और 'मथुरा खुदत, कटत वृन्दावन' वाली उक्ति को, कल्पना का जोर

लगा कर भी, इस अल्पजीवी विद्रोह के साथ सम्बन्धित नहीं किया जा सकता। 'मथुरा खुदत, कटत वृन्दावन' वाली पंक्ति का उत्तरार्ध है 'मुनिजन सोच उपायो'। इसका सीधा अर्थ यह है कि मथुरा के खुदने से और वृन्दावन के कटने से मुनिजनों-एकान्त वासी भक्त जनों-को बहुत कष्ट हुआ। वह अकबर का राजत्व काल था और मथुरा-वृन्दावन की आवादी नित्य प्रति बढ़ रही थी। मथुरा में पुराने ध्वंसावशेषों को खोद कर नये मन्दिर और मकान बन रहे थे और वृन्दावन के वृक्षों को काट कर बसने के लिये स्थान बनाया जा रहा था। वृन्दावन की लताओं को 'पारिजात' मानने वाले व्यास जी एवं उनके समान अन्य रसिक भक्तों को इससे कष्ट होना स्वाभाविक था और उसी का उल्लेख व्यासजी ने इस पंक्ति में किया है। पद में उल्लिखित दोनों घटनायें अकबर-काल की होने के कारण इस पद की रचना सं० १६५३-५४ में हुई है और इसके कुछ ही दिन बाद सं०१६५५ के लगभग व्यास जी का निकुंज-वास हो गया।

वाणी-समीक्षा:—भक्त कवियों की सबसे बड़ी विशेषताएँ हैं,

१—वर्ण्य विषय के प्रति उत्कट अनुराग और उसके विविध सौन्दर्य-अंगों के प्रति तीव्र संवेदनशीलता।

२—भाव के उपस्थापन में निर्भीक आत्म-निर्भरता और अडिग श्रद्धा।

व्यासजी की वाणी में यह दोनों बातें अत्यन्त स्पष्ट रूप में दिखलाई देती हैं। वे वृन्दावन-रस के आदि गायकों में से

हैं। इस रस के रूप में वृन्दावन-रति ही आस्वादित होती है। व्यासजी ने बृन्दावन की प्रशंसा में एक-से-एक सुन्दर बीसियों पद कहे हैं। स्वभावतः उन्होंने वृन्दावन के उस रूप का वर्णन किया है जो रसिकों की प्रेम-दृष्टि में झलकता है। प्रेम और सौन्दर्य के इस अनन्यधाम के रास-आकाश में, व्यासजी को, नित्य दुलहिनी-दूलह रूपी 'प्रेम-परेवा' (पारावत) फिरते हुए दिखलाई देते हैं;

विहरत सदा दुलहिनी-दूलह अँग-अँग मधुरस पेवा।
व्यास रास-आकास फिरत दोऊ मानहुँ प्रेम-परेवा॥

इस वृन्दावन में सुख-चैन सदैव प्रगट क्रीड़ा करता है जिसको देखकर व्यासदास अपने नेत्रों को धन्य मानते है,

वृन्दावन प्रगट सदा सुख चैन ।
कुंजनि-कुंज पुंज छवि बरसत, आनँद कहत बनै न॥
कुसुमित नमित विटप नव साखा, सौरभ अति रस ऐन।
मधुप,मराल,केकि,शुक,पिक,धुनि सुनि व्याकुल मन मैन॥
श्यामाश्याम फिरत घन वीथिनु, होत अचानक ठैन।
पुलकित गात सँभारन भुज में, भेंटत बात कहै न॥
अति उदार सुकुमार नागरी, रोम-रोम सुख दैन।
हाव-भाव अँग-अंग विलोकत, धन्य व्यास के नैन॥

(व्या० वा० पृ० ८-९)

व्यासजी ने वृन्दावन की भूमि, रज, कुंजें, रासस्थली, विटप-बेलि, कंद-मूल-फल, यमुना-जल, गाय, गोपी आदि का वर्णन बड़े उत्साह और निष्ठा के साथ किया है।

रुचत मोहि वृन्दावन कौ साग ।
कंद-मूल-फल-फूल जीविका, मैं पाई बड़ भाग ॥
घृत–मधु–मिश्री–मेवा–मैदा, मेरे भाये छाग ।
एक गाय पै वारौं कोटिक ऐरावत से नाग ॥
जमुना जल पर वारौं सोमपान से कोटिक जाग ।
राधापति पर वारौं कोटि रमा के सुभग सुहाग ॥
साँची माँग किसोरी के सिर, मोहन के सिर पाग ।
बंसीवट पर वारौं कोटिक देव कल्पतरु बाग ॥
गोपिनु की प्रीतिहि पूजत नहिं शुक नारद अनुराग ।
कुंज-केलि मीठी है विरह-भक्ति सीठी ज्यौं आग ॥
व्यास विलास रास-रस पीवत मिटैं हृदय के दाग ।

(व्या० वा० पृ० १०)

व्यासजी ने श्याम-श्यामा के रास-विलास का वर्णन हित-प्रभु की परिपाटी से किया है । उन को भी रास लीला अत्यन्त प्रिय है और वे उसको सम्पूर्ण विलासों का आधार मानते हैं । व्यासजी ने रास का वर्णन कई रूपों में किया है, जैसे वृन्दावन का रास, यमुना-तट का रास, यमुना-जल पर रास, शरद-रासोत्सव, शय्या का रास आदि । रास के अधिकांश पदों में भाषा का गुम्फ सुदृढ़ है और भावों की रमणीयता दर्शनीय है । यमुना-तट के रास का एक पद देखिये—

सुघर राधिका प्रवीन बीना वर रास रच्यौ,
श्याम सङ्ग वर सुधंग तरनि तनया तीरे ।
आनँद-कंद वृन्दावन शरद चंद मन्द-मन्द,
पवन कुसुम ताप दवन धुनित कल कुटीरे ।

रुनित किंकिनी सुचारु, नूपुर मनि बलय हारु,
अङ्ग रव मृदंग तार तरल तिरप चीरे ।
गावत अति रङ्ग रह्यौ, मोपै नहिं जात कह्यौ,
व्यास रस-प्रवाह बह्यौ, निरखि नैन सीरे ॥

नित्य-रास के एक पद में व्यासजी ने 'प्रति' शब्द के विदग्धता पूर्ण पुनरावर्तन से वृन्दावन के रास-विलास का मार्मिक वर्णन कर दिया है।

कुंज-कुंज प्रति रति वृन्दावन, द्रुम-द्रुम प्रति रति-रङ्ग ।
बेलि-बेलि प्रति केलि, फूल प्रति फल प्रति विमल विहंग ॥
कंठ–कंठ प्रति राग–रागिनी, सुर प्रति तान–तरङ्ग ।
गौर श्याम प्रति, श्याम वाम प्रति, अङ्ग प्रति सरस सुधंग ॥
मुख प्रति मंद हास, नैंननि प्रति सैन, भौंहनि प्रति भंग ।
रास-विलास पुलनि प्रति, नागर प्रति नागरि कुल संग॥
रूप-रूप प्रति गुन सागर, सहचरि प्रति ताल मृदंग ।
अधरनि प्रति मधु, गंडनि प्रति विधु, उर प्रति उरज उतंग ॥
कहत न आवै सुख देखत मुख मोहे कोटि अनंग ।
व्यास स्वामिनी राधाहि सेवहिं, श्याम धरैं बहु अंग ॥

इसी प्रकार पावस-वर्णन के निम्मलिखित पद में, व्यास जी ने, कतिपय शब्दों के साथ 'सी' और 'से' प्रत्ययों के योग के द्वारा साधारण वर्षा को प्रेम की वर्षा व्यंजित कर दिया है। पद में 'उमँग महीरुह से महि फूली भूली मृग माला सी' पंक्ति दर्शनीय है।

आजु कछु कुंजनि में बरसा सी ।
बादल दल में देखि सखी री, चमकति है चपलासी ॥

नान्ही-नान्ही बूंदनि कछु धुरवा से, पवन बहै सुखरासी ।
मन्द-मन्द गरजनि सी सुनियत, नाचति मोर सभा सी ।।
इन्द्र धनुष में बग-पंकति, डोलति-बोलति कोकिला सी ।
इन्द्र वधू छवि छाइ रही मानौ, गिरि पर श्याम घटा सी ।।
उमग महीरुह से महि फूली, भूली मृग माला सी ।
रटत व्यास चातक की रसना, रस पीवत हू प्यासी ।।

श्रीहित हरिवंश की भाँति व्यासजी ने भी सुरतान्त-छवि के वर्णन में अनेक पद कहे हैं। व्यासजी के उपलब्ध जीवन-वृत्तों से मालुम होता है कि वे सर्वथा निर्भय व्यक्ति थे और उन की निष्ठा पूर्ण सुदृढ़ थी। निष्ठावान भक्तों के उस युग में भी ध्रुवदास जी ने व्यासजी को, इस दृष्टि से, अद्वितीय बतलाया है *। उन्होंने शृंगार-रस का वर्णन हित-प्रभु की अपेक्षा अधिक खुली रीति से किया है और उसके सब अंगों का कथन निस्संकोच होकर किया है। साथ ही उनके ऐसे भी पद मिलते हैं जिनमें अत्यन्त संयत ढंग से श्यामश्यामा की रहस्यमय केलि के प्रेम-सौंदर्य को संकेतित कर दिया गया है। एक पद देखिये—

वृन्दावन कुंज-कुंज केलि-बेलि फूली ।
कुन्द-कुसुम, चंद, नलिन, विद्रुम छवि भूली ।।
मधुकर, शुक, पिक, मराल, मृगज सानुकूली ।
अद्भुत घन मंडल पर दामिनि सी झूली ।।
व्यास दासि रंग रासि देखि देह भूली ।

---

* कहनी—करनी करि गयौ एक व्यास इहिकाल ।
लोक—वेद तजि कै भजे राधावल्लभ लाल ।।

व्यासजी की निष्ठा का आधार श्री राधा का वह परात्पर प्रेम-सौदर्य है जिसके सबसे बड़े उपासक आनंद कंद नंद-नंदन हैं। श्रीराधा के बल पर ही व्यासजी सबसे टेढ़े चलते हैं। यही बल उनकी वाणी के पीछे काम कर रहा है और उसको आत्म-निर्भर, उन्मुक्त और तेजस्वी बनाये हुए है। व्यासजी के अधिकांश पद श्रीराधा के रूप-गुण के वर्णन में लगे हुए हैं और उनकी अदभुत प्रेमनिष्ठा से आलोकित हैं। रूप वर्णन के एक सुन्दर पद को समाप्त करते हुए वे कहते हैं,

आनंद कंद नंद नंदन, जाके रस रङ्ग रच्यो,
अङ्ग भरि सुधंग नच्यौ, मानत हँसि हार।
ताके बल गर्व भरे, रसिक व्यास से न डरे,
कर्म-धर्म, लोक-वेद, छाँड़ि मुक्ति चार ॥

व्यास जी की वाणी के दो विभाग हैं। एक विभाग में 'सिद्धान्त के पद' हैं, जिनमें श्री वृन्दावनमहिमा, साधुन की स्तुति, विनय के पद, संत महिमा, रसिक अनन्य व्रत तथा उपदेशात्मक पद सम्मिलित हैं। इन पदों की संख्या २९४ है। इनके साथ १४६ साखियाँ भी हैं। व्यास जी सरल, स्वतन्त्र और विनोदी स्वभाव के महात्मा थे। उनको पाखण्ड से चिढ़ थी और उन्होंने अपने पदों में पाखंडियों को–फिर चाहे वे कितने ही उच्चस्थित क्यों न हों–खूब आड़े हाथों लिया है। वृन्दावन रसरीति में एकान्त श्रद्धा होते हुए भी उनका दृष्टिकोण उदार था और उन्होंने जिस किसी में भी निष्कपट भगवत् प्रेम देखा, उसी की प्रशंसा मुक्त कंठ से की है।

व्यास-वाणी के द्वितीय विभाग में 'रस के पद' हैं जिनकी संख्या ४५५ है। इनमें रास पंचाध्याई भी सम्मिलित है। यह व्यास जी की अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है। शुकोक्त पंचाध्याई का हिन्दी भाषान्तर होते हुए भी यह अनेक अंशों में मौलिक कृति है। इसमें, व्यासजी ने, भागवत की रस-रीति के साथ वृन्दावन रस-रीति का समन्वय करने की चेष्टा की है। इस पंचाध्याई को उत्तमता का एक प्रमाण यह है कि इसको अनेक वर्षों पूर्व ही 'सूर-सागर' में ग्रथित कर लिया गया है और अभीतक यह सूरदास जी के रास के पदों के साथ ही चल रही है।

व्यासजी के पदों की भाषा अधिकांश में बोल-चाल की व्रज-भाषा है, कहीं-कहीं बुंदेल खंड के शब्दों का प्रयोग मिलता है, जैसे गुदरबी,बरवट, गुदी,गटी इत्यादि। रस के पदों में संभोग शृंगार की अनन्त वैचित्री को चमत्कार पूर्ण ढंग से व्यक्त किया गया है। व्यासजी सुकवि हैं, और वे शब्द-चित्रों के आलेखन में और अलंकार-योजना में समान रूप से सफल हुए हैं। उनकी रचना के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

(श्री) वृन्दावन की शोभा देखत मेरे नैन सिरात।
कुंजनि कुंज पुंज सुख बरसत हरखत सबके गात॥
राधा मोहन के निजु मंदिर महा प्रलय नहिं जात।
ब्रह्मा तें उपज्यौ न अखंडित कबहूँ नाहिं नसात॥
फन पर,रवि तर,नहिं विराट महँ, नहिं संध्या,नहिं प्रात।
माया काल रहित नित नूतन सदा फूल फल पात॥
निर्गुन-सगुन ब्रह्म तें न्यारौ विहरत सदा सुहात।
व्यास विलास रास अद्भुत गति निगम-अगोचर बात॥

धनि तेरी माता जिन तू जाई।
ब्रज-नरेश वृषभानु धन्य जिंहि नागरि कुंवरि खिलाई ॥
धन्य श्रीदामा भैया तेरौ कहत छबीली बाई।
धनि बरसानौं हरिपुर हूँ तें ताकी बहुत बड़ाई ॥
धन्य श्याम बड़भागी तेरौ नागर कुँवर सदाई।
धन्य नंद की रानी जसुदा जाकी वहू कहाई ॥
धन्य कुंज सुख पुंजनि बरसत तामें तूँ सुखदाई।
धन्य पुहुप शाखा द्रुम पल्लव जाकी सेज बनाई ॥
धन्य कल्पतरु वंशीवट धनि बन-विहार रह्यौ छाई।
धनि यमुना जाकौ जल निर्मल अँचवत सदा अघाई ॥
धन्य रास की धरनी जहँ तूं रुचि कै सदा नचाई।
धनि वंशी सब जगत प्रसंशी राधा नाम रटाई ॥
धन्य सखी ललितादिक निसि दिन निरखत केलि सदाई।
धन्य अनन्य व्यास की रसना जिंहि रस कीच मचाई ॥

रसिक अनन्य हमारी जाति।
कुलदेवी राधा बरसानौं, खेरो, व्रज वासिनु सौं पाँति ॥
गोत गुपाल जनेऊ माला शिखा शिखंड हरि-मंदिर भाल।
हरि गुन नाम वेद धुनि सुनियत मूंज पखावज कुश करताल ॥
शाखा जमुना, हरि लीला, षट कर्म, प्रसाद प्रानधन रास।
सेवा विधि निषेध जड़ संगति वृत्ति सदा वृन्दावन वास ॥
स्मृति भागवत कृष्ण नाम संध्या तर्पण गायत्री जाप।
वंशी रिषि जजमान कल्पतरु व्यास न देत अशीश-सराप ॥

अब मैं वृन्दावन रस पायौ।
राधा चरन शरण मन दीनौं मोहनलाल रिझायौ ॥
सोयौ हुतौ विषय मंदिर में हित-गुरु टेर जगायौ।
अब तौ व्यास विहार विलोकित शुक नारद मुनि गायौ ॥

जाके मन बसैं श्री वृन्दावन ।
सोई रसिक अनन्य धन्य जाकें हित राधा मोहन ॥
ता हिय नित्य विहार फुरै बन लीला कौ अनुकरन ।
विषय वासना नाहिन जाकै सुधरे अन्तह करन ॥
लोक-वेद कौ भेद न जाकै श्री भागौत सौ धन ।
ताकैं व्यास रास रस वरषत बहि गई कामिनि कंचन ॥
जौपै कोऊ सांची प्रीति करि जानै ।
तौ या बन में राधा रमनैं मन लगाइ गहि आनैं ॥
सुनियत कथा श्याम श्यामा की प्रीति के हाथ बिकानैं ।
ता मोहन की महिमा कैसे विषई व्यास बखानैं ॥

साखी

श्रीराधा वल्लभ ध्याइकें और ध्याइये कौन ।
'व्यासहि' देत बनै नहीं बरी-बरी प्रति लौन ॥
व्यास भक्ति कौ फल लह्यौ वृन्दावन की धूरि ।
श्री हरिवंश प्रसाद तें पाई जीवनि मूरि ॥
जो मन अटक्यौ स्याम सौं गड़यौ रूप में जाइ ।
चहले परि निकसै नहीं मनौ दूबरी गाइ ॥

रस के पद

राधा मोहन सहज सनेही ।
सहज रूप गुण सहज लाड़िले एक प्रान दो देही ॥
सहज माधुरी अंग अंग प्रति सहज बने बन गेही ।
व्यास सहज जोरी सौं रे मन, सहज प्रीति करि लेही ॥

नव जोवन छवि फबति किशोरिहिं देखत नैन सिरात ।
वलि वलि सुखद मुखारविंद की चंद-वृन्द दुरि जात ॥
गौर ललाट पटल पर शोभित कुंचित कच अरुझात ।
मानहुं कनक कंज मकरंदहिं पीवत अलि न अघात ॥

दुख मोचन लोचन रतनारे फूले जनु जलजात ।
चंचल पलक निकट श्रवननि के पिसुनि कहत जनुबात ।।
नक बेसरि वंशी के संभ्रम भोंह मीन अकुलात ।
मनि ताटंक कमठ घूँघट डर जाल बँधे पछितात ।
स्याम कंचुकी माँझ सांझ फूले कुच कलश न मात ।
मानहुँ मद गयंद कुंभनि पर नील वसन फहिरात ।
नख शिख सहज सुंदरिहि विलसत सुकृती स्यामल गात ।
यह सुख देखत व्यास और सुख उड़त पुराने पात ।।

राग षट

सुभग गोरी के गोरे पाँइ ।
श्याम काम वश जिनहिं हाथ गहि राखत कंठ लगाइ ।।
कोटि चन्द नख मनि पर वारौं गति पर हंस के राइ ।
नूपुरि ध्वनि पर मुरली वारौं जावक पर व्रजराइ ।।
नाँचत रास रंग मँह सरस सुघंग दिखावत भाइ ।
जमुना जल के दूरि करत मल चरननि पंक छुटाइ ।।
सघन कुंज वीथिन में पौढ़त कुसुमनि सेज बनाइ ।
कुंकुम रज कर्पूर धूरि भुरिकी छबि बरनी न जाइ ।।
धनि वृषभान धन्य बरसानौं धनि राधा की माइ ।
तहाँ प्रगटी नट नागरि खेलत पति सौं रति पछिताइ ।।
जाके परस सरस वृन्दावन बरसत सुखनि अघाइ ।
ताके शरन रहत काकौ डरु कहत व्यास समुझाइ ।।

राग कमोद

रसिक शिरोमनि ललना लाल मिले सुर गावत ।
मत्त मधुर विवि धुनि सुनि कोकिल कूँजित तन-मन-ताप बुझावत ।।
मोर मंडली नाँचति प्रमुदित आनँद नैननि नीर बहावत ।
मन्द-मन्द घन वृन्द गरजि लजि सीतल जल सीकर बरसावत ।।

नाद-स्वाद मोहे गो, गिरि, तरु, खग, मृग, सर, सरिता सचुपावत ।
वृन्दाविपिन विनोदी राधारवन विनोद व्यास मन भावत ॥

रास पंचाध्यायी

नव कुम-कुम जल बरसत जहाँ, उड़त कपूर धूर जहाँ-तहाँ ।
और फूल-फल को गनै ॥
तहाँ श्याम घन रास जु रच्यौ, मरकत मनि कंचन सौं खच्यौ ।
शोभा कहत न आवहीं ॥
जोरि मंडली जुवतिनि बनी, द्वै-द्वै बीच आपु हरि धनी ॥
अद्‌भुत कौतुक प्रगट कियौ ॥
घूँघट मुकट विराजत सिरन, शशि चमकत मनौ कौतुक किरन ।
रास रसिक गुन गाइहौं ।
नील कंचुकी माँडनि लाल, भुजनि नवैया उर बनमाल ।
पीत पिछौरी श्याम तन ॥
सुन्दर मुदरी पहुँची पानि, कटि-तट कछनी किंकिनि बानि ।
गुरु नितम्ब बैनी रुरै ॥
तारा मंडल सूथन जघन, पाइनि पैजनि नूपुर सघन ।
नखनि महावर खुलि रह्यौ ॥
राधा मोहन मंडल मांझ, मनहुँ विराजत संध्या-सांझ ।
रास रसिक गुन गाइहौं ॥
हरषित बैनु बजायौ छैल, चंदहि बिसरी घर की गैल ।
तारा गन मन में लजे ॥
मोहन धुनि बैकुंठहि गई, नारायन मन प्रीति जु भई ।
वचन कहे कमला सुनौ ॥
कुंज विहारी विहरत देखि, जीवन जनम सफल करि लेखि ।
यह सुख हमकौं है कहाँ ॥

श्री वृन्दाबन हमतैं दूरि, कैसे करि उड़ि लागै धूरि ।
रास-रसिक गुन गाइ हौं ।।
तिनहि लिवाय जमुन तट गयौ, दूरि कियौ श्रम अति सुख भयौ ।
जल में खलत रँग रह्यौ ।।
जैसे मद-गज कूल विदारि, ऐसैं खेल्यौ सँग लै नारि ।
संक न काहू की करी ।।
ऐसैं लोक–वेद की मैड़, तोरि कुँवर खेल्यौ करि ऐंड़ ।
मन में धरी फबी सबै ।।
जल–थल क्रीडत ब्रीडत नहीं, तिनकी लीला परत न कही ।
रास-रसिक गुन गाइ हौं ।।

नागरीदास जी

चरित्र—'नागरीदास जी बेरछा के रहने वाले थे और पँवार क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए थे । उनको स्वामी चतुर्भुज दास जी के सङ्ग से रस-भक्ति का रंग लगा और वे वृन्दावन आकर श्री बनचन्द्र गोस्वामी के शिष्य बन गये । उनकी पत्नी उनसे पीछे आईं और दोनों ने एक साथ ही दीक्षा ली ।

'उनको श्री हिताचार्य की वाणी से अत्यन्त प्रेम था । वे प्रति दिन हित-वाणी के किसी एक पद को उठा लेते और चौबीसौ घंटे उसी की भावना में मग्न रहते थे । हित-वाणी के आगे उनको श्रीमद्भागवत की कथा भी फीकी लगती थी और यथा संभव वे उसका श्रवण नहीं करते थे । जो लोग वृन्दावन-रस-रीति से रहित थे, वे उनकी यह गति देख कर दुःख पाते और गुरुकुल से इस बात की शिकायत करते रहते थे ।

'उस समय श्री बनचन्द्र गोस्वामी के पुत्र नागरवर गोस्वामी राधावल्लभ जी के मन्दिर में भागवत की कथा कहते थे। चुगल-खोरों ने उनको नागरीदास जी के विरुद्ध भड़का दिया। एक दिन नागरवर जी ने नागरीदास जी से कहा, 'आज कल दशम स्कंध की कथा हो रही है, इसको तो आपको अवश्य श्रवण करना चाहिये'। नागरीदास जी गुरु-आज्ञा मानकर कथा में पहुँचे तो वहाँ धेनुक-वध का प्रसंग चल रहा था। कथा में, भगवान ने धेनुक के पैर पकड़ कर जैसे ही उसे पछाड़ा, नागरी-दास जी अकुला कर खड़े होगये और कथा-स्थल छोड़कर अपने घर चले गये। उनके इस आचरण से सब लोग चकित हो गये। बाद में, गोस्वामी नागरवर जी ने उनको शपथ दिला कर कथा छोड़कर चले जाने का कारण पूछा तो उन्होंने बतलाया कि वे हित प्रभु के एक पद की भावना में मग्न थे कि भगवान के द्वारा धेनुक के पैर पकड़ कर उसको पछाड़ने की बात उनके कानों में पड़ी और उनका मन यह सोचकर घबरा गया कि जो श्यामसुन्दर मानवती श्री राधा की सुन्दर चिबुक सहला कर उनके मान को दूर करते हैं, उनके हाथों में गधे के पैर कैसे शोभा दंगे !

चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधत*,
तिन कर गदहनि पग क्यों सोभत !

'गुसाईं नागरवर जी ने प्रसन्न होकर उनको अपने हृदय से लगा लिया और निन्दकों को उनकी उच्च स्थिति का ज्ञान

* चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधित, पिय प्रतिविम्ब जनाइ निहोरी।
(हि० च० ७)

कराकर शान्त कर दिया। किन्तु हित-धर्मियों ने उनसे मत्सर करना नहीं छोड़ा और वे उनके भय से वृन्दावन छोड़कर बरसाने में बस गये। अपने चित्त को उस समय की निराशा और असहायता को उन्होंने निम्न लिखित साखी में व्यक्त किया है,

जिनके बल निधरक हुते ते बैरी भये बान।
तरकस के सर साँप ह्वै फिरि-फिरि लागे खान॥

'नागरीदास जी ने बरसाने में गह्वर बन की पहाड़ी पर अपनी कुटी बनाई ×। एक दिन इसी स्थान पर उनको सखियों सहित श्री राधा के प्रत्यक्ष दर्शन हुए। नागरीदास जी प्रेम और सौन्दर्य की उस परात्पर सीमा को सामने उपस्थित देख कर मूर्च्छित हो गये। उनकी उस स्थिति में श्री राधा ने उनसे कहा, 'हम नित्य-प्रति यहाँ खेलने आती हैं। हमको अर्धरात्रि के समय भूख लगती है। इस समय यदि हमको कुछ भोजन कराओ तो शाँति हो।

भूखे हैं हम आधी रैन, या बिरियाँ ख्वावै तब चैन।

'नागरीदास जी ने परम हर्षित होकर उसी समय श्रीराधा को भोजन कराया और उसी दिन से अर्ध रात्रि के समय खीर और पूड़ियों का भोग रखने लगे। उस दिन श्रीराधा ने उनसे दूसरी बात यह कही कि तुम इस जगह मेरा स्थान (मंदिर) बनवाओ और प्रति वर्ष मेरी जन्म गाँठ मनाया करो।

बरसाने में स्थल करौ, मेरो बरस गाँठ उर धरौ।

× यह स्थान आजकल मोरकुटी के नाम से प्रसिद्ध है।

'नागरीदास जी ने अपने साथ रहने वाली रानी भागमती की सहायता से बरसाने में श्री राधा के मंदिर का निर्माण कराया और प्रति वर्ष बड़ी धूम धाम-के साथ उनकी जन्म गाँठ मनाने लगे * ।

'नागरीदास जी के पास एक सिंह रहता था, जो दिन में बन में घूमता रहता और रात को उनकी कुटी पर पहरा देता था। जन्मोत्सवों की धूम धाम के कारण सब लोग उनको धनवान मानने लगे थे और कई बार लोगों ने उनकी कुटी में चोरी करने की चेष्टा की, किन्तु सिंह के कारण कभी सफल नहीं हुए। एक बार अनेक रसिक उपासक विचरण करते हुए उनकी कुटी पर पहुँच गये। नागरीदास जी स्वयं उनके भोजनादि का प्रबंध करने के लिये गाँव की ओर चले तो सिंह कुत्ते की तरह उनके पीछे हो लिया और जब वे सीधा-सामान लेकर वापस आने लगे तो वह उनका मार्ग रोक कर खड़ा हो गया। उन्होंने सामान की पोटली उसके ऊपर रखदी और कुटी पर आकर रसिकों का आतिथ्य-सत्कार किया।

'नागरीदास जी ने नित्य-विहार को हृदय में धारण करके पद और साखियों (दोहों) के द्वारा श्याम-श्यामा की केलि का वर्णन किया है। उन्होंने अपनी वाणी में हित जी के धर्म का वर्णन किया है और हितजी को सर्वोपरि माना है।

---

* 'रसिक अनन्य माल' में भागमती जी का चरित्र भी दिया हुआ है। बरसाने में 'स्थल' (मन्दिर) बनवाने का उल्लेख उसमें भी है—

अरु स्थल करि लीला थर्पी, गुरु व्रजवासिनु कौं निधि अर्पी।

उन्होंने रसिक अनन्यता को अत्यन्त दुर्लभ और त्रिगुण के क्षेत्र से परे की वस्तु बतलाया है ।'

बानी श्री हरिवंश की धर्मो-धर्म प्रतीति ।
करी नागरीदास जू भगवत मुदित सु रीति * ॥

नागरीदास जी राधावल्लभीय संप्रदाय के उन प्रारंभिक रसिक महानुभावों में से हैं जिन्होंने अपने चरित्र और वाणी द्वारा संप्रदाय की नींव को सुदृढ़ बनाया है। ध्रुवदास जी को जिस प्रकार संप्रदाय की रस-रीति को सुगठित बनाने का श्रेय है, उसी प्रकार नागरीदास जी को उसके उपासना-मार्ग को सुव्यवस्थित बनाने का गौरव प्राप्त है। सेवक वाणी में रस-रीति और उपासना-पद्धति दोनों का ही निर्धारण सेवक जी ने किया है। उपर्युक्त दोनों महात्माओं ने अपनी वाणियों में उनको पल्लवित किया है ।

नागरीदास नाम के तीन वाणीकार महात्मा हुए हैं। काल-क्रम में प्रस्तुत नागरीदास जी सबसे प्रथम हैं। इनके बाद में स्वामी हरिदास जी की शिष्य-परंपरा में एक नागरीदास जी हुए हैं। तीसरे नागरीदास पुष्टि मार्ग में हुए हैं। यह कृष्ण-गढ़ के राजा थे और नागरिया जी के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

लेखक ने नागरीदास जी के ९३७ दोहे और ३३१ पद देखे हैं। इनके अनेक पद प्रवाहशील व्रज-भाषा में हैं। कुछ पदों में बुंदेलखंडी शब्दों का पुट अधिक है और शब्दों की तोड़-मरोड़ भी काफी है किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव की मोहर हर शब्द पर

---

* भगवत मुदित जी कृत चरित्र का संक्षिप्त गद्य रूपान्तर।

लगी हुई है। इनका वाणी-रचना-काल सं० १६२० से सं० १६६० तक माना जा सकता है। इन्होंने विहार-वर्णन के साथ प्रेम-भजन का बड़ा सूक्ष्म और भाव-पूर्ण वर्णन किया है।

नागरीदास जी का एक आत्म-परिचयात्मक सुन्दर सवैया मिलता है—

सुन्दर श्री बरसानौ निवास और बास बसौं श्री वृन्दावन धाम है।
देवी हमारें श्री राधिका नागरी गोत सौं श्री हरिवंश कौ नाम है॥
देव हमारें श्री राधिकावल्लभ रसिक अनन्य सभा विश्राम है।
नाम है नागरीदासि अली वृषभान लली की गली कौ गुलाम है॥

ध्रुवदास जी ने 'भक्त नामावली' में नागरीदास जी के संबंध में लिखा है,

नेही नागरी दास अति जानत नेह की रीति।
दिन दुलराई लाड़िली लाल रँगीली प्रीति॥

इनके कुछ दोहे और पद यहाँ दिये जाते हैं।

दोहा

जब लगि सहज न बदलई फूरै न जहँ-तहँ भाव।
पंथ पावनौ कठिन है कीने कहा बनाव॥
सुगम-सुगम सब कोउ कहैं अगम भजन की घात।
जौ लगि ठौर न परसि है कहि आवत है बात॥
विषै-वासना जारिकै झारि उड़ावै खेह।
मारग रसिक नरेश के तब ढँग लागै देह॥
तन-मन साधे ही फिरै झूठे लोभ न देइ।
हिये दृष्टि सँग भजन के जहाँ-तहाँ सुख लेइ॥
मारग रसिक नरेश के निपट विकट है चाल।

तन-मन औंटि, सिराय, गरि वृथा बजावत गाल ।।
मूरति नैननि में रमी हिय मधि गुन रहे पूरि ।
दसा न कोऊ समुझि है प्रेम पहुँचनौ दूरि ।।
धरैं हिये मधि डोलिहौं सबकौं माथौ नाइ ।
जाचौं-राचौं कहुँ नहीं परिपूरन बल पाइ ।।
दृष्टि भजन छाई फिरै नई-नई रुचि प्रान ।
सुख गुन कहै लड़ावनौं उर में रूप सयान ।।
प्रेम गहे मन नैन जे तिनकी चितवनि आन ।
जाके हियरा हिलग हैं सोई जानैं जान ।।
प्रेम हिलग की दीठि दृग लागि रहे जिहिं ठौर ।
कछू कठिन सौ पैंच है वाके मन की दौर ।।
तन-मन दशा बदल गई हिये-हिलग के भार ।
तिन अँखियनि की कठिन है ढरी प्रेम ढँग ढार ।।
रूप-अनूप के कूप परि मन नहि बूँद अघाइ ।
जौं लगि हियौ न भरि उठै याही तें अकुलाइ ।।
रूप झकोरनि मन झपै बूड़ि-बूड़ि उछकाइ ।
अँग-अँग पानिप उर रमी ज्यौं जकि-थकि अकुलाइ ।।
रसिक शिरोमनि लाल तें गाढ़ी गर्भित घात ।
वस्तू तैं अति जगमगै अलक लड़े की बात ।।
बानी जाने जानिहै आन सयान अँधेरु ।
जगमगात मग ऊजरौ महिमा मंगल मेरु ।।
बानी सुधा समुद्र सुख मोद माधुरी नीर ।
खेलै मंगल मीन मन वस्तु तरंग गँभीर ।।
प्रेम भजन की चटपटी ताहि सुहाइ न आन ।
कल काहे की रैन दिन रति जब पकरचौ प्रान ।।

पद

व्यास सुधा रस सागर तैं प्रगटे शशि श्री हरिवंश गुसाँई।
न घटै छिन-ही-छिन होत उदोत जु कीरति तीनहुँ लोकनि छाई ।।
चकोर अनन्यनि कौं मधु प्याय दिखावत केलि ज्यौं दर्पन झाँई ।।
भई सब नागरी दासि खवासी श्री राधिका वल्लभ जू मन भाई ।

खरोई कठिन है भजन ढिग ढारिवौ ।
तमकि सिंदूर मेलि माथे पर साहस सिद्ध सती कौ सौ जरिवौ ।।
रण के चाइ घाइल ज्यौं घूमैं मुरै न गरूर सूर कैसौ लरिवौ ।
नागरि दास सुगम जिन जानौं श्री हरिवंश पंथ पग धरिवौ ।।

प्रबल प्रेम वर तत्व पायौ ।
जाकौ आदि अंत, मधि, नाहीं रसिक नृपति जू अदिख दिखायौ ।।
दुर्लभ दुर्घट दुर्गम ठाहर जाकौं प्रभु अलि मारग धायौ ।
नागरीदास श्रीव्यास सुवन जू अकह भजन निरवधि पकरायौ ।।

बरसानौं हमारी रजधानी रे ।
महाराज वृषभानु नृपति जहाँ कीरतिदा सुभ रानी रे ।।
गोपी–गोप ओप सौं राजैं बोलत मधुरी बानी रे ।
रसिक मुकट मणि कुँवरि राधिका वेद पुरान वखानी रे ।।
खोरि साँकरी मोहन ढ्क्यौ दान-केलि रति ठानी रे ।
गहवर-गिरिबन वीथिनु विहरत गढ़ विलास सुखदानी रे ।।
दूध–दही–माखन रस घर–घर रसना रहत लुभानी रे ।
पान करन कौं अमृत सार सर भानोखर कौ पानी रे ।।
सदा–सर्वदा पर्वत ऊपर राजत श्री ठकुरानी रे ।
अष्ट-सिद्धि नव-निधि कर जोरैं कमला निरखि लजानी रे ।।
दीनें लेत न चार पदारथ जाचक जन अभिमानी रे ।
नागरि दास वास बरसानैं भागमती जग जानी रे ।।

राग चर्चरी

उघरि मुख मुसकि मृदु ललित करताल दै,
सुरत तांडव अलग लाग लीनी ।
विविध विध रमित रति देत सुख प्रानपति
छाम कटि किंकिनी कुनित कीनी ॥
उरप तिरपनि लेत सरस आलाप गति,
मुदित मद दैन मधु अधर दीनी ।
अमित उपजनि सहित सार सुख संचि रति,
भाम हिय लखत रमि रंग भीनी ॥
स्वाद चौंपनि चढ़ी लाड़ लाड़िली लड़ी,
अवनि दुति तन तड़ित घन सुछीनी ।
कोक-संगीत गुन मथन की माधुरी,
नागरीदासि अलि दृगनि भीनी ॥

राग भैरौं

प्यारी जोर करज तन मोरत ।
बंक विशाल छबीले लोचन भ्रुव विलास चित चोरत ।
कनक लता सी आगें ठाड़ी मन अरु दृष्टि अगोरत ।
उघरी वर कुच-तटी-पटी तें छवि मर्जादहि फोरत ॥
अति रस विवस पियहिं उर लावत केलि-कलोल झकोरत ।
नागरिदास ललितादि निरखि सुख लै बलाइ तृन तोरत ॥

आजु सखि अद्भुत भाँति निहारि ।
प्रेम सुदृढ़ की ग्रंथि परि गई गौर-श्याम भुज चारि ॥
अबही प्रात पलक लागी हैं मुख पर श्रमकन वारि ।
नागरीदासि रस पिवहु निकट ह्वै अपने वचन विचारि ॥

मलार

कनक पत्रावलि झूँमत घूँघट ।
लहँगा पीत कंचुकी कसूँभी तैसौई गोरे तन लसत नील पट ।।
केसर की आड़ जराइ कौ बैंदा तैसीय मुख पर रुरत ललित लट ।
वर बानिक छवि रहि पिय नैननि नागरीदास धीरज न रह्यौ घट ।।

लालस्वामी जी

चरित्र—'लालदास जी जाति के ब्राह्मण थे, मुगलों की नौकरी करते थे, क्षत्रियों की भाँति रहते थे और उनही जैसा आचरण करते थे। एक दिन वे किसी कार्य से देवबन गये और वहाँ श्री रंगीलाल जी के मंदिर के निकट कहीं ठहरे। शृंगार आरती के समय जब पड़ौस के लोग दर्शनों के लिये जाने लगे तो लालदास जी भी साथ हो लिये। मंदिर में हिताचार्य के तृतीय पुत्र श्री गोपीनाथ जी आरती कर रहे थे। उनके दर्शन करके लालदास जी के चित्त पर अद्भुत प्रभाव पड़ा और वे मंदिर में ही बैठकर रह गये। उनके साथियों ने उनको बहुत समझाया किन्तु उन्होंने सबको निम्न लिखित दोहा सुनाकर विदा कर दिया।

अति सुगंध हरिवंश-सुत मलयागर कौ बूंट ।
लालदास ढ़िग गहि रह्यौ या मन्दिर कौ खूंट ।।

'सब लोगों के जाने के बाद गोस्वामी गोपीनाथ जी ने उनसे उनका परिचय पूछा। लालदास जी ने सरलता पूर्वक अपना पूरा जीवन-वृत्त उनको सुना दिया और उसी समय एक भाव पूर्ण कवित्त बना कर उनको भेंट किया। श्रद्धा देख कर

गुसाईं जी ने उनको दीक्षा दी और हित पद्धति का भजन-प्रकार उनको समझा दिया। लालस्वामी जी नौकरी छोड़कर वहीं रहने लगे। उन्होंने संतों का वेष धारण कर लिया और स्वामी कहलाने लगे।

'एक दिन लालस्वामी जी भावना में प्रभु को भोग अर्पण करने में व्यस्त थे और अनेक प्रकार की भोजन-सामग्री ला-ला कर उनके सामने रख रहे थे। गोस्वामी गोपनाथ जी भी उस समय श्री रंगीलाल जी को राज भोग रख रहे थे। गुसाईं जी जब भोग रखकर मंदिर से बाहर आये तो उन्होंने लाल स्वामी जी को बैठा देखा। उनको अँगोछे की आवश्यकता थी। उन्होने लालस्वामी जी के हाथ में एक रुपया रख कर उनसे अंगोछा लाने को कहा। लालस्वामी जी उस समय भावना में प्रभु के लिये मोदक लेने जा रहे थे। गुरुदेव की आज्ञा सुनकर वे बाजार दौड़ गये और एक रुपये के मोदक ले आये। श्री गोपीनाथ जी को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने लालस्वामी जी को शपथ दिलाकर सत्य बात बतलाने को कहा। स्वामी जी ने अपनी भावना का पूरा वृत्तान्त उनको सुना दिया। गुसाईं जी ने मंदिर में जाकर देखा कि लाल स्वामी जी ने जो-जो पकवान भावना में भोग रखे थे वे सब प्रगट रूप में ठाकुर जी के थाल में रखे हैं। उस दिन से गुरु-देव लालस्वामी जी का बहुत गौरव रखने लगे और अपने मन की गुप्त बातें भी उन्हें बताने लगे।

'लालदास जी की ऐसी स्थिति सुनकर उनका सारा कुटुंब

उनसे मिलने के लिये देवबन आया। उन्होंने सबको दीक्षा दिलवा दी और गुरु-आज्ञा मान कर उन लोगों के साथ घर चले गये। घर में रह कर लालस्वामी जी अपने भजन-भाव में ही रात-दिन निमग्न रहते थे। श्याम-श्यामा की जो केलि अनुभव-पथ में आती थी, उसका वर्णन वे पद-रचना करके कर देते थे। उन्होंने अपनी वाणी में श्री हरिवंश के प्रताप का वर्णन किया है और गुरुकुल को प्रभु के समान माना है। जो साधु-संत उनके घर आ पहुँचते थे, उनका आतिथ्य वे अत्यन्त प्रीति पूर्वक करते थे।

'एक दिन वे एक संत के साथ बैठ कर भोजन कर रहे थे। उनकी पत्नी ने संत को तो थोड़ी खीर परोसी और उनको अधिक और घृत-युक्त दी। स्वामी जी ने यह देख कर अपनी थाली संत के सामने सरका दी और उनकी थाली स्वयं ले ली। उनकी पत्नी ने कहा कि यह थाली आपको है तो कहने लगे कि तुमको जिस प्रकार अपना पति प्रिय है, उसी प्रकार मेरा पति मुझे प्रिय है। उनकी पत्नी उस दिन से उनका स्वभाव समझ गई और संतों की निष्कपट भाव से सेवा करने लगी। स्वामी जी सदैव रूखा-सूखा खाकर संतों को उत्तम भोजन कराते थे। अपने ठाकुर जी के उत्सवों में वे अपना सर्वस्व लगादेते थे और पति-पत्नी के पास केवल एक-एक धोती बच रहती थीं।

'स्वामीजी के एक सुन्दर पुत्र था। एक धनवान ब्राह्मण उसके साथ अपनी लड़की का संबंध करना चाहता था। उसने

घर-वर देखने के लिये कुछ लोग स्वामी जी के यहाँ भेजे। उन लोगों ने आकर देखा कि स्वामीजी की बैठक साधु-संतों से भर रही है। वे भी एक तरफ बैठ गये। थोड़ी देर में स्वामीजी बाहर से आये और सब लोगों को भोजन कराने के लिये घर में लिवा ले गये। उन्होंने उन चार व्यक्तियों को भी संतों के साथ बैठा दिया किन्तु उनकी पत्नी ने इस बात का विरोध किया और उन लोगों को अलग बैठाकर उत्तम प्रकार का भोजन कराने को कहा। इस बात को सुन कर स्वामी जी एकदम बिगड़ गये और अपनी पत्नी को उसी समय घर से निकाल दिया। उनका उस समय कहा हुआ कवित्त निम्न लिखित है.

सुन्दर प्रकार रचैं मोदक मधुर वर,
उज्ज्वल ज्यौंनार जग करत जमाई कौं।
भवन भँडार आन भूषन वसन बानि,
बहु पकवान थान भामिनी के भाई कौं।
भ्रमत पतित जोई निमित न जानै सोई,
अधिक रसोई करै समधी के नाई कौं।
लाल भनि भोग भुस उदर भरत पसु,
छाड़ै न सुभाव क्यों हू बरजि बिलाई कौं।

'स्वामी जी नें उन चारों व्यक्तियों को साधु-संतों के साथ ही भोजन कराया। उन लोगों ने इसको अपना अपमान माना और थोड़ा-सा खाकर उठ गये। वापिस जा कर कन्या के पिता से उन्होंने स्वामी जी की गार्हस्थिक स्थिति का वर्णन इन शब्दों में किया,

लरिका सुन्दर पंडित जोग, घर में दारिद सौं संजोग ।
बैरागिन के रहैं समाज, तिनके घर कोऊ करै न लाज ॥
मुड़िया आवैं बसेरु जाहिं, बहुतक घर में बैठे खाहिं ।
कोऊ सगारथ कौं कहूँ आवै, राँड़ हू काढ़ि पुरी करि खावै ॥
इनतौ रूखी रोटी दारि, मुड़िया हम समान ज्यौंनारि ।

'किन्तु इस बात को सुनकर कन्या के पिता की श्रद्धा स्वामी जी पर दुगनी बढ़ गई। उसने अपनी लड़की का संबन्ध उन्हीं के यहाँ करने का निश्चय कर लिया और शुभ मुहुर्त निकलवाकर अनेक भूषण, भाजन और बसन सहित दो हजार रुपये का तिलक स्वामी जी के यहाँ भेज दिया। स्वामी जी ने एक वर्ष बाद, गुरूजी के आग्रह पर, अपनी पत्नी को घर बुला लिया किन्तु दंड-स्वरूप उसके संपूर्ण गहनों को बेचकर प्रभु के उत्सव में लगा दिया ! इसके बाद पुत्र का विवाह हुआ। समधी ने स्वामी जी को बहुत धन दिया और स्वयं भी उनका पदानुसरण करके विमल भक्ति करने लगा।'

भगवत् मुदित जी ने चरित्र के अन्त में लिखा है,

भगवत् जे प्रभु सौं लगे तजि नस्वर संसार ।
सब लज्जा भगवान कौं बिगरै क्यों व्यौहार * ॥

इनकी भाषा छटादार है और उसमें शब्दों का जड़ाव देखने लायक है। इनके कवित्त-सवैये रीति-काल की इस प्रकार की प्रौढ़ रचनाओं के समकक्ष रखे जा सकते हैं।

लालस्वामी जी ने अपने एक छप्पय में गोस्वामी सुन्दर

* भगवत मुदित जी कृत चरित्र का संक्षिप्त गद्य-रूपान्तर ।

वर जी को 'तिलक' होने का उल्लेख किया है*। उक्त गोस्वामी जी श्री हिताचार्य के नाती थे और विक्रम सं० १६६६ में उनकी गद्दी पर विराजमान हुए थे। अतः लाल स्वामो जी का रचना काल सं० १६३० से सं० १६७५ तक मानना चाहिये। इनकी वाणी के कुछ छंद देखिये,

मंडल रास विलास महा रस मंडित श्री वृषभानु दुलारी ।
पंडित कोक संगीत भरीं गुन कोटिन राजत गोप कुमारी ॥
प्रीतम के भुज दंड में शोभित संगम अंग अनंगनि वारी ।
तान तरंगनि रंग बढ़चौ एसे राधिका वल्लभ की बलिहारी ॥
केलि के मंदिर सेज सरोजनि लाड़िली लाल दियें गरबाहीं ।
देखनि मध्य निमेष महा दुख लोचन लोल तृषा न सिराहीं ॥
साँवल उज्ज्वल केलि कलारस माधुरीसार सुधा बरसाहीं ।
गाइन चारत मल्ल पछारत कुंज के आँगन आवत नाहीं ॥
नंद कुमार की लीला अपार औतार अनेक गनैं नहिं जाहीं ।
नित्य विहार विलास अभंग सुभंग अनंग त्रिषा न बुझाहीं ॥
लाड़िलीलाल महा प्रभुता बिलसैं सरसें अति ही मन माहीं ।
पुंज भरे सुख सेज सरोजनि कुंज के आँगन आवत नाहीं ॥
प्रेम परावधि राधिका जू अभिअन्तर भाव अखंड रहाहीं ।
बिखरचौ मन मोहन लंपट कौ बिथुरी लट संपुट पंगु कराहीं ॥
दरसैं परसैं रस में बरसैं अतिसै तरसैं न त्रिपित्त कराहीं ।
पुंज भरे सुख सेज सरोजनि कुंज के आँगन आवत नाहीं ॥
कहा तीरथ परबत-बन गाहन ऊपर चरन नारि तर लरकी ।
कंकर कंट पाँइ पनही बिनु चूरन करी धूरि सब घरकी ॥

---

* श्री सुन्दर वर तिलक गहत गिरिवर गुरु आसन ।

परबी परब पुन्य करि गर्वित निबरत गिरत स्वर्ग गति नरकी ।
लाल कृपाल प्रेम रस बंधन निर्भै भक्ति राधिका वर की ।।

छप्पय

एक मेघ मनि मुकुर एक मृदु कनक कलेवर ।
नग भूषन जगमगत अंग भुज दंड जुरे उर ।।
रस मय मधुर किशोर जोर दरसन चितवित हर ।
दिनकर निकर अनंग चंद नाहिंन नख पटतर ।।
बलि-बलि श्री हरिवंश हित जिन नाम सकल भव-भ्रम हर्यौ ।
जुग संगम कल कुंज बिच जिन बिखरत मन संपुट कर्यौ ।।

जद्यपि दादुर नीरज के ढिंग तीर रहै न शरीर छुवावै ।
राग करै अनुराग विना पुनि साग सलौंनौ अलौंनौई भावै ।।
रेत के खेत में खाँड़ खिपै ज्यौं दुरद्द तें दूरि पिपीलिका पावै ।
श्री हरिवंश गुसाईं कृपा बिन हेत पदारथ हाथ न आवै ।।

छप्पय

अक्षर तरल तरंग वेद विद्या बिनु पारहि ।
सब्द-सिंधु गंभीर लहरि कहाँ लगि अवधारहि ।।
चितत्रित हित हरिवंश विमल वृन्दावन रंजन ।
कुंज धाम धन धूरि नित्त जमुना जल मंजन ।।
श्री राधावल्लभ लाल पद सेवन गावन पठन रट ।
तरक पंथ जिन भ्रमहि मन जो भल भाग ललाट पट ।।

छंद

प्रमुदित हित हरिवंश विवस वृषभानु दुलारी ।
प्रमुदित हित हरिवंश सकल वंदहि व्रजनारी ।
प्रमुदित हित हरिवंश कुंज पुंजनि सुख केरौ ।
प्रमुदित हित हरिवंश लोक जल थल निजु चेरौ ।।

मन मुदित लाल हरिवंश हित त्रय ताप पाप हिय हरत भय ॥
ललित त्रिभंग तरंग चित नित-नित हित हरिवंश जय ॥

वृन्दावन सुख रूप धूप धुंसन तन मन की ।
मंदिर कुंज अनूप रेनु रस संपति जन की ॥
राधा नित्त विहार लाल ललना सुख लूटत ।
भुज बंधन, दृग बंध, प्रेम बंधन नहिं छूटत ॥
आदि अंत अरु मध्य जुगल लोचन जीवन धन ।
सर्वसु प्रान अधार रहौ संतत मेरे मन ॥

मुकुट लटक भाल भृकुटि मटक लाल,
लोचन विसाल रस कोमल कलोलहीं ।
पीत पट झलकत साँवरे सरीर पर,
रुचिर कपोल कल कुंडल विलोलहीं ।
कंज माल बन माल मोतिनु की माल उर,
नूपुर मधुर मिलि किंकिनी सौं बोलहीं ।
ऐसे नृप नंद सुत प्यारी कल कंठ भुज,
प्राननाथ प्यारे मेरे तारे पर डोलहीं ॥
वसन बरन घन भामिनी सरीर गौर दामिनी सी,
वारौं कोटि जामिनी रु भोरहीं ।
पीतपट झलकत कुंडल किरन मिलि,
मंडल तरनि घन मदन मरोरहीं ॥
बरसत महा मधु राधिका रवन लाल,
जुगल विशाल दृग राग रंग बोरहीं ॥
झूलत भँवर मन महा मकरंद पान,
फूलत मुखारविंद झूलत हिंडोरहीं ॥

कुंडलिया

मुरली नूपुर मधुर धुनि लाल-बाल सुर गुंज ।
सुनी न अपनै मीत की कहा बसि कीन्हौं कुंज ।।
कहा बसि कीन्हौं कुंज पुंज सुख कैसैं पाये ।
दरस परस विनु भये नैन मन कहा सिराये ।।
संभ्रम भीर बहीर परि, चितहिं न कियौ विचारि पुनि ।
उरली बातनि रमि रह्यौ, मुरली सुनी न मधुर धुनि ।।

इतहिं नंद आनंद पूत प्रगटित व्रज नाइक ।
उत वृषभान विनोदनि धनि कन्या सुखदाइक ।।
साँवल उज्वल नवल जलद विग्रह परिवारिक ।
सीतल मंजुल दमक जोति मधु सुखद निहारिक ।।
नंदीसुर वृषभानु पुर बढ़ौ दिनहि दिन छवि धरन ।
लाल भजन भाँवरि भरन नव किशोर जुगपद सरन ।।

दीपति जोति प्रकाश परावधि स्याम सरीर गहीर उज्यारौ ।
प्रेम अनंग तरंग प्रवीन नवीन सनेह बढ़ावन हारौ ।।
केलि कलारस बेलि विलंबिन झेलि भरचौ सुख लाल पियारौ ।
बानिक वेष निमेष हरचौ हिय हैरी कहूँ कल बाँसुरी वारौ ।।

औतार अपार विचारु सकौं नहिं ब्रह्म विचारत बुद्धि सकेली ।
नंद कुमार की लीला उदार कथा सत सिंधु सुधा सुख झेली ।।
दान की मागनि कुंज की डोलनि रास विलास महारस केली ।।
मो मन लंपट मोद मधुव्रत मादक दंपति की रति बेली ।।

जोरि तोरि बहु जुगति बनावत बुनि उधेरि डाटत बहु डाट ।
चितवत चिनत रचत मठ मंडप छिन में मेंटि करत उतपाट ।।
मन मतंग बिष बेलि विराजत औघट परत छाँड़ि घट घाट ।
लाल प्रेम पद-पद्म बहिरमुख विहरत चित्त बहत्तर बाट ।।

अलसैं विलसैं रस मध्य लसैं अरुझी पट में लट फंदन सौं ।
उकसी उर तैं न उरोज अनी नंदलाल जगे भुज बंधन सौं ।।
चपला परिरंभन मोद मई कल झूमत अंबुद कंधन सौं ।
सखि दंपति प्रेम के पुंज भरीं सुख देखत कुंज के रंध्रन सौं ।।

सनेह शुद्ध श्याम सौं, सकाम लेस है नहीं,
निकुंज धाम धूरि में विवेक वुद्धि सानिये ।
कृपालु जीव-जन्तु सौं, किशोर-जोर जीविका,
कलिंद नंदिनी नदी विनोद मोद मानिये ।।
न आस देह देवकी, न देखिये प्रपंच ओर,
केलि-बेलि लाल-बाल माधुरी बखानिये ।
न काल भीर चित्त में उदार धीर जीय में,
हरिवंश नाम हीय में विराजमान जानिये ।।

श्री हरिवंश काल के अन्य प्रमुख वाणीकार

श्री कृष्णचंद्र गोस्वामी—यह श्री हिताचार्यके द्वितीय पुत्र थे और इनका जन्म सं० १५८७ में हुआ था। यह संस्कृत के बड़े अच्छे विद्वान और सुकवि थे। ब्रज-भाषा में भी यह सुन्दर पद-रचना करते थे। इनका कोई ग्रन्थ तो लेखक ने नहीं देखा, लगभग पचास फुटकर पद देखे हैं। इन पदों की भाषा संस्कृत-शब्द-बहुल और प्रवाह-युक्त है। गोस्वामी जी ने अपने पदों में अनेक अनूठी उत्प्रेक्षाओं की योजना की है। इनके दो पद उद्धृत किये जाते हैं,

राग वसंत

देखहु श्याम विपिन जैसौ लागत ।
उपजत सुख दुख तन-मन भागत ।
अरुन किंशुक छवि मनोहर भाँति ।

मानहुँ वंदन डारें खेलें तरु पाँति ।
रसाल मंजरी चल सननि बुलावत ।।
वल्लरिनु तजि भृंग विट-कुल धावत ।।
भ्रमत भ्रमर-चय वहु विधि गावत ।
मनहुँ अपनें सचु लतनि नचावत ।।
कुँज शिखर पिक वचन सुनावत ।
मानौं मनसिज नृप डिंडिमी बजावत ।।
सौरभ पवन भुव मंडल सुवासित ।
मनहुँ सयन उठि मदन उसासित ।।
कमल कोर किंहिं विधि विकसात ।
मनहुँ सोवत निसि आलस जँभात ।।
तैसिये तुम्हारी छवि राधा जू सौं छाजत ।
मानौं बिनु रितु घन दामिनि में राजत ।।
(जैश्री) कृष्णदास हित नित रसना लड़ावत ।
याही तें राधिका पति पद सुख पावत ।।

पद

हरि दासनि सौं गर्व न करिबौ ।
इहि अपराध परम पद हूतें उतरि नर्क मैं परिबौ ।।
हम कुल-जात धनी ये भिक्षुक रंच न मन में धरिबौ ।
राज सिंहासन ऊँट अश्व चढ़ि भव सागर नहिं तरिबौ ।
यह मति भली नहीं आपुन बढ़ि नर कूकर अनुसरिबौ ।
हरि सेवी जस गायक कौं लघु मानत नेंकु न डरिबौ ।।
अपनें दोष निपट आँधे पर दोष कुतर्कनि जरिबौ ।
वृथा चातुरी वाद जनम तें भलौ गर्भ में गरिबौ ।।
खान पान ऐंड़ात भले जो वदन पसार न मरिबौ ।
(जैश्री) कृष्ण दास हित धरि विवेक चित साधुन संग उवरिबौ ।
(यह पद सूरदास जी के नाम से प्रचलित है ।)

सेवक जी—इनका जन्म गोंड़वाने के गढ़ा* नामक ग्राम में ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनका नाम दामोदरदास जी था। रसिक संतों के मुख से श्री हिताचार्य की अद्भुत रसिकता का वर्णन सुनकर सेवक जी ने उनको गुरु-रूप में वरण कर लिया किन्तु गृहस्थ के झंझटों के कारण वृन्दावन जाकर उनसे दीक्षा न ले सके। उधर हित प्रभु का निकुंज-वास होगया। इस समाचार से सेवक जी को अत्यन्त तीव्र विरहानुभव हुआ। उनकी अनन्य निष्ठा देख कर हित प्रभु ने उनको स्वप्न में मंत्र दान किया और वृन्दावन का रसमय वैभव उनको प्रत्यक्ष करा दिया। सेवक जी ने अपनी वाणी की रचना गढ़ा ही में की और उसको लेकर वृन्दावन गये। श्री वनचन्द्र गोस्वामी उस समय हित-गादी पर विराजमान थे। उन्होंने इनके आने पर श्री राधावल्लभ जी का प्रसादी भंडार लुटा दिया और सेवक-वाणी के सम्बन्ध में यह नियम बना दिया कि—

चौरासी अरु सेवक वानी, इक संग लिखत पढ़त सुखदानी।

तब से हित चतुरासी और सेवक-वाणी साथ ही लिखती चली आई हैं और अभी तक इनके जितने छपे हुए संस्करण हुए हैं उनमें भी यह दोनों साथ ही छापी गई हैं।

सेवक-वाणी इस सम्प्रदाय का प्रधान प्रमाण ग्रन्थ है। सेवक-वाणी में सेवक जी की अद्भुत निष्ठा प्रत्येक शब्द से टपकती है। ध्रुवदास जी ने भक्त नामावली में सेवक जी के सम्बन्ध में लिखा है—

---

* यह ग्राम जबलपुर से दो मील की दूरी पर है।

सेवक की सर को करै भजन सरोवर हंस ।
मन बच कै धरि एक व्रत गाये श्री हरिवंश ।।
वंश विना हरि नाम हू लियौ न जाकै टेक ।
पावै सोई वस्तु कौं जाके है व्रत एक ।।

सेवक—वाणी के सम्बन्ध में रसिक जनों में यह बात प्रसिद्ध है,

सेवक वानी जे नहि जानैं, तिनकी बात रसिक नहि मानें ।

सेवक-वाणी के अनेक उद्धरण इस पुस्तक में दिये जा चुके हैं।

स्वामी चतुर्भुजदास जी—सेवक जी के मित्र थे और गढ़ा के ही रहने वाले थे। श्री हिताचार्य के निकुंज-गमन का समाचार सुनकर सेवक जी तो उनही से दीक्षा लेने का हठ लेकर वहीं रह गये और चतुर्भुजदास जी वृन्दावन चले गये और श्री बनचन्द्र गोस्वामी से दीक्षा लेली ।

भजन-सम्पन्न होकर चतुर्भुजदास जी विमल रस-भक्ति के प्रचार में लग गये । उनके साथ अनेक रसिक संत और पंडित लोग रहते थे । उन्होंने अपने देश गौंडवाने के गाँव-गाँव घूमकर लोगों के जीवन में आमूल परिवर्तन कर दिया । मध्य प्रदेश के अनेक स्थानों में वे गये और अनेक राजाओं को शिष्य बनाया ।

चतुर्भुजदास जी बड़े निर्भय और निष्ठावान संत थे । इनके 'द्वादश यश' प्रकाशित हो चुके हैं । यशों के नाम हैं; शिक्षा सकल समाज यश, धर्म-विचार यश, भक्ति-प्रताप यश, संत -प्रताप यश, शिक्षा-सार-यश, हितोपदेश यश, पतित पावन यश, मोहिनी यश, अनन्य-भजन यश, श्री राधा-प्रताप यश, मंगल

सार यश और विमुख-मुख भंजन यश । लेखक ने इनके कुछ पद भी देखे हैं किन्तु स्वामी जी का उत्तम कृतित्व यशों में ही है। यशों में पौराणिक कथाओं और भक्त-चरित्रों के आधार पर प्रेमाभक्ति की सर्वश्रेष्ठता स्थापित की गई है। अधिकांश यशों में उद्धरणों की भरमार है, अतः स्वामी जी की प्रतिभा को अपना प्रकाश करने का अधिक अवकाश नहीं मिला है । श्री राधा-प्रताप यश और मंगल सार यश में स्वामी जी का रचना-कौशल प्रगट हुआ है । श्री राधा प्रताप यश का एक उद्धरण पृ० १६४ पर दिया जा चुका है । मंगल सार यश के कुछ छंद देखिये—

लीला नेम प्रेम पूरित घट, रट राधा गुन गावत हरि जू ।
क्रिया किशोर विहार सार सर, तन मज्जन जु करावत हरि जू ।।
तर्पन तद आनन्द अश्रु उर, कुश-बरनिनु जु बहावत हरि जू ।
पुलकित रोम होत सुर नर मुनि, मोद महा सचु पावत हरि जू ।।
ये क्रम सन्त करत सन्तत अति, श्री हरिवंश बताये हरि जू ।
सुधा सार रस रीति जानि कैं, सब रसिकनि मन भाये हरि जू ।।

रसिक अनन्य माल में दिये हुए स्वामी जी के चरित्र से अनुमान होता है कि वे सत्रहवीं शती के द्वितीय दशक में राधा वल्लभीय संप्रदाय में दीक्षित हुए होंगे । उनके धर्म-विचार यश में रचना-काल सं० १६८६ दिया हुआ है । इससे स्वामी जी का दीर्घजीवी होना सिद्ध होता है ।

नाभा जी की भक्तमाल में स्वामी जी के सम्बन्ध में निम्न-लिखित छप्पय मिलता है—

गायौ भक्ति-प्रताप सबहि दासत्व दृढ़ायौ।
राधावल्ल-भजन अनन्यता वर्ग बढ़ायौ॥
मुरलीधर की छाप कबित अतिही निर्दूषन।
भक्तनि की की अंघ्रि-रेनु वहै धारी सिर भूषन॥
सतसंग महा आनंद में, प्रेम रहत भीज्यौ हियौ।
हरिवंश चरन बल चतुरभुज गौंड देश तीरथ कियौ॥
(छप्पय-१२३)

श्री ध्रुवदास काल (सं० १६५० से १७७५ तक)

इस काल में राधावल्लभीय साहित्य को बहुत श्री-वृद्धि हुई। कुछ असाधारण बुद्धि संपन्न महात्मानों ने, इस काल में, प्रेम-विहार के कथन की नई और प्रभावशाली विधाओं को जन्म दिया और परंपरा से बँधे हुए साहित्य को अभिव्यक्ति की अपेक्षित वैचित्री प्रदान की।

इस काल के सबसे बड़े कवि श्री ध्रुवदास हैं। इनका चरित्र रसिक अनन्य माल में दिया हुआ है। यह जाति के कायस्थ और देव वन के रहने वाले थे। इनके बाबा बीठल-दास जी श्री हिताचार्य के शिष्य थे। बीठलदास जी का चरित्र भी रसिक अनन्य माल में मिलता है। ध्रुवदास जी और उनके पिता श्यामदास जी श्री गोपीनाथ जी के शिष्य थे। इसीलिये भगवत् मुदित जी ने ध्रुवदास जी को 'परंपराय अनन्य उपासी' लिखा है।

'देव बन में थोड़े दिन रहने के बाद ध्रुवदास जी वृन्दावन चले गये। वहाँ वे यमुना तट की सघन कुंजों में युगल-केलि का चिंतन करते हुए घूमने लगे। जो कुछ उनके मन में प्रति-

भासित होता था, उसका वाणी के द्वारा गान करने की उनकी तीव्र इच्छा थी किन्तु उनसे वह बनता न था–'उर आवै मुख तैं नहिं कढ़ै।' क्रमशः रूप-गुण-गान की यह इच्छा इतनी प्रबल बन गई कि उसको पूर्ण करने के लिये वे अन्न-जल त्याग कर हितप्रभु द्वारा स्थापित रास मंडल पर पड़ गये। इस स्थिति में दो दिन व्यतीत हो गये। तीसरे दिन अर्धरात्रि के समय श्री राधा ने प्रगट होकर उनके शिर में लात मारी। ध्रुवदास जी चौंक कर उठ पड़े। उन्होंने नूपुर-ध्वनि सुनी और उसके साथ ही 'वानी भई जु चाहत कियौ, उठि सो वर सब तोकौं दियौ।'

'ध्रुवदास जी ने कृतार्थ होकर गुण-गान आरंभ कर दिया। उन्होंने अनेक आर्ष-पौरुष ग्रन्थों को देखा और श्रुति-स्मृति-पुराणों से नित्य प्रेम-विहार को प्रमाणित किया। उनके हृदय में श्याम-श्यामा की अनेक नई लीलायें प्रतिभासित हुई और रसिकों के लिये उन्होंने उन सबका प्रकाश अपनी वाणी में किया।'

'ध्रुवदास जी की वाणी का तात्कालिक सहृदय समाज पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा,

कोमल वाणी सबकौं भावै, अक्षर पढ़त अर्थं दरसावै ।
दिस-दिस घर-घर प्रगटी बानी, रसिकनि अपनी निधि करि जानी ॥
चारि दिसानि समुद्र प्रजंत, बानी पढ़ैं सुनैं सब संत ।
बानी सुनि-सुनि भये उपासक, कर्म-ज्ञान तजि भये बन-बासिक ॥
गुरु गुरुकुल सब भये प्रसन्न प्रीति-रीति लखि कहैं धनि धन्य ।

'श्रीराधावल्लभ लाल जब वन-विहार के लिये पधारते थे, तब ध्रुवदास जी की कुटी पर ठहरते थे और वहाँ भोग, आरती और भेंट ग्रहण करके मंदिर में वापिस आते थे।'

बानी हित ध्रुवदास की सुनि जोरी मुसिकाँति ।
भगवत् अद्भुत रीति कछु भाव-भावना पाँति * ।।

ध्रुवदास जी ने प्रेम-वर्णन की एक नई विधा को जन्म दिया है । भगवत् मुदित जी ने इस नवीन विधा को 'अद्भुत रीति' कहा है । प्रेम मनुष्य के मन की वह वृत्ति है जो तर्क को स्वीकार नहीं करती । अतः प्रेम का दर्शन तर्क पर आश्रित न होकर, स्वभावतः, मनोविज्ञान पर आधारित है । हितप्रभु ने प्रेम के मनोविज्ञान के ऊपर ही अपने प्रेम-दर्शन और उपासना को खड़ा किया है । इसके लिये उनको प्रेम वर्णन की प्रचलित रीति में आवश्यक परिवर्तन करने पड़े हैं किन्तु उनकी शैली की बाह्य रेखायें लगभग वैसी ही हैं जैसी परम्परागत शैली की । इसीलिये स्वयं हिताचार्य की वाणी से उनके अनन्य साधारण प्रेम-दर्शन को समझना कठिन हो जाता है । ध्रुवदास जी ने प्राप्त परिपाटी का सर्वथा परित्याग करके प्रेम का वर्णन उसके सहज मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है । उनके लिये श्रीराधा कृष्ण प्रेम और रूप की उज्ज्वलतम मूर्तियाँ हैं तथा प्रेम और रूप प्रेम की दो अभिव्यक्तियाँ हैं जो एक दूसरे में ओत-प्रोत होते हुए भी स्वतंत्र हैं ।

साधारण मनोविज्ञान की दृष्टि से राधाकृष्ण को प्रेम का प्रतीक(Symbol) मानना चाहिये किन्तु राधावल्लभीय

---

* श्री भगवत् मुदित जी कृत चरित्र का संक्षिप्त रूपान्तर

रसिकों के अनुसार शुद्ध प्रेम के क्षेत्र में साधारण मन और उसका मनोविज्ञान काम नहीं देते। शुद्ध प्रेम के अनुभव के लिये उस मन की आवश्यकता होती है जो एक बार मर कर पुनः एक नवीन प्रेममयी भूमिका में जीवित होता है। यही मन प्रेम की अनाद्यनंत, आनंदमयी क्रीडा का आस्वाद करता है और इसी के मनोविज्ञान को आधार बनाकर श्री ध्रुवदास ने इस अद्भुत प्रेम-कीड़ा का वर्णन किया है। रसिक भक्तों के प्रेममय मन में श्री राधाकृष्ण रूप और प्रेम के प्रतीक मात्र नहीं हैं, उनके रूप में प्रेम के शुद्धतम भोक्ता-भोग्य मूर्तिमान हुए हैं। प्रेमोपासना में प्रतीक वाद (Symbolism) के लिये तनिक भी अवकाश नहीं है। ध्रुवदास जी राधा-कृष्ण को 'प्रेम के खिलौना' कहते हैं और साथ ही उनको प्रेम-खेल का खिलाड़ी भी बताते हैं--'प्रेम के खिलौना दोऊ, खेलत हैं प्रेम खेल'। इनके एक-एक अंग से प्रेम की अनंत दशायें प्रकाशित होती रहती हैं। प्रेम का खेल जिस प्रकार अपार, अनंत और नित्य वर्धमान है उसी प्रकार इस खेल को खेलने वाले भी हैं।

श्री राधावल्लभ प्रेम के मूर्तरूप हैं। साधारणतया मूर्त को स्थूल और परिमित तथा अमूर्त को सूक्ष्म और अपरिमित माना जाता है। अमूर्त को हृदयंगम करने के लिये उसकी मूर्ति की कल्पना की जाती है किन्तु ध्रुवदास जी के रूप-वर्णन की यह मुख्य विशेषता है कि वे मूर्त के सादृश्य में अमूर्त को ही अधिकतर उपस्थित करते हैं। यह बात इतनी मात्रा में तथा इतने अच्छे ढंग से व्रज-

किसी कवि की रचना में देखने को नहीं
दासजी के कुछ रूप वर्णन देखिये,

प्रेम
घन
सी
राध
कर
मूर्ति
रं
बन
जा

ल रह्यौ झलकि कैं तैसिये माँग सुरंग ।
अत्र सुहाग कौ लिये अनुरागहिं संग ॥
ार हीरावली बिच-बिच मनि झलकाहिं ।
मैन तरंग उठैं, रूप सरोवर माहिं ॥
नाभि गँभीर ढिंग रोमावलि अनुसार ।
नकसी कमल तैं सूक्षम रेख सिंगार ॥
बिच फगुआ फब्यौ अरुन भये छवि कौन ।
अनुराग मनौं निजु सिंगार के भौन ॥
ुरंग सारी सुही पहिरत भरी सुहाग ।
रि मनौं उमगि कै प्रगट्यौ पिय अनुराग ॥

रूप
धाम
घनि
और
अमूर्त
पर

से उन्होंने नित्य विहार के चारों रूपों का । यहाँ तक कि लीला से सम्बन्धित सम्पूर्ण वस्तुओं का परिचय वे इसी शैली से देते हैं। म वृन्दावन में बहने वाली यमुना को कहीं तो ृंगार) की पनारी' बतलाया है और कहीं को 'द्रवीभूत आनंद का प्रवाह' कहा है। मध्य में रत्न खचित छत्री को वे 'कामदेव ़ल' कहते हैं। वृन्दावन में मत्त घूमने वाली मधुर गुंजार का सादृश्य वे 'अनुराग के मेघों

प्रेम
के
दिखा

के साथ करते हैं और विहंगों के कूजन की यं रागनियों के द्वारा किये गये तान तरंग को हैं,

मधुर-मधुर गति ताल सौं कूंजत विविध विहंग ।
मनौ द्रुमनि चढ़ि रागिनी गावत तान-तरंग ॥
(सभा मंडल लीला)

इतना ही नहीं, प्रेम के मूर्त रूप श्री राधाकृष्ण को वे अमूर्त भावों और गुणों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और सौंदर्य व्यञ्जक मानते हैं ।

निम्नलिखित रूप-वर्णन में ध्रुवदास जी ने अमूर्त को मूर्त के ऊपर न्यौछावर होता हुआ दिखलाया है ।

छवि ठाड़ी कर जोरैं गुन-कला चौंर ढ़ौरैं,
दुति सेवै तन गोरै रति बलि जाति है ।
उजराई कुँज ऐन सुथराई रची सैन,
चतुराई चितै नैन अति ही लजाति है ।
राग सुनि रागनी हूँ होत अनुराग बस,
मृदुताई अंगनि छुवति सकुचाति है ।
हितध्रुव सुकुमारी पुतरीन हूँते प्यारी,
जीवत देखै विहारी सुख बरसाति है ।

अनेक स्थलों पर ध्रुवदास जी मूर्त-अमूर्त को एक करके राधाकृष्ण के अद्भुत रूप की व्यञ्जना करते हैं । जैसे,

माधुरी की कुंज तामें मोद की लै सेज रची,
तिहि पर राजैं अलबेले सुकुमार री ।
रूप तेज मोद के जुगल तन जग मगैं,
हाव भाव चातुरी के भूषन सुढ़ार री ॥
(आनंद दसा विनोद)

फूलनि के हाव-भाव फूलनि कौ बढ़यौ चाव,
फूले फूल देखि ध्रुव उमैं तन बन में ।

बरसत सुख फूल सुरत हिंडोरे झूल,
फूल ही की दामिनी लसत फूल घन में ॥
(भजन शृंगार शत)

यहाँ फूल से तात्पर्य प्रेम की फूलन से है। श्री राधा को प्रेम की फूलन की दामिनी और श्री कृष्ण को उस फूलन का घन कहकर, श्री ध्रुवदास, यहाँ मूर्त-अमूर्त के बीच की सीमा तोड़ते मालुम होते हैं। इससे ऊपर के उद्धरण में राधा कृष्ण को रूप, तेज और मोद के युगल शरीर बतला कर वे मूर्त-अमूर्त से विलक्षण किसी अद्भुत प्रेममय युगल मूर्ति की ओर संकेत करते दिखलाई देते हैं। अनंत प्रेम से रंजित अनंत सौंदर्य इन रसिकों के मन और नेत्रों का विषय बना था। ध्रुवदास जी कहते हैं कि इस आनंद को मेरा मन जानता है या नेत्र जानते हैं,

मन जानैं कै दोऊ नैंना–रसना पै कछु कहत बनैना ॥

उनका मन इस आनंद को अमूर्त प्रेम-सौंदर्यानुभव के रूप में और उनके नेत्र इसको अनंत प्रेम और माधुर्य के धाम श्यामा श्याम के रूप में जानते हैं। मन और नेत्रों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन के विना नेत्रों की क्रिया अर्थ रहित है और नेत्रों के विना मन की गति अन्धी है। प्रेम में मूर्त और अमूर्त कुछ इसी प्रकार से परस्पर आश्रित हैं। प्रेम की वृत्ति पर रूप आश्रित हैं और रूप पर प्रेम की वृत्ति।

जिन भक्तों ने भगवान को प्रेम स्वरूप मान कर उनकी प्रेमलीला का वर्णन किया है उनको प्रेम का उत्कर्ष दिखाने के लिये बार-बार प्रेम के मुकाबिले में भगवत्ता का पराजय दिखाना पड़ा है। यह कार्य उन्होंने, निस्सन्देह, बड़े कौशल

और नवनवोन्मेष शालिता के साथ किया है और उनके इस प्रकार के पद भक्ति-साहित्य के आकर्षण माने जाते हैं। किन्तु भगवत्ता जैसे विजातीय तत्व के साथ तुलना करके प्रेम की श्रेष्ठता दिखाने की शैली को ध्रुवदास जी एवं अन्य राधा-वल्लभीय रसिक गण प्रेम वर्णन की स्वभाविक शैली नहीं मानते। उनके लिये राधाकृष्ण 'सहज-प्रेम' की मूर्ति हैं। सहज प्रेम से उनका तात्पर्य अपने रूप में स्थित प्रेम से है। जो प्रेम विजातीय सम्पर्क शून्य है, उसी को यह लोग शुद्ध और अपने स्वरूप में स्थित मानते हैं। भगवत्ता जैसे विजातीय तत्व पर आश्रित प्रेम की सहजता को यह लोग स्वीकार नहीं करते और, इसीलिये, प्रेम को अन्य किसी वस्तु पर आधारित न करके प्रेम पर ही आधारित करते हैं। उनके प्रेम सम्बन्धी इस दृष्टिकोण का ही यह परिणाम है कि ध्रुवदास जी मूर्त प्रेम की समता अमूर्त प्रेम के साथ करते हैं और अमूर्त की अपेक्षा मूर्त को अधिक प्रभावशाली प्रदर्शित करते हैं।

राधाकृष्ण को श्रृंगार लीला का वर्णन, श्री ध्रुवदास, उज्ज्वल रस के उन दो समुद्रों के सुखमय मिलन के रूप में करते हैं जिनमें प्रेम-मदन की तरंगे सहज रूप से उठती रहती हैं। यह मिलन नित्य और निरपेक्ष है और ध्रुवदास जो के शब्दों में एकमात्र प्रेम की ही वहाँ दुहाई फिरती है—एक प्रेम की तहाँ दुहाई। मूर्त-अमूर्त के सादृश्य वाली जिस शैली से उन्होंने रूप का वर्णन किया है, उसी का उपयोग उन्होंने लीला के वर्णन में भी किया है।

एक उदाहरण देखिये,

लपटि रहे दोउ लाड़िले अलबेली लपटान ।
रूप बेलि मनु अरुझि परी प्रेम सेज पर आन ॥

इस शैली की सहायता से एक ओर तो वे 'रूप' को प्रेम का रूप दिखलाने में समर्थ हुये हैं और दूसरी ओर लीला को प्रेम की लीला प्रदर्शित कर सके हैं। वे प्रेम और रूप का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। अत: उन्होंने रूप को लीला मय और लीला को रूपमय वर्णित किया है। यह बात निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगी,

लीलामय रूप,

छबि के छिपाइवे कौं रस के बढ़ाइवे कौं,
अंग अंग भूषण बनाये हैं बनाइ क ।
देखें नासापुट वेह प्रीतम भये विदेह,
याही हेत बेसर बनाइ धरी चाइकैं ॥
रोम रोम जगमगै रूप की पानिप अति,
सकैं न सम्हारि हँसि चितई सुभाइकैं ।
हितध्रुव विवस लटकि जात छिन-छिन,
यातें सखि शोभा सब राखी है दुराइ कैं ॥

(शृंगार सत)

रूपमय लीला,

श्रम जल कन दुति कहा बखानौं, छबि के मोती राजत मानौं ॥
रति विलास की उठत झकोरैं, चँचल दृग अंचल चल कोरैं ।
सुख सर में दोउ करत अलोलैं, मानौं छबि के हंस कलोलैं ॥
ऐसै उमड़ि महा रस ढ़री, मनौं प्यार की वरषा करी ।

(रति मंजरी)

प्रेम की रूपमय लीला स्वभावत: प्रेम समुद्र में उठने वाली रूप–तरंगों के आकार में ही प्रगट होती है और श्रीहित हरिवंश ने अपने कतिपय पदों में इसी रूप में इसका वर्णन किया है। हिताचार्य के इस लीला-विधान को सुस्पष्ट और सुगठित रूप-रेखा प्रदान करने का श्रेय ध्रुवदासजी को है। इसके लिये उन्होंने पद शैली का त्याग करके दोहा-चौपाइयों में लीला-वर्णन किया है। उनके समय में प्रेम-मार्गीय सूफी कवि अपने प्रबंध काव्यों में घटना की धारावाहिकता का निर्वाह करने के लिये दोहा-चौपाइयों का उपयोग कर रहे थे और तुलसीदास जी भी अपने 'रामचरित मानस' का निर्माण इन ही छंदों में कर चुके थे। ध्रुवदास जी को भी लीला की धारावाहिकता का, एक के बाद दूसरी के क्रम से उठने वाली प्रेम-तरंगों की अवलियों का, प्रदर्शन करना था और यह कार्य इन छंदों में ही सुगमता पूर्वक किया जा सकता था। उनकी कई लीलाओं के नामों में भी 'अवली' शब्द लगा हुआ है, जैसे रस मुक्तावली, रस हीरावली, प्रेमावली आदि।

ध्रुवदास जी की लीलाओं में दिखलाई देने वाली प्रेम-तरंगें स्वसम्पूर्ण होती हैं, उनमें एक भाव अपनी स्वाभाविक पूर्णता प्राप्त कर लेता है। किन्तु सभी तरंगें एक प्रेम पर ही आधारित होने के कारण उनमें परस्पर एक सहज और सूक्ष्म सम्बन्ध वर्तमान रहता है। ध्रुवदास जी ने विभिन्न तरंगों के बीच के सहज सम्बन्ध को बड़े स्वाभाविक ढंग से दिखलाया है और कहीं भी 'जोड़' की प्रतीति नहीं होने दी है। पूरी लीला

एक संयुक्त प्रेम-प्रवाह के रूप में पाठक की दृष्टि के सामने उपस्थित होती है और उसका प्रभाव भी वैसा ही पड़ता है।

मूर्त-अमूर्त को मिला कर लीला वर्णन करने का एक परिणाम यह हुआ है कि ध्रुवदासजी के घोर श्रृंगारिक वर्णनों में भी एक अद्भुत उज्ज्वलता और शुचिता के दर्शन होते हैं।

इस प्रकार का एक वर्णन देखिये—

नैन कपोलन चूमि कै लये अंक भुज लाल।
अधर सुधा रस दै मनौं सींचत मैन-तमाल ॥
सुरत सिंधु सुख रस बढ़्यौ अति अगाध नहि पार।
लाज नेम पट दूरि कै मज्जत दोउ सुकुमार ॥
रस विनोद विपरीति रति वर्षत प्यार कौ मेह।
चल्यौ उमिड़ि भर नेम की तोरि मैंड़ जल नेह ॥
अंग-अंग अरुझानि की शोभा बढ़ी सुभाइ।
मृदुल कनक की बेलि मनौं रहि तमाल लपटाइ ॥

(रस रतनावली)

लीलाओं में कहीं-कहीं ध्रुवदास जी ने नित्य-विहार का वर्णन सांग रूपकों के द्वारा किया है। 'मन श्रृंगार-लीला' में 'रति-विलास-ज्यौनार' का विशद वर्णन है, 'हित श्रृंगार-लीला' में 'मैन-रंग-सतरंज' का रूपक दिया है और रसानंद लीला में 'चौपड़ के खेल' का रूपक मिलता है। सुख मंजरी लीला में उन्होंने 'अद्भुत बैदक मधुर रस' का वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त छोटे-छोटे सुन्दर रूपक उनकी लीलाओं में सर्वत्र मिलते हैं। दो उदाहरण दिये जाते हैं—

विपिन देश चहुँ दिसि बहै सरिता श्याम सुदेश।

प्रेम राज राजत तहाँ इक छत युगल नरेश ।।
दुलहिनि रानी सहज ही दूलहु नृपति किशोर ।
रूप छत्र शिर पर फिरै आसन जोवन-जोर ।।
कुंज धाम सखियन सभा प्रजा हंस मृग मोर ।
बसत निरंतर चैन सौं कीनें नैन चकोर ।।
फुलवारी आनंद की फूली छबि अँग-अंग ।
षट रितु मालिन सुख फलनि, देत दिनहि बहु रंग ।।

(हित शृंगार लीला)

नैन दीप हिय थार धरि पूरि प्रेम-घृत ताहि ।
लीनें हित के करनि सौं आरति करत उमाहि ।।

(रस मुक्तावली लीला)

ध्रुवदास जी प्रेम-सौंदर्य के महान कवि हैं। श्री राधा के अद्भुत सौंदर्य के विविध अङ्गों का वर्णन उन्होंने बड़ी सूझ-बूझ एवं सरसता से किया है। श्री हित हरिवंश की शैली के सीधे-सादे अलंकार-हीन वर्णनों में उनकी वाणी अनेक स्थलों पर अपनी मर्यादा का अतिक्रमण करके अतीन्द्रिय सौंदर्य को प्रत्यक्ष कर देती है। सौंदर्य के कुछ अंगों के वर्णन देखिये,

सुकुमारता,

छ्वैं न सकत अंगनि मृदुताई—अति सुकुमार कुँवरि तन माई ।।

(रस हीरावली)

दीठि हू को भार जान देखत न दीठि भर,
ऐसी सुकुमारी नैन प्रान हू तें प्यारी है।

(भजन शृंगार)

× × × ×

काजर की रेख जहाँ पानन की पीक भारी,
और सुकुमारताई कैसे कै विचारिये ।
(भजन शृंगार)

छुवत न रसिक रँगीलौ लाल प्यारी जू कौ,
मन हू के करनि सौं छुवत डरत है ।
प्रेम की नवलासी प्यारी सहजही सुकुमारी,
प्राणन की छाया तिन ऊपर करत है ।
(भजन शृंगार)

गौर वर्ण:—

नेक होत ठाड़ी कुँवरि जिहि फुलवारी माँहि ।
पत्र फूल तहाँ के सबै पीत बरन ह्वै जाहि ।।
(प्रेमावली)

बैठे हैं सेज भरे रस-रंग रँगीली कछू मुरि कै मुसिकाई ।
और की और भई गति लाल की कैसें हूँ कै न कही ध्रुव जाई ।।
हेरत-हेरत रूप प्रिया कौ परे सुख में जिहि ठाँह गहराई ।
गुराई कौ भार भयौ गरुऔ मन बूड़ि गयौ छवि अंबु में माई ।।
(हित शृंगार)

चितवनि,

बड़े-बड़े उज्ज्वल सुरंग अनियारे नैन,
अंजन की रेख हेरें हियरौ हिरात है ।
चपलाई खंजन की अरुनाई कंजन की,
उजिराई मोंतिन की पानिप लजात है ।।
सरस सलज्ज नये रहत हैं प्रेम भरे,
चंचल न अंचल में कैसे हूँ समात हैं ।

हित ध्रुव चितवन छटा जिहिं ओर परै,
तेहि ओर वरषा-सी रूप की ह्वै जात है ॥
(भजन शृंगार)

छवि:—

रोम-रोम रूप कांति पानिप जगमगाति,
मोहिनी कौं देखे आवै मोहन कौं मोहनी।
हित ध्रुव माधुरी मदन मद मोद मई,
अति सुकुमार तन सहज ही सोहनी ॥
दसन दमक देखें दामिनी लजानी जाति,
नख पटतर कौऊ कोहै पति रोहनी ।
अति ही छबीली गोरी बरनि सकत कोरी,
जाके संग फिरैं छकि छबिनु की छोहनी ॥
(हित शृंगार)

रोम-रोम प्रति अमित छवि ज्यौं दधि लहर उठाँति।
चपक अलप बहु प्यास पिय तृषा मिटत किंहि भाँति ॥
(हित शृंगार)

यहाँ गोरे अङ्ग की अमित छवि-तरंगों का 'दधि की लहरों' के साथ सादृश्य दर्शनीय है।

गान:—

कछुक अलाप मधुर धुनि कीनी, मति बुधि सब ही की हरि लीनी।
कबहुँ सुनी न राग धुनि ऐसी, कीनी अबहि कुँबरि सखि जैसी।
राग-रागिनी जूथ लजाये, खोजि रहे ते सुर नहि पाये ।
भृंगी-मृगी सुनत मृदु बानी, थक्यो पवन अरु चलत न पानी।
राग पुंज बरसत बरसा-सी हित ध्रुव गुन सीवाँ सुख रासी।
(निर्त विलास)

नृत्य—

परम प्रबीन मुकट मनि प्यारी, निर्तकला गुन की विस्तारी।
तिरप वाँधि कमलन पर चली, निरखत थकित रहीं ह्वै अली।
जो गति सुनी न देखी कबहीं, नूतन प्रगट करीं ते अबहीं।
अलग लाग हुरमई जु लीनी, प्रगट कला निज गुन की कीनी।
परत आइ मान जेहि दल पर, वैसेई रहत चरन के तर हर।
लाघवता सौं पग रहे ऐसे, परस न होत दूसरे जैसे।
सुलप अनूप चारु चल ग्रीवाँ, सहज सुधंग विलास की सीवाँ।
थेई-थेई कहत मोहिनी बानी, सखियन नैन चले ह्वै पानी।
मुसिकनि मधुर चित्त कौं हरही, चितबनि पासि दूसरी परही।

राधावल्लभीय सिद्धान्त का प्रमेय तत्व 'हित' किंवा मांगलिक प्रेम प्रसिद्ध रहस्यमय तत्व है। प्रेम का भोग्य सौंदर्य है और वह भी अनिर्वाच्य है। प्रेम और सौंदर्य के अद्वय युगल स्वरूप राधाकृष्ण हैं तथा इनही का एक रूप वृन्दावन और सहचरी गण हैं। यह सब स्वभावतः रहस्यमय हैं। सम्पूर्ण राधावल्लभीय साहित्य में, इसीलिये, एक अद्भुत प्रकार की रहस्यमयता दिखलाई देती है और इसका सबसे सुन्दर प्रकाशन ध्रुवदास जी की वाणी में हुआ है। रहस्य का सम्बन्ध प्रायः निर्गुण और निराकार के साथ देखने को मिलता है। यहाँ सगुण और साकार को रहस्यमय चित्रित किया गया है। ध्रुवदास जी ने मूर्त के साथ अमूर्त की योजना उसकी रहस्यमयता को प्रगट करने के लिये ही की है। साथ ही इस प्रकार के वर्णन इस रहस्यमयता को और भी गहरा बना देते हैं।

मेघ महल परदा फुँहीं राजत कुंज निकुंज ।
बैठे नेह की सेज पर करत केलि सुख पुंज॥
(आनन्द लता)

खेलत रहस्य निकुंज में अतिहि रहसि निजु केलि ।
लपटी प्रेम तमाल सौं मनौं रूप की बेलि ॥
रस पति, रति पति भूलि रहे देखत अद्‌भुत रीति ।
घटत न कबहूँ बढ़त रहै छिन-छिन नव-नव प्रीति ॥
(रहस्य लता)

तिनहिं देखि आसक्ति हू भूली–ह्वै आसक्त सुरस में भूली ॥
(प्रेम लता)

राधावल्लभीय साहित्य में पाई जाने वाली यह रहस्यमयता हमारे परिचित 'रहस्यवाद' के अन्तर्गत तो नहीं आती किन्तु भक्ति-काव्य की सगुण धारा में यह एक अनोखी घटना है ।

ध्रुवदास जी का प्रेम-सम्बन्धी दृष्टि कोण अत्यन्त सूक्ष्म और सुकुमार है और उसकी अभिव्यक्ति भी अत्यन्त कोमल और व्यञ्जना पूर्ण हुई है । उनकी भाषा शुद्ध और प्रवाह युक्त व्रजभाषा है और उसमें प्रान्तीय बोलियों के शब्दों की मिलौंनी बहुत कम है । उनकी वाणी में सस्ती भावुकता को व्यक्त करने वाले हल्के और ग्रामीण शब्दों का प्रयोग बिलकुल नहीं हुआ है, जो कुछ भी है वह प्रसन्न और गंभीर है । उनके नित्य विहार के वर्णन तो कोमल हैं हीं उनका उपदेश देने का ढ़ंग भी अत्यन्त मृदु और संयत है । उनके उपदेशों में अकुलाहट और अक्खड़पन कहीं दिखलाई नहीं देते ।

उन्होंने श्रीहित हरिवंश की भाँति अलंकारों का उपयोग कम किया है। सादृश्य उपस्थित करने का उनका एक अपना ढ़ंग है, यह हम देख चुके हैं। ऊपर उद्धृत पद्यों में उनकी उत्प्रेक्षाओं के कुछ सुन्दर उदाहरण मौजूद हैं। अन्य अलंकार भी बड़े सुन्दर और मार्मिक हैं,

उपमा तौ सब जे कहीं एसी चित्त विचार।
जैसे दिनकर पूजिये आगे दीपक बार॥

(मन शिक्षा)

चढ़िकै मैंन तुरंग पैं चलिबौ पावक माँहि।
प्रेम पंथ एसौ कठिन सब कोउ निबहत नाँहि॥

(प्रीति चौवनी)

और कौ प्रवेश कहाँ मनहू न भेदी जहाँ,
एसी प्रेम छटा ताहि काहि लै प्रमानिये।
हितध्रुव जोई कछु कहिवौ है एसी भाँति,
जैसे आली पाहन सौं मानिक लै भानिये॥

(शृंगार शत)

ध्रुवदास जी की बयालीस लीलायें और १०३ पद मिलते है। इन में 'वैदक ज्ञान लीला' 'मन शिक्षा लीला' 'सिद्धान्त विचार लीला' 'भक्त नामावली'लीला आदि भी हैं, जिनमें खींचतान कर भी 'लीला' शब्द की संगति नहीं बैठती। कतिपय लीलाओं में रचना-काल दिया हुआ है। रसानंद लीला सं०१६५० में रची गई है, प्रेमावली लीला सं०१६७१ में; सभा मंडल लीला सं० १६८१ में और रहस्य मंजरी लीला सं०१६९८ में। इस आधार पर ध्रुवदास जी

का रचनाकाल सं० १६४० से सं० १७०० तक माना जा सकता है। 'सिद्धान्त विचार लीला' ब्रज भाषा गद्य में है। इस लीला में रचना-काल नहीं दिया हुआ है किन्तु अन्तरंग परीक्षण के आधार पर इसकी रचना सत्रहवीं शती के उत्तरार्ध की सिद्ध होती है।

पद्यमयी लीलाओं में से पर्याप्त उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। यहाँ पर 'पदावली' में से कुछ पद उद्धृत किये जाते हैं।

मेरी अखियाँ रूप के रंग रँगीं।
युगल चंद अरविन्द वदन छवि तिहि रस माँहि पगीं ॥
नव-नव भाइ विलास माधुरी रहि सुख स्वाद लगीं।
हित ध्रुव और जहाँ लगि रुचि हीं ते सब छाँड़ि भगीं ॥

आज सखि निरखि रूप भरि नैन।
लता ऐंन रचि सैंन मिथुन वर बोलत अति मृदु बैन ॥
हँसत जबहिं दोउ लसत दसन दुति शोभा कहत बनै न।
हित ध्रुव निरखि सहज छवि सींवा मैन होत मन मैंन ॥

सुनि सखि दशा होत जब प्रेम की।
ज्ञान-कर्म-विधि वैभवता सब नहिं ठहरात व्रत नेम की ॥
रहत अधीर ढरत नैंननि जल मिटत सकल चंचलता मन की।
परत चित्त आनंद सिन्धु में लजि तजि जात लाज गुरुजन की ॥
निद्रा आदि लगत सब नीरस घटत विषय तृष्ना सब घट की।
रहत मगन औरे रस सजनी जब एही दोऊ अखियाँ अटकी ॥
रुचत न रसन स्वाद षट रस के अरु कछु होत छीन गति तनकी।
हित ध्रुव रहत एक सुख नैंननि छिन २ चोंप जुगल दरसन की ॥

ऐसौ और सनेही कौन ।
रँगे एक ही रंग रँगीली तजि कैं विभौ चतुरदस भौंन ।।
छिन-छिन चरण कमल सहरावत कबहुँ करत पट पीतसौं पौन ।
ऐसौ प्रेम कहा कोउ बरनैं जहाँ सकल सुख गौंन ।।
अद्भुत रूप माधुरी निरखत भरि-भरि लोइन दौंन ।
हित ध्रुव तजि मर्याद बड़ाई ह्वै रहै सब बातनि में मौंन ।।

प्राण दियें यह प्रेम न पैये ।
ऐसौ मँहगौ आहि सखी री कहिधौं सो कैसें कै लैये ।।
लाल लाड़िली कौ यह सर्वसु तिहिं रस कौं ललचैये ।
अद्भुत विवि छवि रस की धारा ध्रुव मन तहाँ न्हबैये ।।

सोभित आज छबीली जोरी ।
सुन्दर नवल रसिक मन मोहन अलबेली नव वयस किशोरी ।।
बेसर उभय हँसनि में डोलत सो छवि लेत प्रान चित चोरी ।
हित ध्रुव फँदी मीन ये अखियाँ निरखत रूप-प्रेम की डोरी ।।

लाल लड़ैंती जू खेल हीं आज होरी कौ त्यौहार हो ।
फूली संग सखी सबै निरखत प्रेम-विहार हो ।।
पहिनें सारी केसरी दिये बेंदी लाल गुलाल हो ।
मोहे मोहन मोहनी चितवनि नैन विशाल हो ।।
अद्भुत उड़नि गुलाल की पिचकारी धार निहार हो ।
मानौं घन अनुराग के बरसत आनँद वारि हो ।।
लटकन ललित सुहावनी पद पटकनि करन सुदेस हो ।
झटकनि उर हारावली ध्रुव कहि न सकत छवि-लेस हो ।

आज छवि बरसत है अंग-अंग
मनौं अलक राजत घन दामिनि दसन धनुष वर भंग ।।

मोतिन माल बुलाक चन्द्रवधु शोभित अधर सुरंग।
श्रम जल फुहीं रहीं कछु मुख पर जीत समर पिय संग॥
भूषण रव कूँजत खग मानों अति अनुराग अभंग।
प्रफुलित रोम-रोम पिय तरु तन भींजे रति रस रंग॥
हित ध्रुव निरखि सहज छवि सींवा भये सखिनु चख पंग।
ज्यों श्रुति सुनत गान रस मोहित चकित ह्वै रहत कुरंग॥

श्री दामोदर स्वामी

इनका चरित्र भी रसिक अनन्य माल में दिया हुआ है। यह लाल स्वामी जी के शिष्य थे और कीरतपुर के रहने वाले थे। कुछ दिनों के बाद यह वृन्दावन चले गये और शेप जीवन वहीं व्यतीत किया। यह उच्चकोटि के महात्मा और पूर्ण सदाचारी पुरुष थे। इनके स्वभाव का वर्णन भगवत मुदित जी ने इस प्रकार किया है,

काहू बुरौ भलौ नहिं कहैं, निर्दूषित सबही सौं रहैं।
निंदा काहू की नहि करैं, जो कोऊ करै तहाँ तैं टरैं॥
मिथ्या मुख तैं कबहुँ न बोलैं, पर औगुन कौं गुन कर तोलैं।
उत्तम सबनि आप तैं मानैं, सब तैं निद अपनपौ जानैं॥
विधि-निषेध सबहीं तैं न्यारे, धर्म इष्ट जन लागत प्यारे।

स्वामी जी को, पक्के निकुंजोपासक होते हुए भी, श्रीमद्भागवत से बहुत प्रेम था। उन्होंने भागवत की दस प्रतियाँ सुन्दर लिपि में अपने हाथ से लिख कर गुरुकुल में तथा अन्य अधिकारी व्यक्तियों को भेंट की थीं। इनके 'चरित्र' में से एक रोचक घटना यहाँ दी जाती है।

वृन्दावन में स्वामीजी के घर ठाकुरजी की सेवा उज्ज्वल प्रकार से होती थी। इस बात को देख कर अनेक लोग उनको धनी मानने लगे थे। एक दिन दो चोर रात्रि के समय उनके घर में घुसे। स्वामी जी ने उनको देख लिया किन्तु ब्रजवासी समझ कर कुछ बोले नहीं। चोरों ने घर का कुल सामान इकट्ठा करके उसको दो बड़ी गठरियों में बाँध लिया। एक गठरी को लेकर तो उनमें से एक चला गया, दूसरी को उठवाने वाला कोई नहीं रहा। स्वामी जी चोर को परेशान देखकर स्वयं उठे और उसे चुप चाप गठरी उठवादी। चोर अंधेरे में उनको पहिचान न पाया और यह समझा कि उसका साथी ही गठरी रखकर वापस आगया है। बाहर निकलने पर उसका साथी उसे सामने से आता हुआ मिला और उसके अकेले गठरी उठा लाने पर आश्चर्य प्रगट करने लगा। उनकी बात चीत सुन कर स्वामी जी के पड़ौसी जाग उठे और उन्होंने चोरों का पीछा करके उनमें से एक को पकड़ लिया और उसे मार डाला।

गठरी स्वीजी के घर वापस आगई किन्तु उनको यह सुन कर अत्यन्त कष्ट हुआ कि उनके पड़ौसियों ने उनके सामान के पीछे एक ब्रजवासी की हत्या करदी है। उन्होंने गठरी का सामान बेच कर उस चोर की उत्तर-क्रिया की और साधु ब्राह्मणों को भोजन कराकर उसके नाम की जय बुलवाई ! ब्रजबासियों पर अपनी अद्‌भुत श्रद्धा को स्वामी जी ने इस दोहे में व्यक्त किया है,

सखी-सखा सब कृष्ण के व्रजवासी नर नार।
दामोदर हित नै चलौ उत्तम यहै विचार।

स्वामी जी के घर इस प्रकार की चोरियाँ कई बार हुईं। अन्त में उन्होंने समझ लिया कि,

संग्रह करौं न यह प्रभु इच्छा, चोर मरचौ मैं पाई सिच्छा।
संग्रह लखि सब कोऊ आवैं, अपराध लगै व्रज-जन दुख पावैं॥

उन्होंने अपने पास केवल नामसेवा रखी और स्वरूप-सेवा को अन्यत्र दे दिया। अपने व्यवहार के लिये उन्होंने दौना-पत्तल और व्रज-रज के बने पात्र रखलिये। भगवत् मुदित जी ने चरित्र के अन्त में लिखा है,

ऐसी स्वामी की बहु बातैं, ते प्रभु बस करिबे की घातैं।

भगवत् दामोदर कहन रहन तिही अनुसार।
प्रण पाल्यौ श्री व्यास-सुत दियौ दिखाइ विहार॥

स्वामीजी ने शुकोक्ति 'रास पंचाध्यायीं का अविकलभाषान्तर व्रजभाषा पद्य में किया है, और पंचाध्यायी की लीला को स्वतन्त्र रूप से सुन्दर कवित्तों में भी कहा है। इन कवित्तों में उनकी प्रतिभा को प्रकाशित होने का अधिक अवसर मिला है। आरम्भ के दो कवित्त देखिये।

भोग ईस, जोग ईस, जज्ञ ईस, जग ईस,
विधि ईस, सक्र ईस, ईस सिव काम कौ।
रवि ईस, ससि ईस सारदा गनेस ईस,
परम कल्याण ईस, ईस तत्व ग्राम कौ।
सकल सिंगार ईस, परम विहार ईस,
सुमृति पुरान ईस, ईस रिगु साम कौ।

व्रज ईस वृन्दावन दामोदर हित भनि,
खेल्यौ चाहै रास-रस बीर बल राम कौ ।
जामिनी विलोकि हरि सरद की सुख कारी,
तैसोइ उदित शशि प्राची नव-सात सौं ।
तैसीयै किरनि कुल सकल विपिन मधि,
रही है विकसि मूल फूल फल पात सौं ।
तैसेंई कालिन्दी कूल केलि कल बेलि देखि,
फूलि-फूलि झूली जल मिलि जल जात सौं ।
तैसीयै त्रिविध वात नंद के छबीले तात,
रमिवे कौं कीनौं मन गोपी गन गात सौं ॥

भक्ति सिद्धान्त पर इनका एक छोटासा 'भक्ति-भेद-सिद्धान्त नामक ग्रन्थ मिलता है जो व्रजभाषा गद्य में है और सत्रहवीं शताब्दी के गद्य का सुन्दर नमूना है ।

इन्होंने चार 'मध्याक्षरी' भी बनाई हैं जो सम्प्रदाय के साहित्य में शब्द चित्रों की एक मात्र उदाहरण हैं ।
द्वितीय मध्याक्षरी देखिये,

मोह फन्द को हनैं ... ... वैराग्य
जगत कौं कौन उपावै ... ... विधाता
रुक्मिणि सुत किन हरयौ ... ... संवर
व्यास गुरु कहा बजावै ... ... वल्लरी
कृष्ण भगिनि कहा नाम ... ... सुभद्रा
जुवति पंचास कौन पति ... ... सौभर
सुर पति वाहन कवन ... ... कुंजर
गरुड़ की जननि समुझ मति ... विनता

ब्रह्मा पितु ... ... पंकज
रवि कौ हितू ... ... वारिज

दामोदर हित चित्त धरि, मध्याक्षर उत्तम परे।
'राधावल्लभ भजन करि' ॥

इस दोहे में किये गये प्रश्नों के उत्तर में आये हुए शब्दों के मध्याक्षरों को जोड़ देने से 'राधा वल्लभ भजन करि' वाक्य बन जाता है।

स्वामी जी की अन्य रचनायें गुरु प्रताप, नेमबत्तीसी, सिद्धान्त के पद, बधाईयाँ, उत्सवों के पद, रहस-विलास, बिहावला, चौपड़ खेल, फुटकर बानी, साखी और जजमान कन्हाई जस हैं। इनकी भाषा परिमार्जित और मुहावरेदार है। इनके अनेक पदों में उत्प्रेक्षाओं की छटा दर्शनीय होती है। 'नेम बत्तीसी' की रचना सं० १६८७ में हुई है अतः स्वामी जी का रचना काल सं० १६७० से सं१७०० तक माना जा सकता है। इनकी वाणी के कुछ नमूने देखिये,

हरि जस ज्यों गावै त्यों नीकौ।
करत पुनीत महा पापिन कौं सकल धरम कौ टीकौ ॥
तान बँधान अजान जानि कै फल दायक सबही कौ।
कोउ कहुँ खाउ अँधेरे उजारें नहि गुड़ लागत फीकौ ॥
श्रुति कौ सार अधार साधु कौ ज्यौं जल जीवन जीकौ।
दामोदर हित हरि जस बिन सब भस्म हुतौ ज्यौं घी कौ ॥

मन रे भजिये नंदलला।
गृह कानन में रहौ कहूँ कोउ पकरत नहीं पला ॥

वेद पुराण सुमृत यों भाखैं और कछू न भला।
दिन-दिन बढ़ै प्रताप सुकल पछ जैसे चंद कला ॥
काकौ धन, काके पसु मंदिर, काके सुत अबला।
थिर नाही कछु दामोदर हित जग में चली-चला ॥

ताके सदा हिय आनन्द।
बसत नित चित पद्म पद हरि त्रिविध ताप निकंद ॥
भृंग मन नवरंग भीन्यौ लेत सुख मकरंद।
काल कर्म कलेस नहि तहाँ सर्वरी हिम चंद ॥
जगमगै नख कांति कमनी तरनि संतत वृन्द।
चरन ऐसे हित दमोदर भजत नहि मति मंद ॥

आँगन आज बधाई बाजै।
भूषन मनि वृषभान भवन में सुता सुलक्षण राजै ॥
जाके रूप छटा की शोभा सब लोकनि में छाजै।
जाके प्रेम बँध्यौ मोहन दिन वृन्दा विपिन विराजै ॥
जाकी भृकुटिन की छवि निरखत कोटि मदन रति लाजै।
जाके बल आनंद मगन मन रसिक सभा दिन गाजै ॥
सुन्दर रस की रासि विलासनि प्रगटी वल्लभ काजै।
गावत यह जस दामोदर हित मंगल मोद सदा जै ॥

भज मन रास रसिक किशोर।
गौर साँवल सकल गुन निधि चतुर चित के चोर ॥
हरि रस भींजि प्रपंच छुट्यौ सब रही न कछू सँभार।
दामोदर हित देखत भूले सुर मुनि कौतिक हार ॥

हिंडोल-राग मल्हार

हिंडोरें हरिजन झूलत हैं भरे रंग ॥ टेक ॥

खंभ अचल विश्वास कौ वर एक दिस रह्यौ राज ।
रहित-इच्छा बन्यौ दूजौ विमलता सौं भ्राज ॥ १ ॥
सुबुधि पटुली, तोष डाँड़ी, मरुवे धीरज चारु ।
क्षमा बनी मयार मंजुल गुरु कृपा सुत धार ॥ २ ॥
विमल चरन सरोज हरि के सरस नव-नव प्रेम ।
देत झोटा सो निरतर नहिं तहाँ कछु नेम ॥ ३ ॥
परम सुख अरु हरख परिमल तेउ देत झुलाइ ।
दया, सत्य, सनेह सबसौं त्रिविध पवन चलाइ ॥ ४ ॥
परम धर्म सुशील संयम सोभा जात न कही ।
गान-गुन यश-श्रवण भूषण वसन छवि फवि रही ॥ ५ ॥
देखि झूल सुफूलि सुर मुनि वदत अनुपम भाग ।
रूप रस में मत्त संतत भरे भर अनुराग ॥ ६ ॥
भक्ति कौ हिंडोल जुग-जुग रच्यौ कृष्ण बनाइ ।
कृपा साँवन रहै उनयौ परम रस बरसाइ ॥ ७ ॥
सदा झूलैं संत तिनके चरन मन में धार ।
हित दमोदर जानि है तब कृष्ण-प्रेम-विहार ॥ ८ ॥

सुभग मंडल पर बिराजत युगल सुन्दर वेश ।
वसन भूषन जगमगैं अति अंग-अंग सुदेश ॥
चारु चरण सरोज निर्त्तनि गति विलास विनोद ।
पदनि पटकनि नखनि दमकनि होत नव-नव मोद ॥
जोरि कबहूँ कर परस्पर वदन सन्मुख चार ।
घन छटा से चक्र गनि दोउ भ्रमत करत विहार ॥
मुकुट कवरी लटकि भृकुटी मटकि माधुरी हास ।
हरखि वरसत रंग भीनें हित दमोदर दास ॥

राग गौरी

मन मोहन मोह्यौ साँवरो नवलकिशोरी बाल हो ।

महमहात नव-नवलता फूली जहाँ नव कुंज हो ॥
सुभग सेज पर लाड़िली तहाँ बैठी सोभा पुंज हो ।
कबरि ढरकि पाछैं रही राजत स्वातिज मंग हो ॥
मानौं तम जुरि अंध कौ भज्यौ चंद कला लगि संग हो ।
सिर नीलांबर मुख लसै सीस फूल छवि वृन्द ।
कनक कलश मनौं राहु कौं लै मिल्यौ अमी भरि चंद हो ॥
श्रवन तरौंना राजहीं झलकत मंग सुदेस ।
मानौं कंचन कंज में प्रतिबिंबित प्रात दिनेस हो ॥
जगमग तिलक जराव कौ बन्यौ मनोहर भाल हो ।
सुन्दरता उमगी मनौं इकटक निरखत लाल हो ॥
बंक भृकुटि छवि सोहनी चंचल दीरघ नैन ।
मीन कंज खंजन लजे रस प्रेम पगे सुख-ऐन हो ॥
नासा कल बेसरि बनी झलमलात छवि होत ॥
दिपति मनौं शुक चंचु पर ससि सुन्दर सारँग जोति हो ।
हँसनि दसनि दमकनि मनौं चमकत दामिनि वाम ॥
अधर सुधा पिय प्रान कौं पोषत करुना धाम हो ।
सब तन छवि कहाँ लौं कहौं अँग-अँग सुख बरसाहिं ॥
दामोदर हित पीय के द्रग देखत हू न अघाहिं हो ॥

वसंत

इहि विधि खेलत संत निरंतर सदा बसंत उदार ।
घर वन बैठै चलत चहूँ दिसि विलसत मोद अपार ॥
तन मन वचन त्रिविध विटपनि तैं पाप भये पतझार ।
हरि गुन सुनत कहत पुलकावलि नव पल्लव विस्तार ॥
कृष्ण चरन जल जात अनूपम सीतल कुसुमित चार ।
सुख मकरंद पिवत चित मधुकर नाम रटन गुंजार ॥
कीरति पावन कोकिल बानी बोलत बारम्बार ॥
अमल बुद्धि फूली फुलवारी सौरभ प्रेम-विहार ॥

अद्भुत अवसर साधु समागम निस दिन रूप विचार।
आनंद वारि श्रवित नैननि तैं बहत रंग की धार ॥

सहचरि सुख जी

यह गोस्वामी कमल नैन जी के शिष्य थे जो सं० १६६२ से सं० १७५४ तक विद्यमान थे। सहचरि सुख जी ने अपने कई पदों में अपना नाम 'सुख सखी' भी लिखा है। शिवसिंह सरोज पृ० ५०२ में सखीसुख ब्राह्मण नरवर वाले का उल्लेख है जो कविन्द के पिता थे और सं० १८०० के आसपास विद्यमान थे। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की सन् १९११ की खोज रिपोर्ट में इनके 'रंग-माला' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है जो बनारस के एक सज्जन के पास बतलाया गया है। इनके सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ पता नहीं चलता। राधा वल्लभीय पद-संग्रहों में इनके उत्सवों के पद मिलते हैं किन्तु इनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता।

यह राधा वल्लभीय रस-पद्धति के पूर्ण मर्मज्ञ और अनुभवी महात्मा थे। इसके साथ इनको उच्चकोटि की प्रतिभा प्राप्त थी और शिष्य होने के पूर्व भी यह काव्य रचना करते थे। इनके पदों में ध्रुवदास जी का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। इन्होंने भी अपने मूर्त उपास्य-भाव का अमूर्त रूपों के द्वारा वर्णन किया है। इनके पद अनेक सुन्दर लाक्षणिक प्रयोगों से मंडित हैं और व्रज भाषा-साहित्य में लक्षणा का विशद उपयोग करने वाले ये कदाचित सर्व प्रथम कवि हैं। इनके थोड़े दिन बाद घनानंद जी में लाक्षणिक मूर्तिमत्ता

अपने पूर्ण विकसित रूप में दिखलाई दी। सहचरि सुख जी के कुछ सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग उद्धृत किये जाते हैं,

मकरंद बुझावत विरह दाग ।
सीचे जिन फिर व्रज मांझ फाग ॥

× × × ×

भुज सिंगार विटप माधविका छाँह छैल हिय छावै ।
उकसनि देत न मान धूप सनमानहिं अधिक बढ़ावै ॥
उलहत जोवन रीझि कैं हो ऐंड रही इतराइ ।
कटीली कसक अँग-अंग की पिय हिय दीनी धाइ ॥

सहचरि सुख जी का सौंदर्य-बोध अत्यन्त सूक्ष्म और तीव्र है। सौंदर्य की व्यंञ्जना वे अतिशयोक्ति और प्रभा वर्णन के द्वारा करते हैं। अभिनव गुप्त ने अतिशयोक्ति औ वक्रोक्ति को समानार्थक माना है और दौनौ का प्राण 'लोको त्तर चमत्कार' बतलाया है। वक्रोक्ति का साधारण अर्थ 'वैदग्ध्य भंगी भणिति। सहचरि सुख जी की अतिशयो क्तियों में वैदग्ध्यभंगी प्रचुर मात्रा में दिखलाई देती है उनकी वाणी सौंदर्य के भार से मानो इठलाती हुई चलती है कुछ उदाहरण देखिये,

जुग भुज फूली जोवन बहार ।
उज्ज्वल कल्पद्रुम ही की डार ॥
जड़ कल्प वृक्ष नहि समता जोग ।
जब इनकै होत प्रीतम कौ भोग ॥

× × × ×

दृग खुलनि गुलाब प्रकास देति ।
ढिग कटीली भृकुटी कछु उपमा लेति ॥

नैंननि कौ सी नैंननि ही जोति ।
करकस गुलाब नहि समता होति ॥

× × × ×

नव चपला सिंगार की हो चमकत कुंजनि माँहि ।
पावस चपला लगति है जिन की छवि आगें छाँहि ॥
उज्ज्वलता अरु अमृत कौ हो चूरत चलत गुमान ।
परसत जिनकी किरनि कौं लागै शरद चन्द्र सौ भान ॥
कुसुम वसंती दबि गये जब प्रगटी सहज सुवास ।
रीझि छके उपमान सौं यातें पिय फिरत उदास ॥

प्रेम के तो यह उपासक ही हैं। शृंगारी प्रेम के मधुर अनुभावों का बड़ा स्वाभाविक वर्णन इन्होंने किया है। झूलते समय की कुछ स्थितियाँ देखिये—

इक टक निहारत वदन पल सहि सकत पलक न पीर ।
तिय परसि पुलकत पीत पट पिय परसि सुन्दर चीर ॥
हँसति लपटति खिलत सकुचति धरकि होत अधीर ।
लड़कानि ललना की सम्हारत लाल गहि-गहि धीर ॥

रूपछटा के प्रभाव का वर्णन देखिये—

वर्णन में आवै नहीं हो अलबेली के गात ।
यह मर्यादा लिखन की हरि अंग विवस ह्वै जात ॥
रचे करेजा साँवरे हो सब व्रज नंदकिशोर ।
हिये गौर राधा किये तब बिक गई सबै मरोर ॥
चक चौंधति लखि कुँवर कौं हो शशि जीतति जे वाम ।
आवत ढिंग कीरति सुता तब ही हरि दीसत श्याम ॥

लाक्षणिक शैली के निर्वाह के लिये वाणी की पूर्ण सामर्थ्य अपेक्षित है। सहचरि सुख जी की भाषा समृद्ध और वेग-

शालिनी है। वे निर्भय होकर शब्दों का प्रयोग करते हैं और वे सब मानों स्वयं ही एक साँचे में ढलते हुये चले जाते हैं। इनके पदों में अनूठी और वैचित्र्य युक्त शब्द-योजना देखने को मिलती है। 'नित्य-विहार' के अल्प विस्तार वाले और संकुचित क्षेत्र में उक्ति-चारुत्व के बल पर ही सहचरि सुख जी ने अपने लिये विशिष्ट स्थान बनाया है। इनकी रचनाओं की खोज अभी बिल्कुल अधूरी है। लेखक ने इनके केवल ५०—५५ पद देखे हैं। इनकी 'रंगमाला' भी अभी तक अप्राप्त है। सहचरि-सुख जी के कतिपय पद दिये जाते हैं—

ध्रुपद

रसिक राग-रंग सुरस प्रगट भयौ आजु अवनि,
महा मोद मंगल व्रज कुंज-कुंज छायौ।
जनमत हरिवंश चन्द्र अमृत कंद व्यासनंद,
कर्म धर्म भर्म तिमिर नैंन कौ नसायौ॥
फूले हैं अनन्य कुमुद जुगल सुयस सरनि माँझ,
अनुरागे आनंद उदौ सबके मन भायौ।
गावत विधि-विध वधाई भावक अलि जियनि भाई,
उज्ज्वल फल सुफलता कौ सोहिलौ सुहायौ।
उलहे बरन लीला ललित रूप दलनि श्याम गौर,
ललितादिक छकनि कौ विनोद सबनि पायौ।
(जयश्री) कमल नयन सदन संपति राधा इष्ट कौ प्रताप,
हुलसि-हुलसि सहचरि सुख रसना दुलरायौ।

वसंत

बन्यौ खेल वृषभानु पौरि हेली खेलन आये रसिक छैल।
चरचित छबि अलबेलिन कौं हरि रचत आप कर कंपत जात
छकि, रूप कटीली कठिन सैल॥

छाँह छुवन नहिं देत हुते अब चाहत छाँह छुवन नहि पावत,
रस चहले फँसि भूले फैल ।
सहचरि सुख वारी ललिता ने ऐसे रँगे राधे के बरन सों
रँगत चले सब व्रज की गैल ॥

खेलत वसंत वन रसिक राज ।
रस रानी रंगनि लिये समाज ॥ टेक ॥

नव भाव कुंभ धरि चाह थाल, मधि प्रीति कली विकसी विसाल ।
शृंगार मौर मोदक रसाल, लियें रूप मंजरी सबै बाल ॥
फूली छबि फूलनि जोवन बाग, खिलि-खिलि खुलि हाव झरें पराग ।
आनन फूल्यौ अनूठौ सुहाग,ताननि फूल्यौ हिंडोल राग ॥
केशरि तन दुति पानिप में घोरि, रँगे रँगीले छैल सिख नखतें ढोरि ।
अलिता भुलई दृग दृगनि जोरि, दुरि मुरि दरसी भौंहनि मरोरि ॥
रस जल अबीर आनँद गुलाल, वंदन उमंग में रचे हैं लाल ।
सारो सिंगार पहिराइ माल, हरि हँसि रुचि लाये हंस चाल ॥
अरुनिमा दृष्टि रोरी सुरंग, सितता कपूर शीतल तरंग ॥
मृग मद श्यामलता मिलाइ संग, भरि नैन पिचक पिय रचे अंग ।
चित चंदन अति उज्ज्वल लगाइ, पदमिनि तन सहज सुगंध छाइ ॥
चिकनाइ चतुर लड़काइ चाइ, गोरे हिय श्याम किये छकाइ ।
दामिनि लौं दमकि दरसाइ सैन, बरसाइ रीझि हरयौ कियौ मैन ॥
जहाँ व्रज मोहन यौं फल्यौ चैन, करतें गिरि परत न जान्यौ बैन ।
वंशीवट मोद बढ़्यो अपार, मिले लोभ पुंज अरु अति उदार ॥
ललितादिक नैननि कौ अहार, सहचरि सुख गावत वर विहार ॥

वसंत

हेली कुंजनि रँग उलह्यौ अनंत मन मोहन तन फूल्यौ वसंत ।
मैंन लपेटी रूप कलिनि नव जोवन प्रगटत
खिलति खुलति छबि विविध फूल बरसत लसंत ॥

नव किशोरता मिलि मधु वरसत कान्ह कुँवर पिय-
चित चिकनावत भये हैं सकामी महा संत।
सहचरि सुख वारी प्यारी तू लपटि ललना लाल उर
है सिंगार की, अति ओपैगौ स्याम कंत ॥

रूप बावरौ नंद महर कौ बहुरि बन्यौ होरी कौ छैल।
रोकत टोकत घूँघट खोलत भर पिचकारी तकत उरोजनि–
गोकुल री माई चलत न गैल।
छल सौं मसलि गुलाल मुठी भरि निरखि रहत पुनि–
लाज न आवत, हिये भरे होरी के फैल ॥
कहिये कहा और सहचरि सुख मदन मवास
रहत व्रज जाके, अंग-अंग ज कटीली सैल ॥

काफी

कुंज रवन खिलि खेल हीं खिलै रंग रँगीलौ फाग हो।
खिलै दीपति तन लाड़िली खिल्यौ भरत है रूप पराग हो ॥
आनँद इत उत हिय खिलै रीझि सुजस कलि भाग हो।
उज्ज्वल रस सारी खिलै खिलै नैन मरोरनि पाग हो ॥
रितु वसंत खिलैं फूल कौं खिलै छकि वृन्दावन बाग हो।
चरननि में सौरभ खिलै लाड़नि माँझ विलास हो ॥
समय उमगि आनन खिलै खिलै रचि-रचि रंग हुलास हो।
गतिन माँझ उमहिन खिलै भरनि चातुरी चैन हो ॥
सैन खिलति लपटानि कौं खिलै थकनि छवीले नैन हो।
हाव भाव चितवनि खिलै खिलै लालच लौनी चाह हो ॥
सनमुखता लाजनि खिलै, खिलै ललकनि जियनि उछाह हो।
कृपा-हष्टि अमृत खिलै, खिलै दमकनि दसन प्रकाश हो ॥
रुचि मिठास बैननि खिलै, खिलै कल कपोल मृदु हास हो ॥

अरुझनि कुंडल लट खिलैं खिलैं सात्विक पुलकित देह हो ।।
घन दामिनि द्युति तन खिलै, खिलै सु केसर मेह हो ।
भुजा खिलै संगम लहरि, खिलै सुरतहि घमड़ि गुलाल हो ।।
छिपनि छुैलता छल खिलै, रसिया दोउ लालरु बाल हो ।
धुनि मृदंग ढोलक खिलैं, ललितादि कंठ खिलै गान हो ।।
नृत्य खिलै संगीत कौं, नूपुर खिलै नई-नई तान हो ।
खिलै रसना हित हरिवंश की, बरननि करि विपिन विहार हो ।
लह्यौ प्रसाद कछु सुख सखी, जीवति बल वहै अहार हो ।।

आजु फाग रँग रँगे मोहन रँगत फिरत नैंन ।
राधा कर कंजन कौ फूलत हिय चैंन ।।
चंद चूरैं गोरी तिनकौं चूरैं छकी सैंन ।
रीझ के गुमान बोलैं काहू सौं न बैंन ।।
एसो वृषभानु कुँवरि रूप सुजस लैंन ।
भूले भौंर भाँवरी नहि जात आन ऐन ।।
जोई देखै ताकी दीठि कसक करत मैंन ।
सहचरि सुख रसिकनि जिय आनँद अति दैंन ।।

श्री ध्रुवदास काल के अन्य प्रमुख वाणीकार:-

श्री कल्याण पुजारी जी—यह श्री बनचन्द्र गोस्वामी के शिष्य थे और उनकी ओर से राधावल्लभ जी के मंदिर में पुजारी नियुक्त थे। 'रसिक अनन्य माला' में इनका चरित्र दिया हुआ है। यह उच्चकोटि के रसिक महात्मा थे। इनके लगभग दो सौ पद लेखक ने देखे हैं। पदों में यह अपना नाम 'कली' या 'कलीअलि' देते हैं। इनका वाणी-रचना-काल सं०१६६० से सं० १७०० तक माना जा सकता है। इनके दो पद दिये जाते हैं।

घुरि आये री बदरा कारे बन बोलत चातक मोर री
धन गरजनि आजु सुहावनी
वरभूमि हरी वृन्दाटवी छवि देखत लाजै कामरी।
रंग भाँतिनु-भाँतिनु को गनै कल कोमलता कौ धामरी ।।
श्री राधा कौं आराधि कैं पियु बोलत मीठे बोलरी।
नँदलाल लाड़िलौ लालची तुम लेहु प्रिया मोहि मोलरी ।।
दोऊ कुंज हिंडोरे झूलहीं नव फूल न अँग समाइरी।
रमकावत गावत गोपिका उर आनन्दसिंधु बढ़ाइरी ।।
पट नील पीत फहरात हैं कहि को बरनै इहि भाँतिरी।
घन दामिनि की उपमा कहा यह अधिक अनूपम काँतिरी ।।
दोऊ मिले अंग-अंग सौं गसे बसौ मेरे उर यह रूप री।
पीउ पीवत अधर सुधा वदै हौं कियौ रंकतें भूपरी ।।
श्री श्याम रूप रस रासि हैं श्री श्यामा के आधीन री।
रितु पावस प्रेम नदी भरी सीवाँ न कली मन मीनरी ।।

देखौ माई आजु नैन फल लागे।
गौर श्याम अभिराम रंगीले विलसि निसा रस जागे ।।
श्री वृषभानु सुता नन्द नन्दन अंग-अंग रति पागे।
प्रेम मगन तन मन पलटे पट बने मनोहर बागे ।।
ये दोऊ अमित रूप गुन सागर नागर रसिक सुहागे।
श्री हरिवंश हेत नित नूतन जुगल कली अनुरागे ।।

श्री रसिकदास जीः—'रसिक अनन्य माल' में एक रसिकदास जी का चरित्र मिलता है। भगवत मुदित जी ने इनको गोस्वामी दामोदर चन्द्र जी के 'शिष्य-प्रशिष्यों' में बतलाया है। इनको भावना सिद्ध हो गई थी और उसीसे

संबंधित दो घटनाओं का उल्लेख इनके चरित्र में किया गया है किन्तु इनके वाणीकार होने का संकेत उसमें कहीं नहीं है।

हम जिन रसिकदास जी का परिचय यहाँ दे रहे हैं, उन्होंने अपने को गोस्वामी धीरधर जी का शिष्य लिखा है। उक्त गोस्वामीजी श्री वनचन्द्र गोस्वामी के प्रपौत्र थे।

धरि हिय श्री धीरी धरहि चित्त रूप अवधारि।
श्री हरिवंश कृपा करें उपजै भक्ति विचार॥

इन रसिकदास जी की विपुल रचनायें मिलती हैं जिनमें से 'रस-कदंब-चूडामणि' (रचना सं० १७५१) बीस 'लतायें', श्री हिताष्टक तथा कुछ फुटकर पद लेखक ने देखे हैं। 'रस कदंब चूड़ामणि' में वृन्दावन का वर्णन पौराणिक और तांत्रिक शैली से किया गया है। लताओं में रूप-माधुर्य, रस-विहार, प्रेमाभिलाष आदि का वर्णन किया गया है। कई 'लताओं' में रचना-काल दिया हुआ है। प्रसाद लता सं० १७४३ में, माधुर्य लता सं० १७४४ में और रति लता सं० १७४६ में बनी है। मनोरथ लता में १३५ छंदों के उदाहरण दिये हैं। इनमें गायत्री, त्रिष्टुप, जगती, धृति, आकृति, विकृति आदि संस्कृत छंदों के साथ झूलना, कुलपैया, खंधा, गाहा, उगाह, शंख नारी आदि भाषा छंदों के उदाहरण मिलते हैं।

रसिकदास जी की वाणी में शब्दों की तोड़-मरोड़ बहुत काफी है और अप्रयुक्तत्व दोष भी जहाँ-तहाँ दिखलाई देता है। अनुप्रास मिलाने के लिये भी शब्दों को बहुत विरूप बनाया गया है। रचना अधिक होने के कारण, फिर भी, अच्छे छंद

काफी संख्या में मिल जाते हैं। इनकी कुछ चुनी हुईं रचनायें नीचे दी जाती हैं।

जीवन जोरी भाँवती जीजै नैननि जोइ।
अद्भुत सील सुभाव गुन बरनि सकै नहिं कोइ।।
बरन सकैं नहिं कोइ सकल रस सुख के सागर।
गौर-श्याम अभिराम रसिक नव नागरि-नागर।।
कुंज-केलि सुख दानि परस्पर आनंद विलसैं।
उठत मनोरथ भाइ दाइ दै अङ्गनि परसैं।।
प्रेम-सवादी रसिक वर बन विहरत हैं सोइ।
जीवन जोरी भाँवती जीजै नैननि जोइ।

(अभिलाष लता)

कहा अनंगी धनुष सम भ्रूभंगी नव बाल।
जाकी भंगी में नचत नवल त्रिभंगी लाल।।
आहि मैन-खरसान ये कुंडल कहौ न बैन।
तीच्छन, अनियारे भये जिनसौं लगि-लगि नैन।।
क्यौंन दस गुनी झलमलै मोर-चंद्रिका सीस।
प्यारी नख-चंद्रनि परसि पाई है बकसीस।।

(सौंदर्य लता)

कहा कहौं, कसी कहौं, जैसी है यह रीति।
तब ही कोऊ जानि है, गरैं परैगी प्रीति।।

(अतन लता)

हित अनूप जी:—इनका जन्म अठारहवीं शती के आरंभ में बदायूँ जिले के सहसबान नामक स्थान में हुआ था। यह

सुकवि थे और किशोरावस्था में ही सकुटुम्ब वृन्दावन जाकर बस गये थे। इनका एक ही अपूर्ण ग्रन्थ 'माधुर्य विलास' लेखक ने देखा है। हित अनूपजी इस ग्रन्थ का पूर्वार्ध ही बना पाये थे कि उनका देहान्त हो गया। इनके मित्र वंशीधर जी ने इस ग्रन्थ का उत्तरार्ध रचकर उसको सं० १७७४ में पूर्ण बनाया। हित अनूप जी गो० कमल नयन जी के शिष्य थे।

संप्रदाय के साहित्य में 'माधुर्य-विलास' (पूर्वार्ध) एक अनूठी रचना है। इसमें कुल मिलाकर २९१ दोहा-चौपाई हैं। इसमें हित अनूप जी ने भगवान के माधुर्य-विलास का विवेचन नये प्रकार से किया है। माधुर्य-विलास का अर्थ है।

ईश्वरता ब्रह्मत्व कौ जहाँ न कोऊ भास।
केवल लीला लोकवत् सो माधुर्य विलास।।

माधुर्य-विलास के चार भेद बतलाये हैं, वपु, सौंदर्य, सजाति और मैन-सम्बन्ध। वपु (शरीर-सम्बन्ध) के आधार पर 'आतमता रस' निष्पन्न होता है, सौन्दर्य के आधार पर 'रूप-रस,' सजातीयता के आधार पर 'सख्य रस' और मैन-सम्बन्ध के आधार पर शृंगार रस निष्पन्न होता है। शृंगार रस के वर्णन में स्वकीया और परकीया नायिकाओं के विविध भेदों का वर्णन किया गया है। इसके बाद व्रज-वन्दावन का बड़ा रोचक वर्णन है। अन्त में रसिक उपासकों की तीन अवस्थाओं—आदि मध्य और प्रगल्भ का-मनोवैज्ञानिक परिचय दिया गया है।

माधुर्य-विलास के उत्तरार्ध में हित अनूप जी अपनी रस-

संबन्धी स्थापनाओं के उदाहरण देना चाहते थे। उनके अभाव में वंशीधर जी ने यह कार्य किया है किन्तु दोनों के अनुभव और सामर्थ्य में भेद है और हित अनूप जी का आशय पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाया है।

माधुर्य-विलास में से कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

व्रज-स्वरूप-वर्णन

दो० प्रेम पुंज आनंद घन नव-नव मंगल रूप।
विविध सचनि संकुलित व्रज फूल्यौ कंचन फूल॥
रुचिर रम्य अवनी महा कहा बखानौं भाँत।
लखि-लखि चाइन उझलि हिय लपटाने ही जात॥

चौ० कनक चन्द चन्दन-मनि, विविध रंग राजत ये अवनी।
परम रम्य रसमय मन भाई, छवि सौं रही छाइ परछाँई।
सींची सुधा सुहानि सुहाई, भासत प्रेम भाइ चिकनाई।
मृदुल सुगंध चारु चिकनौंहीं, रहि विराज रज रंग रँगौंही।

आदि अवस्था भावुक की

जिनकौ इन धामनि मन लाग्यौ, चौंप चाइ हिय अंकुर जाग्यौ।
पलटी रीति हीय जिय जोहन, भासत चली धाम गति सोहन।
कहूँ निशा पावस अति कारी, पून्यौ पावस कहूँ उजारी।
जोन्ह उजास घटा ज्यौं भासै, त्यौंही धाम प्रकास प्रकासै।
लखत लता द्रुम गृह बन सोभा, उलहै ललक लोभ हिय गोभा।
ज्यौं-ज्यौं भासै भाँति सुहाई, तादृश लखन चित्त अकुलाई।
कबहुँ जात तिहि माँहि समाई, चमकि जात गति चित्रितताई।
मिल्यौ जात जिय हियौ चुचाई, पुनि-पुनि कुंज रजहि लपटाई।
अरुन बरन रसमाते नैना, कोमल मधुर गहबरत बैना।

धाम-नाम मुख उच्चरत हित अनूप सुनि बात।
नख सिख तें सब गात के अंग-अंग फिरि जात॥

श्री अनन्य अलि जीः—इन्होंने अपने बारे में कुछ बातें अपने 'स्वप्न-विलास' में लिखी हैं। इनका जन्म एक राधा-वल्लभीय कुटुम्ब में हुआ था और इनके बड़े भाई भी उच्च-कोटि के रसिक-भक्त और संप्रदाय के मर्मज्ञ थे। इनका पूर्व नाम भगवान दास था और आठ वर्ष की अवस्था में ही यह इस संप्रदाय में दीक्षित हो गये थे। अल्पवय में ही अनन्य अलि जी को भगवत्-प्रेम की चटपटी लग गई थी और बीस वर्ष की आयु के बाद यह अपने गुरु श्री गोविन्द लाल जी के साथ, सं० १७५९ में, वृन्दावन चले गये। इनका शेष जीवन वृन्दा-वन में ही बीता।

अनन्य अलि जी की लगभग ७६ रचनाएं प्राप्त हैं। इनको नई-नई लीलाओं का स्फुरण होता रहता था और उनही का वर्णन यह सीधी-सादी भाषा में कर देते थे। विहार-वर्णन के अतिरिक्त इन्होंने वृन्दाबन-महिमा, गुरु-महिमा, नाम-प्रताप, सखी स्वरूप आदि पर स्वतंत्र रचनायें की हैं। इनके कुछ छंद नीचे दिये जाते हैं।

पावस की रितु आई, श्याम घटा सरसाई,
मंद-मंद मुसिकाइ दोऊ सरसात री।
चपला हू चमकात, गरजात लरजात,
पिय हिय लपटात अति हरखात री।
नाचत हैं पिक मोर बोलत हैं ठौर-ठौर,

आनँद बढ़्यौ न थोर सुख बरखात री।
लाल कुंज लाल सैन, लाल-बाल माते मैंन,
बिलसैं अनन्य अली कह्यौ नहि जात री।

छूटि गये पटके लटके बँद भूषन टूटि गये लटकावैं।
हैं समतूल समात न फूल सखी इतकी उतकी हरखावै॥
स्वेद कना तन ऊपर सोहत मोहत मोहन ना पल लावै।
श्री हरिबंश कृपा बल तैं बन-रूप अनन्य अली दरसावै॥

श्री कृष्णदास जी भावुकः—यह गोस्वामी विनोद-वल्लभ जी के शिष्य थे। इनका रचना-काल अठारहवीं शती के मध्य से लेकर उसके अंत तक माना जा सकता है। प्रेमदास जी ने अपनी 'हित चतुरासी' की टीका के मंगलाचरण में इनका आदर पूर्ण उल्लेख किया है।

कृष्णदास जू हैं मम प्रान-धन, श्री वैयासिक चरण कमल पर अलि मगन।

यह टीका सं० १७९१ में समाप्त हुई है। कृष्णदास जी ने हित प्रभु की अनेक सुन्दर बधाइयाँ लिखी हैं। अन्य उत्सवों के भी इनके अनेक पद मिलते हैं। इनके अतिरिक्त दो अष्टकों-वृन्दावनाष्टक और श्री हरिवंशाष्टक—की रचना भी इन्होंने की है। यह उच्चकोटि के रसिक संत और सुकवि थे। इनके दो छंद दिये जाते हैं।

डोल झूलत राधिका नागरी।
झुकनि हिलोर झकोरनि में उर लगत श्याम बड़भाग री॥
मधुर-मधुर मृदु बैननि नैननि चढ़त मैन रस पाग री।
बिबस विलोकि भुजनि भरि प्रीतम हरखि ढ़रत अनुराग री॥

अंग अनंग उमंग सुरंगनि झेलत खेलत फाग री ।
कृष्णदास हित निपट निकट ह्वै गावत गीत सुहाग री ।।

निरखि सखि सनमुख मृदु मुसकात ।
मानहुँ रूप अनूप सरोवर अमल कमल विकसात ।।
विथकित नैननि पलकैं अलकैं अलि चलि अंत न जात ।
कृष्णदास हित छवि की मधुरितु नव भायन सरसात ।।

हम कह चुके हैं कि श्री ध्रुवदास-काल राधावल्लभीय साहित्य का अत्यन्त समृद्ध काल है। हम ऊपर जिन वाणीकारों का संक्षिप्त परिचय दे चुके हैं, उनके अतिरिक्त बीसियों रसिक महानुभावों की संपूर्ण रचनायें या फुटकर पद प्राप्त हैं । उन में से कुछ वाणी-रचयिताओं के नाम नीचे दिये जाते हैं।

श्री सदानन्द गोस्वामी, श्री दामोदरचन्द्र गोस्वामी, श्री कमल नयन गोस्वामी, श्री सुखलाल गोस्वामी, श्री गुलाब लाल गोस्वामी, श्री रसिकलाल गोस्वामी, श्री जोरीलाल गोस्वामी, श्री व्रजलाल गोस्वामी, श्री गोविन्दलाल गोस्वामी, श्री हरिलाल गोस्वामी, श्री सेवा सखी, श्री चन्द्र सखी, श्री अतिवल्लभ जी, श्री मोहन मत्त जी, * श्री परमानन्ददास, श्री मुकुन्दलाल गोस्वामी, श्री कुंजलाल गोस्वामी इत्यादि ।

* यह श्री रासदास गोस्वामी के शिष्य थे और अठारहवीं शती के पूर्वार्ध में विद्यमान थे। यह पंजाबी थे और इन्होंने पंजाबी मिश्रित हिन्दी में वाणी-रचना की है। इनकी मार्झें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनकी रचनाओं में दृढ़ निष्ठा जनित अक्खड़पन भरा हुआ है। दो मार्झें नीचे दी जाती हैं।

मांझ

आप न धारै गिरा उचारै उसनूँ प्यारा तोता ।
धूर पड़ै उसदे पढ़ने में जन्म लिया जग धोता ॥
मुर्दे के मानिन्द प्रीति बिनु जग ज्वाला में सोता ।
मोहन मत्त मार जलदी अब व्यास सुवन पद गोता ॥
तुच्छ धनी धन का बन बैठा धन सम्हार किन अपना ।
भूल गया महबूब मुहब्बत देखि जगत का सपना ॥
बिनु विराग यम घर नहिं छूटै कोटि जतन कर ढ़पना ।
मोहन मत्त दिवाना हित दा व्यास सुवन पद जपना ॥

श्री हित रूपलाल काल (सं० १७७५-१८७५ तक)

ध्रुवदास जी का काल निकुंज-लीला के स्वरूप का निर्माण काल था । ध्रुवदास जी ने प्रेम की इन अनाद्यनंत लीलाओं का स्वरूप भागवत में वर्णित लीलाओं से सर्वथा विलक्षण निर्दिष्ट कर दिया । यहाँ तक कि उन्होंने राधा-श्याम सुन्दर के प्रसिद्ध नाम 'नंदनंदन' और 'वृषभानु-नंदिनी' का भी उपयोग, उनके व्रज-लीला से संबन्धित होने के कारण, अपनी लीलाओं में नहीं किया है । भगवत् मुदित जी ने ध्रुवदास जी के चरित्र में लिखा है कि उन्होंने व्रज के विनोद 'न्यारे' कर दिये—'व्रज विनोद न्यारे करि दीने ।' श्री हित रूप लाल काल में निकुंज-लीला का स्वरूप तो वही रहा किन्तु लीला-गान की नई दिशाओं की खोज की गई और सम्प्रदाय के साहित्य में नये रूप-विधान उपस्थित किए गये । श्री हिताचार्य ने अपने एक पद में श्रृंगार लीला के गान का

प्रयोजन श्रीराधा के सुकुमार चरण कमलों में रति प्राप्त करना बतलाया है,

> हित हरिवंश यथामति वरणत कृष्ण रसामृत सार।
> श्रवण सुनत प्रापक रति राधा पद-अंबुज सुकुमार॥

श्री हित रूपलाल-काल के कुछ नवीन रूप विधानों को निकुंज-लीला के अन्तर्गत तो नहीं कहा जा सकता किन्तु वे सब एकान्त भाव से हिताचार्य द्वारा बताये हुये उपरोक्त प्रयोजन की सिद्धि में नियुक्त हैं और उन सबका लक्ष्य श्रीराधा के चरणों में रति उत्पन्न करना है। 'व्रज' और 'निकुंज' की लीलाओं में श्री राधा कृष्ण सामान्य होते हुये भी परस्पर बहुत भिन्नता है। व्रज लीलाओं में राधाकृष्ण का पूरा परिवार, नंद, यशोदा, वृषभानु, कीर्ति, गोधन, गोपी, ग्वाल आदि सब लीला में सहायक बनते हैं, निकुंज लीलाओं में केवल राधाकृष्ण और सखीगण लीला का निर्माण करते हैं। व्रज की लीलाओं का क्षेत्र बड़ा है और उसमें वृन्दावन, गोकुल, गोवर्धन, नंदगाँव, बरसाना आदि व्रज के अनेक स्थान आजाते हैं, निकुंज-लीला केवल वृन्दावन से संबन्धित है। व्रज-लीलाओं में श्री कृष्ण की प्रधानता है, निकुंज की लीलाओं में श्री राधा की। इसके अतिरिक्त, जैसा हम पीछे देख चुके हैं, दोनों लीलाओं में प्रेम का स्वरूप भी भिन्न है। श्रीहित रूपलाल-काल के अन्यतम वाणीकार चाचा हित वृन्दावन दास ने कुछ ऐसी लीलायें लिखी हैं जिन में राधा-कृष्ण का पूरा परिवार सम्मिलित है और जो नंदगाम, बर-

साना, गोवर्धन आदि से सम्बन्धित हैं। इन लीलाओं के लिखने में उनका उद्देश्य निकुंज-लीलाओं को भाँति व्रज लीलाओं में भी श्रीराधा का प्राधान्य स्थापित करना है। उनका विश्वास है कि व्रजभूमि और वृन्दाकानन की संपूर्ण रमणीयता श्री राधा के कारण ही है और उन्होंने अपने झूला के एक पद में श्री राधा से यही बात कही भी है—'व्रज भूमि अरु कानन रमानौं होत है तेरौ कियौ।'

इस काल के प्रवर्तक श्रीहित रूपलाल गोस्वामी का जन्म सं० १७३८ वैशाख कृष्णा सप्तमी को हुआ था। यह उच्चकोटि के रसिक महानुभाव और जन्म जात कवि थे। इनकी ग्यारह वर्ष की अवस्था का एक सुन्दर पद प्रसिद्ध है।

अरी मेरी बारी कौ भँवरा लोभी कहूँव न जाय री।
रेसम कौ बाँध्यो भौंरा उड़ि-उड़ि जाय री॥
हियरा कौ बाँध्यौ लोभी कहूँव न जाय री।
नेह लता के बीच बँगला छवाय री॥
वा बँगला के बीच पीय सेजरी बिछाय री।
सेजरी के बीच हिय आनँद बढ़ाय री।
वा आनँद के बीच हित रूप दरसाय री॥

इनका विस्तृत जीवन चरित्र इनके शिष्य चाचा हित वृन्दावन दास ने 'श्री हित रूप चरित्र बेली' के नाम से लिखा है। पौराणिक शैली की रचना होते हुए भी इसमें बहुत सी ऐतिहासिक बातें मिल जाती हैं। श्री हित रूप के जीवन का उत्तर काल जयपुर के राजा जयसिंह प्रथम के साथ संघर्ष में बीता था और इसके फल स्वरूप लगभग बीस वर्षों तक

इनको वृन्दावन से बाहर रहना पड़ा था। अपने उपास्य स्थल एवं घर बार को छोड़कर इतने लम्बे काल तक बाहर रहने पर भी इनके पदों में कहीं कटुता और क्षोभ दिखलाई नहीं देते। बाह्य प्रभावों से बहुत दूर तक अस्पृष्ट रह कर अपने भाव में निमग्न रहने की भक्त कवियों की अद्‌भुत क्षमता इनमें पूर्ण रूप से विद्यमान थी। राजा जयसिंह ने राधावल्लभीय सम्प्रदाय को अवैदिक घोषित करके उस धर्म-भीरु युग में उसके सामने एक बहुत बड़ी चुनौती खड़ी करदी थी। श्री हित रूपलाल गोस्वामी एवं उनके शिष्यों ने इसका उत्तर सम्प्रदाय की रस-रीति एवं उपासना-पद्धति को वेदानुरोधी एवं वेदातीत प्रदर्शित करके दिया। इसके लिये गोस्वामी जी ने छोटे-छोटे पद्य बद्ध ग्रन्थों की रचना की जिनमें उन्होंने अपनी काव्य प्रतिभा का उपयोग नित्य-विहार की रसमयी रचना के व्याख्यान में किया है। साथ ही, लोक में प्रचलित उत्सवों में अपने भाव की प्रतिष्ठा करके उन्होंने नित्य-विहार के लीला-क्षेत्र को विस्तृत और लोक-भोग्य बनाने का प्रयास किया। उनकी साँझी लीला इसका उदाहरण है। उनसे पूर्व यह लीला राधावल्लभीय साहित्य में नहीं मिलती। लीला के अंत में लिखा है कि अपनी दो शिष्याओं के अनुरोध से उन्होंने नित्य-विहार की इस लीला की रचना की है।

विष्णी व्रजदासी विवि मिलिकैं विनती अतिशय कीनी।
साँझी नित्य-विहार प्रकासी श्री हित रूप प्रवीनी॥

अधिकांश राधावल्लभीय कवियों की भाँति रूप-छटा का चमत्कार पूर्ण वर्णन श्रीहित रूपलाल गोस्वामी की भी

विशेषता है। रूप वर्णन में इन्होंने जहाँ-तहाँ लक्षणा का बड़ा सुन्दर उपयोग किया है। इन्होंने छोटे-छोटे पद लिखे हैं किन्तु प्रत्येक में प्रेम-सौन्दर्य का एक सम्पूर्ण और आकर्षक चित्र उपस्थित किया है। प्रेम की 'अकथ कथा' को इन्होंने सीधे-सादे और मार्मिक ढंग से कह दिया है। इसके लिये, कहीं कहीं, इन्होंने प्रतीकात्मक (Symbolical) शैली का भी उपयोग किया है।

एक पद देखिये--

बुद्धि सहेली री चलि मानसरोवर जाँहि।
निश्चय स्वामी संग लै आनँद जल मल मल न्हाहि॥
शुद्ध भाव निष्कामता तहाँ राजत अद्भुत हंस।
प्रेम रूप रस माधुरी मुक्ता चुगि करत प्रसंस॥
शब्द-अर्थ की कुंज में तूही विश्राम सुजोग।
(जय श्री) रूप लाल हित चित्त में करिहैं परमानँद भोग॥

(समय प्रबंध)

इनके पदों की भाषा सरल और शब्द चयन सुन्दर है। पदों के अतिरिक्त इनके छोटे-छोटे अनेक स्वतंत्र ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें से अधिकांश दोहों में हैं। इनके पदों के दो संग्रह 'प्रथम विजय चौरासी' और 'द्वितीय विजय चौरासी' के नाम से प्रसिद्ध हैं जिनमें से प्रत्येक में ८४ पद संग्रहीत हैं। इसके अतिरिक्त उत्सवों से सम्बन्धित पद भी गोस्वामी जी ने प्रचुर संख्या में कहे हैं जो सम्प्रदाय के 'वर्षोत्सवों' में संग्रहीत हैं। चाचा जी ने 'हित रूप अंतर्धान बेली' में श्री हित रूपलाल जी का निकुंज-गमन सं० १८०१ में लिखा है—संवत् विगत अठारहसै-इक सोम कुंज मग चली।' इनके कुछ पद दिये जाते है;

सुनौं चित लाइ रसिक रस रीति ।
दुर्लभ मानुष देह नहै हरि साधु संग में प्रीति ॥
जनम सहस्त्रनि जो करि हारै तप अरु ध्यान समाधि ।
छीन पाप अति शुद्ध हृदय मधि उपजै भक्ति अवाधि ॥
साधन भक्ति करत वहु जनमनि होत जु ब्रज अनुराग ।
ताहू कौ फल विपिन उपासन प्रेम प्रीति बड़ भाग ॥
याहू तैं निज तत्व जुगल रस नित्य निकुंज विहार ।
हित अलि रूप अनूप हृदय दृढ़ कुँवरि कृपा कौ सार ॥

हरिजन रोइ रोइ सुख पावैं ।
विरह अग्नि तन माटी में दै चाह धातु सरसावैं ॥
निसि दिन जागैं आनँद पागैं दंपति गुन गन गावैं ॥
(जै श्री) रूपलाल हित चित की करनी मन हरनी दरसावैं ॥

यह रस दुर्लभ जग में जानौं ।
नित्य-विहार केलि वृन्दावन प्रीति रीति पहिचानौं ॥
निगमागम शिव विधि सनकादिक परम तत्व उर आनौं ।
(जै श्री) रूपलाल हित रसिक उपासक प्रेमी प्रेम बखानौं ॥

बिनु सिर प्रेमी रहै निरंतर सिर साँटे पिय पावै ।
नैननि नीर धीर तजि जीवै छिन-छिन गुण-गुण गावै ॥
जग तें सदा उदास आस इक रस रस--आसव भावै ।
(जै श्री) रूपलाल हित ललित त्रिभंगी हित चित और न आवै ॥

जयति वृषभानुजा कुँवरि राधे ।
सच्चिदानंद घन रसिक सिरमौर वर सकल वांछित सदा रहत साधे ॥
निगम आगम सुमृति रहे बहु भाँति जहँ कहि नहीं सकत गुण-गण अगाधे ।
लाल हित रूप पर करहु करुणा प्रिये देहु वृन्दा विपिन नित अबाधे ॥

आजु विहारिनि लाड़िली निरखहु अनुपम भाँति ।
नैन बैन मुसकानि मैं रँगी रँगीली काँति ॥

प्रीतम लाड़ गहेल री सुरत सिंधु अनुकूली ।
प्रेम रूप अनुराग की आनँद बेली फूली ॥
फूलनि के गहनें सजे राजत हैं अँग-अँगा ।
पान भरे मुख चन्द्र की ज्योति प्रकाश अभंगा ॥
भुजा धरैं पिय अंश पर चितवनि कछु अलसौंहीं ।
(जै श्री) रूप लाल हित हिय बसौ लाल लड़ैती यों हीं ॥

देखौ चित्रसारी बनी ।
मणिनु दीपक रन्ध्र झलकत विविध शोभा सनी ॥
अरस परस सुगंध की उद्गार आवत छनी ।
मध्य सेज विराज पौढ़े रसिक दंपति मनी ॥
अंग रंग अनंग भीने राधिका धन-धनी ।
पद कमल सेवत जहाँ हित रूप एकै जनी ॥

लाड़ी जू थारौ अविचल रहौ जी सुहाग ।
अलक लड़े रिझावार छैल सौं नित नव बढ़ौ अनुराग ॥
यों नित विहरौ ललितादिक सँग श्री वृन्दावन बाग ।
(जैं श्री) रूप अली हित युगल नेह लखि मानत निजु बड़ भाग ॥

विपिन वर राज बिहारिनि राजैं ।
टहल महल नित करत विहारी कृपा विलोकनि काजैं ॥
नव सत साज सिंगार बार दृग अलिगन सैना साजैं ।
(जै श्री) रूपलाल हित नवल त्रिभंगी सफल मनोरथ आजैं ॥

छबीली नागरी हो धनि तेरौ परम सुहाग ।
तेरेई रंग रँग्यौ मन मोहन मानत हैं बड़ भाग ॥
आज फबी होरी प्रीतम सँग लखियतु है अनुराग ।
(जै श्री) रूप लाल हित रूप छके दृग उपमा कौ नहिं लाग ॥

हिंडोरे झूलत री सुरंग चूनरी पहिरें ।
झुलवत ललन बिहारी वारी उठति छविनु की लहरैं ॥

धन गरजनि झुकि अलि गन गावति तान तरंगनि गहरैं।
(जै श्री) रूप लाल हित रस बस दंपति लखि उपमा नहिं ठहरैं॥

खेलत फाग सुहाग भरे अनुराग सौं।
दंपति नित्य किशोर रसिक बड़ भाग सौं॥
ताल मृदंग उपंग पणव ढ़फ बाजहीं।
मुरली धुनि सुनि श्रवण मैन मन लाजहीं॥
झुकि-झुकि झुंडनि-झुंडनि सहचरि गावहीं।
लाल लड़ैती कौ प्रेम छकी दुलरावहीं॥
अपनें-अपनें मेलि लियें दुहुँ ओर तें।
रुपे सूर सनमुख कछु कहत मरोर तें॥
चपला सी चमकात चहूँदिसि भामिनी।
घेरि लिये घनश्याम किये दिन जामिनी॥
रंग भरीं पिचकारी छूटत हेम की।
दुरि मुरि भरति लगावति गारी प्रेम की॥
सोंधे भरी कमोरी जोरी लावहीं।
कुमकुम मेलि फुलेलि मुखै लपटावहीं॥
लियौ कपूर पराग झोरि भरि-भरि तबै।
उड़त अबीर गुलाल कहत हो-हो सबै॥
झूमक दै-दै नाचत दंपति लाड़िले।
नेह भरे खिलवार छके चित चाड़िले॥
नील पीत पट गाँठ जोरि ललिता दई।
निरखि हँसत मुख मोरि रूप हित बलि गई॥

मनुवा माहिला रे माहिला तू सुमिर पुरातन पीय।
सुरत सहेली संग लै आनँद भूषन धरि हीय॥
गुन गन प्रेमी रूप के दै सात्विक जुलहा हाथ।
बुनि-चुनि सारी लावही वह पहिर नेह के साथ॥

हितकारी हित की सखी कौं पढ़ै करै संकेत ।
(जै श्री) रूप लाल हित कुंज में मिलि है पिय सुखद सचेत ।।

मन माली तन बाग में सींचै बुधि बेल ।
संत संग गुन कूप तैं काढ़े जल झेल ।।
शब्द अर्थ में सुरत की पुनि बरत लगावै ।
अर्थ भाव मिलि बेल द्वै चित चिंत चलावै ।।
बरहा सहज सँवारि कै दरसै हरियाली ।
जड़ जंगम थावर विषै झलकै बनमाली ।।
भक्ति फूल कौ फल लग्यौ अनुभव सुख रासी ।
(जै श्री) रूप लाल हित गुरु कृपा यह प्रेम प्रकासी ।।

हरि हीरा संतन उर सो है ।
कुंदन प्रीति जरौ चित जरिया भाव डाक लसिबो है ।।
पायौ नेह डोर हित पटवा नागर रसिकनि मोहै ।
(जै श्री) रूप लाल हित बुद्धि वधू आसक्त भई नित जोहै ।।

बड़ भागी सोई जगु जानौं ।
जाके भक्ति भाव राधा वर चरन कमल चित आनौं ।।
श्री वृन्दावन रज अनुरागी प्रेम पंथ पहिचानौं ।
नित्य निकुंज विहार सार रस भजन सजनि सुख ठानौं ।।
करत मानसिक मन रँगु भीनौ प्रेम रूप ललचानौं ।
(जै श्री) रूप लाल हित सरनागति सुख सहज संपदा मानौं ।।

सुमिरि श्री राधिका वर नाम ।
सदा आनँद रूप मंगल सुभग पूरन काम ।।
परम शीतल निगम दुर्लभ रसिक जन विश्राम ।
नारदादि शुकादि शंकर रटत आठौं जाम ।।
कोटि अघहर धर्म तरु कौ बीज है सुख धाम ।
प्रेम सागर भक्ति आगर रूप हित अभिराम ।।

चाचा हित वृन्दावनदास जी

चाचा हित वृन्दावनदास की अंतिम रचना सं० १८४४ की प्राप्त होती है। इससे उनकी स्थिति डेढ़-सौ से कुछ ही अधिक वर्ष पूर्व सिद्ध होती है किन्तु आश्चर्य यह है कि उनके सम्बन्ध में कोई निश्चित बात ज्ञात नहीं है ! उनका जन्म किस संवत् में हुआ था, उनका जन्म-स्थान कौन सा था, उनकी जाति क्या थी आदि प्रश्नों के उत्तर के लिये कोई बाह्य साक्ष्य प्राप्त नहीं हैं। उन्होंने अपनी विपुल रचनाओं में अपने सन्बन्ध में कहीं कोई स्पष्ट बात नहीं कही। कुछ संकेत यत्रतत्र मिलते हैं किन्तु वे निर्भ्रान्त नहीं हैं।

चाचा जी के जन्म संवत् का निर्णय करने के लिये नीचे लिखी बातों से कुछ सहायता मिल सकती है—

१—चाचाजी की सर्व प्रथम कृति सं० १८०० की प्राप्त होती है। यह एक 'अष्टयाम' है और इसकी रचना शैली प्रौढ़ है। संभव है इसके पूर्व भी उन्होंने कुछ रचनायें की हों किन्तु वे अभी तक प्राप्त नहीं हुई हैं।

२—वृन्दावन के एक निजी संग्रहालय में लेखक ने 'धमारों' का एक संग्रह देखा है जो सं० १७९३ का लिखा हुआ है। इसमें चाचा जी की रची हुई कोई धमार संग्रहीत नहीं है। चाचा जी के गुरु श्री हित रूपलाल गोस्वामी के एक अन्य शिष्य प्रेमदास जी की धमारें इस संग्रह में मिलती हैं।

३—इनही प्रेमदास जी कृत 'हित चतुरासी' की एक सुन्दर टीका मिलती है जो सं० १७९२ में लिखी गई है। कर्ता ने

अपने काल के अग्रगण्य दो रसिकों–अतिवल्लभ जी और कृष्णदास भावुक– के नाम आदर पूर्वक दिये हैं किन्तु चाचा जी का उल्लेख नहीं किया।

इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सं० १८०० में चाचा जी की अवस्था अधिक नहीं थी और संप्रदाय में वे अपना कोई विशिष्ट स्थान नहीं बना पाये थे। सं० १८०० में उनकी अवस्था ३०-३५ वर्ष के लगभग मानने से उनका जन्म काल सं० १७६५–७० के लगभग निश्चित होता है। मिश्र बन्धुओं ने उनका जन्म सं० १७७० के आस पास माना है, जो उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से ठीक मालूम होता है।

चाचाजी के जन्म स्थान के बारे में केवल इतना मालुम होता है कि उनका जन्म व्रज के किसी गाँव में हुआ था—

'जन्म तैं सेई जु व्रजरज अब हियौ अकुलाइ'

(आर्त पत्रिका)

चाचाजी हित वृन्दावनदासजी की रचनाओं की विपुलता आश्चर्यजनक है। श्री किशोरीशरण'अलि' ने सम्प्रदाय के ग्रन्थों का एक सचीपत्र 'साहित्य रत्नावली' के नाम से प्रकाशित किया है। इसमें चाचाजी के छोटे बड़े १५८ ग्रन्थों के नाम दिये हैं। छोटे-छोटे ग्रन्थों के अतिरिक्त चाचाजी के दो सागर—लाड़सागर और व्रज-प्रेमानन्द सागर—मिलते हैं, जिनमें से प्रथम पदों में है और प्रकाशित हो चुका है। दूसरा 'सागर' दोहा चौपाइयों में है और अभीतक अप्रकाशित है। चाचाजी के चौदह 'अष्टयाम' मिलते हैं जो अभी तक

अप्रकाशित हैं। इनकी रचना शैली 'सागरों' की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है और चाचाजी के श्रेष्ठ पदों में से अनेक इन अष्टयामों में प्राप्त हैं। इनमें शुद्ध निकुंज लीला का वर्णन प्रातःकाल से रात्रि पर्यन्त के क्रम से किया गया है। अष्टयामों की रचना इस संप्रदाय में बहुत प्रारंभ से होती चली आई है। प्रथम प्राप्त अष्टयाम श्री ध्रुवदास का है जो 'रस-मुक्तावली लीला' के नाम से उनकी बयालीस लीलाओं में ग्रथित है। इस लीला के अन्त में ध्रुवदासजी ने कहा है,

साँझ भोर लौं ऐसे ही भोर साँझ लौं जानि।
हित ध्रुव यह सुख सखिनु कौ निसिदिन उर में आनि॥

इस अष्टयाम में दी हुई दिन-चर्या बहुत सीधो-सादी है। गोस्वामी दामोदरवरजी (अठारहवीं शती का आरंभ) का अष्टयाम भी लगभग इसी शैली पर रचा गया है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में चाचाजी के समसामयिक श्री अतिवल्लभजी के अष्टयाम में हम इस दिनचर्या को विस्तार ग्रहण करते देखते हैं। अतिवल्लभजी ने अपने अष्टयाम में जलकेलि, दानकेलि, रास क्रीडा, बिबाह, जन्म गाँठ, बनविहार, षट्ऋतु विहार आदि का समावेश किया है और चाचाजी ने अपने अष्टयामों में इनमें से अधिकांश को ग्रहण किया है। उन्होंने इनके अतिरिक्त आँख मिचौनी, पुष्पचयन आदि नई लीलाओं की उद्भावना अपने अष्टयामों में की है।

चाचाजी की साधारण प्रवृत्ति लीलाओं की पृष्ठ भूमि वृहत्तर रखने की ओर है। निकुंज के निभृत कक्ष में होने

वाली रहस्य मयी श्रृंगार-केलि का वर्णन उन्होंने खूब किया है किन्तु व्रज-वृन्दावन के विशाल हरित अंचल में राधाकृष्ण को क्रीडा परायण देखना उनको अधिक रुचिकर है । हिताचार्य ने भी अपने एक पद में श्यामा-श्याम की क्रीडा का विस्तार 'खोरि, खिरक, गिरि गहवर' तक बतलाया है,

'ये दोउ खोरि खिरक गिरि गहवर बिहरत कुँवरि कंठ भुजमेलि'
(हि. च. ४९)

अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण चाचाजी ने निकुंज-लीलाओं के साथ अनेक व्रज-लीलाओं का भी गान किया है किन्तु सर्वत्र जैसा हम कह चुके हैं, उनमें श्री राधा का प्राधान्य रखा है।

चाचाजी ने अनेक ऐसी लीलायें लिखी हैं जो उनके पूर्व राधावल्लभीय साहित्य में नहीं मिलतीं । उनकी चौबीस छद्म लीलायें प्रसिद्ध हैं जिनमें श्री कृष्ण अनेक छद्म-वेष धारण करके बरसाने में स्थित श्री राधा से मिलते हैं। इन लीलाओं में श्री कृष्ण की अदम्य प्रीति का मार्मिक प्रकाशन हुआ है । इसके अतिरिक्त नारद लीला, महादेव लीला, शिवजोगी लीला, जोगीश्वरी लीला आदि में उन्होंने श्री कृष्ण और श्री राधा के शैशव काल में उपरोक्त देवों का उपस्थित होना विनोद पूर्ण ढंग से वर्णन किया है । चाचाजी ने कई साँझी लीलायें भी लिखी हैं जिनका आरंभ उनके गुरु श्री हित रूपलाल जी कर चुके थे । लोक के अनुकरण पर उन्होंने एक 'सुवटा भी लिखा है जो साँझी उत्सव का ही अंग है । इसमें श्रीराधा अपने प्रिय 'सुवटा' (कीर) को नन्दगाँव भेज कर सखी वेष धारी श्रीकृष्ण को साँझी खेलने के लिये बुलाती हैं।

उत्सवों के पद भी चाचाजी ने प्रचुर संख्या में लिखे हैं। उन्होंने कई ऐसे उत्सवों का भी गान किया है जिनके पद उनके पूर्व नहीं मिलते जैसे रथ यात्रा, अन्नकूट, दशहरा आदि के पद। राधावल्लभीय सम्प्रदाय में उत्सवों को संख्या अपेक्षा कृत कम है। यहाँ वही उत्सव ग्रहण किये गये हैं जो नित्य रास-विलास की भावना के अनुकूल पड़ते हैं। अतिवल्लभ जी ने बतलाया है कि वही नैमित्तिक उत्सव सम्प्रदाय में गृहीत हैं जो नित्य सेवा के अंग बन गये हैं और सूक्ष्मरूप से नित्य सेवा के संग रहते हैं,

नैमित्तिक उत्सव जिते नित्य कृत्य के अंग।
सूक्ष्म स्थूल सदा रहैं नित्य कृत्य के संग॥

(अष्टयाम)

दशहरा, रथयात्रा, अन्नकूट आदि का राधावल्लभीय नित्य सेवा से कोई सम्बन्ध नहीं है और इन उत्सवों से सम्बन्धित चाचाजी के पदों का औचित्य लोक संग्राहकता की दृष्टि से ही ठहरता है।

चाचाजी ने सम्प्रदाय के इतिहास को भी सुव्यवस्थित करने की चेष्टा की है। 'रसिक अनन्य परचावली' में उन्होंने अपने काल तक के रसिक भक्तों का परिचय बड़ी खोज के साथ उपस्थित किया है। 'श्री हरिवंश सहस्रनाम' में हिताचार्य के जीवन से सम्बन्धित अनेक नई घटनाओं का परिचय मिलता है। 'श्री हितरूप चरित्र बेली' में उन्होंने अपने गुरुदेव का जीवन वृत्त दिया है।

चाचाजी विनोदी स्वभाव के महात्मा थे। उनकी रची हुई अनेक लीलाओं में हास्य-विनोद का पुट मिलता है। उपदेशात्मक रचनाओं में भी वे बड़ी मीठी चुटकियां लेते हैं। 'विमुख उद्धारन बेली' तो पूरी की पूरी विनोदमय है। इसमें एक विरक्त साधु और एक वृद्धा का संवाद है। साधु कहता है,

तेरी आई पिछली बिरियां डुकरी राधा कृष्ण कहनौ।
गृह धंधे सब जनम गँवायौ अब कर माला गहनौ।।
लख चौरासी भ्रमि-भ्रमि पाई उत्तम मानुष देही।
अब सुचेत ह्वै परम प्रीति सौं मुख हरिनाम न लेही।।

इतना सुनते ही 'डोकरी' चिढ़ जाती है और अपनी भगवद् विमुखता की पुष्टि उन स्त्री सुलभ वहमों के कथन-द्वारा करती है जो स्वाभाविकतया हास्यास्पद हैं। वह साधु को डाटते हुये कहती है,

कहा बकत हौ सब जानत हौं अनबोल्यौई रहनौ।
सुनि बैरगिया तू अति ठगिया मोहि न भजन सौं लहनौ।।
एकवार गर कंठी बांधी सासु लरी देखि भारी।
इक दिन माथे तिलक देखि कै पति मोहि कीन्ही न्यारी।।
इक दिन मैं इक साधु जिमायौ भैंस दुहत तें लाती।
ता दिन तें लागत मोहि विष से देखि जरत है छाती।।
इक दिन हौं माला लै बैठी नाम लैन कौं लागी।
उलटी हानि भई घर रोटी कुतिया लैकें भागी।।
इक दिन हौं दरसन कौं निकसी गदहा कान हलाये।
ता दिन ते उहि मन्दिर ओरी पग नहिं चलत चलाये।।

(विमुख उद्धारन बेली)

इसी प्रकार की काफी लम्बी तर्क परम्परा से वृद्धा साधु को तंग कर लेती है और अंत में साधु जब उसके हृदय में भगवन् कृपा का संचार करते हैं तभी वह रास्ते पर आती है।

चाचाजी ने श्री राधा की प्रधानता वाली रस-रीति को साधारण लोगों तक पहुंचाने में बड़ा काम किया है। हम देख चुके हैं कि राधाबल्लभीय सिद्धान्त में राधाकृष्ण के बीच में नित्य नूतन दाम्पत्य माना गया है। नूतन दाम्पत्य केवल नव वर-वधू के बीच में होता है, अतः सखीजन नूतन दाम्पत्य के स्वाद के लिये राधाकृष्ण के विवाह की नित्य रचना करती रहती हैं। यह 'निकुंज का विवाह' कहलाता है। इस पद्धति से विवाह का सर्व प्रथम वर्णन करने वाले श्री ध्रुवदास हैं। हम उनके 'बिहावले' का गद्य रूपान्तर पीछे दे चुके हैं। निकुंज की पद्धति के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार से भी रसिक भक्तों ने श्री राधाकृष्ण के विवाह का वर्णन किया है। यह ब्रज का विवाह कहलाता है। इस विवाह में राधाकृष्ण का सम्पूर्ण परिवार एवं नन्द और वृषभानुपुर के समस्त पुरजन सम्मिलित रहते हैं। निकुंज के विवाह में लोक में प्रचलित वैवाहिक रीतियों में से केवल एक दो अत्यन्त रसोत्पादक रीतियों का ही वर्णन होता है, ब्रज का विवाह लोक की रीतियों का अधिक से अधिक अनुसरण करता है। अष्टछाप के कवियों में सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, नंददास और चतुर्भुजदास के ऐसे कई फुटकल पद मिलते हैं जिनमें उन्होंने

व्रज में प्रचलित पद्धति के अनुसार राधाकृष्ण के विवाह का वर्णन किया है। उदाहरण के लिये सूरदासजी आदि के श्री कृष्ण की विवाह-उत्कंठा, उनकी सगाई, सेहरा, महदी-रचना, घोड़ी और बरात वर्णन के पद प्राप्त हैं। इसी प्रकार चैतन्य-सम्प्रदायानुयायी श्री गदाधर भट्ट, सूरदास मदनमोहन, जगन्नाथ और माधुरीदास ने ब्रज के विवाह का वर्णन फुटकल पदों में किया है। राधावल्लभीय सम्प्रदाय में चाचाजी से पूर्व वलीजी, गोस्वामी कमलनयन जी, जयकृष्ण जी और सहचरि सुखजी ने व्रज के विवाह की विभिन्न रीतियों का वर्णन फुटकल पदों में किया है। गोस्वामी कमलनयन जी का उबटने का पद, वलीजी और जयकृष्णजी के 'पलकाचार' के पद, जयकृष्ण कृत नन्द और वृषभानु का 'शाखोच्चार' और सहचरिसुख का 'सुहाग' और 'घोरी' गान से सम्बन्धित पद प्राप्त हैं। किन्तु उपरोक्त किसी कवि ने भी सम्पूर्ण विवाह का वर्णन नहीं किया है। चाचाहित बृन्दावन दास ने इस कार्य को अपने 'राधालाड़सागर' नामक ग्रन्थ में किया है। उन्होंने इस ग्रन्थ में श्री कृष्ण की विवाह-उत्कंठा से आरंभ करके 'गौनाचार' तक की लीला का वर्णन किया है। 'लाड़ सागर' में प्रबन्ध की धारावाहिकता का निर्वाह करने के लिये उन्होंने विवाह की कई नई रीतियों का वर्णन किया है जो कि उनके पूर्व किसी कवि ने नहीं किया। 'खेत कौ दाइजौ,' 'रहसि बधाये की असीस' 'गौरनीचार' 'छरी खिलावन' और गौनाचार' के कोई पद चाचाजी के पूर्व के नहीं मिलते। 'गौनाचार' में चाचाजी ने राधाकृष्ण के प्रथम

मिलन का भावपूर्ण वर्णन किया है और राधा लाड़-सुहाग के विशद गान के साथ उन्होंने इस ग्रन्थ को समाप्त किया है । इस ग्रन्थ में चाचाजी की कई छोटी बड़ी बेलियों का संग्रह हुआ है किन्तु यह संग्रह उनके कृपापात्र केलिदास ने, संभवतः, उनके जीवन काल में ही कर दिया था। इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण विवाह का वर्णन श्री राधा की प्रधा-नता रख कर किया गया है और इससे राधाचरण-प्रधान वाली रसरीति के प्रचार में बहुत बड़ी सहायता मिली है। चाचाजी ने ब्रज में प्रचलित लोक रीतियों का विनियोग तो लीला में किया ही है, साथ ही ब्रज के गावों में गाये जाने वाले लोक गीतों की स्वर-योजना (ट्यूनों) एवं उनके रूप-विधानों को भी राधा कृष्ण की प्रेम-लीला के गान में नियुक्त किया है। चाचाजी की 'टेरें' प्रसिद्ध हैं। ब्रज की किशोरियाँ अब भी पावस ऋतु में झूला झूलते समय 'टेरें' गाती हैं। टेरों की स्वर योजना बड़ी सबल और मधुर होती है। इस प्रकार के विशिष्ट स्वर योजना से युक्त, अन्य रूप-विधान 'सुवटा', बन जारौ' आदि हैं। 'सुवटा' कीर-दूत का ही लोक-गृहीत रूप है और 'सांझी लीला' का अंग माना जाता है। 'बनजारौ' में श्री राधा पावसारंभ में बनजारे के हाथों अपनी माता के पास अपने बुलाने के लिये प्रेम-गद्गद संदेश भेजती हैं। इस प्रकार की रचनायें रसज्ञों से लेकर साधारण जन समाज तक का मनरंजन करती हैं।

चाचाजी ने लोक में प्रचलित 'बारहखड़ी' और 'बारहमासा'

के आधार पर 'बारहखरी भजनसार बेली' और 'बारहमास विहार बेली' की रचना की है। बारहखरी भजनसार बेली का एक उदाहरण देखिये,

कक्का कानन बसत हैं कोक-कुसल रस-सूर।
कुंवरि कुंवर कमनी महा करत काम-मद चूर॥
खख्खा खेलत कुंजकल जुगल खरे रिझवार।
षोडस साजै तन बनी राधा छवि-आगार॥

उन्होंने लोकोक्तियों को आधार बनाकर एक काफी लम्बी रचना 'भजन कुंडलिया उपदेश बेली' के नाम से की है। दो कुंडलियां देखिये,

जहां ठाकुर मिठ बोलनौ घने बसैंगे लोग।
घने बसैंगे लोग होय मन सीतलताई।
बाढ़ै नवधा भक्ति ज्ञान-वैराग्य निकाई॥
फल रूपा वह प्रेम लच्छना जब उर आवै।
वैभव वृन्दा विपिन पाइ सुख हियो सिरावै॥
वृन्दावन हित जुगल रस विलसहिं सहज सँजोग।

बँधे रहैं ते बाछरू निर्बंधन मृगराज॥
निर्बंधन मृगराज सकल बन प्रभुता जाकी।
ऐसे साधु सुबुद्धि जुगल रस जिहि मति छाकी॥
अखिल लोक मणि मुकुट तीर कालिन्दी बन है।
राधा रूप अगाध श्याम सेवत मन लैहै॥
वृन्दावन हित गूढ़ गति यह रस-रसिक समाज।
बँधे रहैं ते बाछरू निर्बंधन मृगराज॥

चाचाजी के अत्यन्त विस्तृत काव्य-क्षेत्र का सिंहावलोकन भी यहाँ नहीं किया जा सकता है। इसके लिये एक स्वतन्त्र

'अध्ययन' की आवश्यकता है। चाचाजी ने अपने पूर्व के सम्पूर्ण कृष्ण-भक्ति-साहित्य के लगभग सभी रूप-विधानों और छंदों को ग्रहण करके रचनायें की हैं और उनमें जहाँ-तहाँ परिवर्तन करके उनको अपनी रसरीति के अनुकूल बनाया है। चाचाजी की अधिकांश रचनाओं की भाषा बोलचाल की ब्रज भाषा है। जहां उन्होंने साहित्यिक भाषा का उपयोग किया है वहाँ भी आवश्यकता पड़ने पर वे बोलचाल के शब्दों का प्रयोग कर देते हैं। उनकी ऐसी रचनायें कम हैं जिनमें दो एक दुर्बल पंक्तियां न निकल आती हों। इसका कारण कदाचित् यह हो कि उनको अपनी कृतियों को दो बार देखने का अवसर नहीं मिला। चाचाजी के सम्बन्ध में यह अनुश्रुति है कि वे अनवरत पद-रचना करते रहते थे और उनके कृपा पात्र केलिदास उसको लिखते चलते थे। 'केलिदास वाणी आई' की सूचना के साथ वे पद गाने लगते थे और पद समाप्त हो जाने पर आगामी पद की भावना में निमग्न हो जाते थे। एक ही प्रकार की अत्यधिक रचना करने के कारण उनकी कृतियों में सर्वत्र साहित्यिक गुण नहीं आ पाये हैं। रसोपासक कवियों की काव्य-प्रतिभा का एक मात्र आधार उनकी प्रेम लीला सम्बन्धी अनुभूति है। यह जितनी तीव्र और प्रत्यक्ष होती है, उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही मनोरम होती है। चाचाजी के लिये भी यह बात उतनी ही सत्य है। वे जब रस-सिक्त कंठ से गाते हैं तब उनकी वाणी में प्रेम की हिलोरें उठने लगती हैं और वह अतीन्द्रिय सौंदर्य को प्रत्यक्ष करने में समर्थ बन जाती है।

व्यासजी ने अपने एक पद में श्री हिताचार्य को 'लीला मान सरोवर हंस' * कहा है। चाचाजी में भी यह गुण अनेक अंशों में विद्यमान है। उन्होंने जितनी नई लीलाओं की उद्-भावना की है उतनी शायद कोई भक्त कवि नहीं कर सका है। रास, होली, झूलन आदि प्रत्येक के इन्होंने सैकड़ों पद कहे हैं और हर एक में एक नई लीला खड़ी की है। राधावल्लभीय परिपाटी की लीलाओं में राधाकृष्ण के प्रेम-रूप का वर्णन तो खूब होता है किन्तु नई-नई परिस्थितियों और संयोगों का चमत्कार कम रहता है। चाचाजी ने अपनी अधिकांश लीलाओं में वृन्दावन रस रीति की रक्षा करते हुये इस कमी को पूर्ण करने की चेष्टा की है और इसीलिये उनकी लीलायें अधिक लोक-प्रिय बन सकी हैं। उदाहरण के लिये उनका एक झूलन का पद ले लीजिये। लाड़ भरी श्री राधा बरसाने में झूल रही हैं। उनके अद्भुत प्रेम-रूप के स्वा-भाविक वर्णन से चाचाजी पद को आरंभ करते हैं,

झूलत प्रिया सभागी मुरली धरन की।
बल्लव राज कुमारी गोरे बरन की॥
गौर बरन विसाल नैनी नवल जोवन उलहनी।
जसोमति जो लाड़ भाजन तासु प्यारी दुलहनी॥
प्रेम सरवर झुके तरुवर महा कमनी तीर में।
सुथरता किन विधि रची तन लसै कसूंभी चीर में॥

*** नमो नमो जय श्री हरिवंस।**
रसिक अनन्य वेणु कुल मंडन लीला मानसरोवर हंस॥

शोभा न बरनी जात मोपै अंचला फरहरन की ।
वृन्दावन हित रूप झूलत प्रिया मुरली धरन की ।।

दूसरे छंद में वे श्री राधा के झूलने के प्रकार का चमत्कार पूर्ण वर्णन करते हैं,

रमकनि बरनो न जाई डोरी करन हैं ।
फटिक मणिनु की पटुली चापैं चरन हैं ।।
चरन चापैं मुख अलापैं सुर सुधा बरसैं अहा ।
सांवन जु सुख विस्तरन राधा कहौं इक रसना कहा ।।
तरुवनि ललाई बढ़ि चली ज्यौं सबल झोटा लेति है ।
जगि-जगि उठत मुख ज्योति घूँघट खुलनि अति सुख देति है ।।
त्रैलोक्य सुन्दर मदन मोहन तासु चितवित हरन हैं ।
वृन्दावन हित रूप झूलत मृदुल डोरी करन हैं ।।

तीसरे छंद में, श्री राधा के इस अनुपम रूप प्रकाश से आकृष्ट होकर उनके प्रियतम 'साँवरी सहेली' के वेष में आ पहुँचते हैं। सखियाँ उनके रूप-माधुर्य को देख कर चकित हो जाती हैं और श्री राधा से सांवरी सखी को अपने साथ झुलाने की प्रार्थना करती हैं। दोनों झूलने लगते हैं और सांवरी सखी गिरि की दिशा में मेह की 'झमकि आवन' देखकर श्री राधा से अनुनय करती है,

चलि बलि सघन कुंज में जहाँ बूंद न परैं ।
दुरि बैठें सबहिनु तैं रस-बतियाँ करैं ।।
करैं रस-बतियाँ सँदेशौ तो प्रीतम तोकौं कह्यौ ।
अधिक चित में चटपटी बिनु कहे अब जात न रह्यौ ।।

तुम हौ कुशल मति अहो नागरि कह्यौ मेरो कीजिये ।
नियरे जु आयौ मेह अब क्यौं चढ़ि हिंडोरे भीजिये ।।
भोरी प्रिया अरु चतुर पिय एकान्त मिलि सुख विस्तरैं ।
वृन्दावन हित रूप कामनी कुंज जहाँ बूंदन परैं ।।

रस-झूलन का चरम उत्कर्ष रस-विलास में दिखलाकर चाचाजी पद समाप्त करते हैं। साधारणतया झूलन के पदों में झूले का वर्णन और युगल के प्रेम-विकारों का वर्णन रहता है। प्रस्तुत पद में साँवरी सहेली के आगमन के साथ नाटकीय तत्वों से युक्त एक कथानक-सा चल पड़ता है जो वर्णित लीला को अधिक आकर्षक बना देता है ।

चाचाजी की लीला की टैकनिक को स्पष्ट करने वाला एक दूसरा पद देखिये। यह रास का पद है। पद के आरंभ में ही सखी जन युगल में नृत्य की होड़ (बाजी) लगा देती हैं। पहिले श्याम सुन्दर नृत्य करते हैं और चाचाजी जी खोल कर उनके नृत्य का वर्णन करते हैं,

उमगि आनंद की रास लागी झरी ।

उत सजे लाल इत नवल नागरि सजी,
अपूरव लेत गति ताल दै चर्चरी ।।
करति परसंस ललिता दुहुँनि मान दै,
देखिये सुघरता अधिक काकी खरी ।
लाल विहँसे ललित ग्रीवकौं ढोरिकै,
मोरि दृगकोर पद ठुमकि गति विस्तरी ।।
जलद घुरवा उठ्यौ नवल प्रेर्यौ पवन,
दृगनि कौ लाभ आवनि महा छविभरी ।

किधौं सिंगार तरु रूप के बाग में,
लसत कमनी बार कनक बेलिनु करी ।।
वदन की हँसनि में रदन तें द्युति कढ़ी,
तत्त थेई थेई मोहन जु धुनि उच्चरी ।

नृत्य समाप्त होने पर सखीजन प्रेमोल्लास में भरकर उनके ऊपर पुष्पांजलि वारती हैं और श्री राधा 'भलैं जू भलैं' कहकर अपने प्रियतम को आदर देती हैं । 'सखी पहुपांजुली वारि चटकैं करनि 'भलै जू भलैं' कहि प्रिया अति आदरी ।' अब श्री राधा नृत्य प्रारंभ करती हैं । चाचाजी अपनी रासेश्वरी स्वामिनी के विस्मय जनक नृत्य का सजीव चित्र खड़ा कर देते हैं । नृत्य के शेष में 'नागरहरि' 'धन्य गौरंग' बोल उठते हैं,

. हुलसि गति लेत दामिनि निकर मन्द्रलसी,
भेद हस्तक करत चंद्रिका फरहरी ।।
भाइ जुत नवनि मनु अवनि परसत नहीं,
गति जु संगीत ते चरन आगे धरी ।
चंद की जोति में लीन-सी होति है,
महा सुकुमार विद्यानि आलय अरी ।।
कला कोटिक रचति स्वाँस साधे नचति,
देखिरी चातुरी उघरि हिय तें परी ।
भये दृग चंचला हलतु हैं अंचला,
जुवति चूड़ामणी रास सुख अनुसरी ।
वृन्दावन हित रूप 'अतिहि गुनवंत तू धन्य गौरंग',
कहैं रीझि नागर हरी ।।

रास के पदों में श्यामा श्याम के 'होड़-होड़ी' नृत्य करने

का उल्लेख अनेक महात्माओं ने किया है। सूरदासजी के एक पद में भी यह मिलता है,

होड़-होड़ी नृत्य करैं रीझि रीझि अंक भरैं,
तत्त थेई-थेई-थेई उघटत हैं हरखि मन।
(सूरदास)

होड़ लगाकर नृत्य करने पर श्यामा श्याम, स्वभावतः, अपनी श्रेष्ठतम कला का प्रदर्शन करते हैं। इसी बात को व्यंजित करने के लिये सूरदास जी ने अपने पद में 'होड़-होड़ी नृत्य' का उल्लेख किया है। चाचाजी ने अपने पद में इस होड़ का नाटकीय शैली में वर्णन करके एक स्वतन्त्र और आकर्षक लीला खड़ी करदी है। इस ढंग के वर्णनों से लीला के प्रत्यक्षीकरण में भी बहुत सहायता मिलती है और यह तो स्पष्ट है कि लीला जितने अंशों में प्रत्यक्ष बनती है उतने ही अंशों में वह आस्वादित होती है।

चाचाजी की छद्म-लीलाओं में, जिनका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं, लीला-वर्णन की यह कला बहुत विशद रूप में प्रगट हुई है। प्रत्येक छद्म-लीला में एक नाटकीय प्रबंध चलता है जिसमें श्याम-श्यामा की अत्यन्त गंभीर प्रीति आकर्षक और सहज गम्य रूपों में प्रकाशित हो जाती है। उदाहरण के लिये 'गौने बारी लीला' में श्यामसुन्दर नववधू के वेष में बरसाने के अन्तःपुर के द्वार पर यह कहते हुये उपस्थित होते हैं, मैं 'नन्दगांव से आई हूँ और किसी भद्र कुटुम्ब में एक रात निकालना चाहती हूँ'। संयोगवश उनकी भेंट ललिता से हो

जाती है और वह उनको श्री राधा के पास पहुँचा देती है। नव वधू घूंघट लगाकर श्री राधा के पैरों पड़ती है और उनसे प्रार्थना करती है 'आप मुझे किसी के साथ मेरे पीहर पहुँचा दें, मैं नन्दगांव की अनीति देखकर वहाँ से भाग आई हूँ' ! श्री राधा करुणार्द्र बनकर उसको किसी भी स्थिति में पति गृह न छोड़ने का उपदेश देती हैं और उससे पूंछती हैं कि नन्द-गाँव में उसके साथ किसने अनीति पूर्ण बर्ताव किया है। नव वधू बतलाती है कि अभी थोड़े दिन पूर्व ही वह गौना (द्विरा-गमन) होकर नन्दगांव पहुंची है। एक दिन वह अपनी 'पौरी' पर खड़ी थी कि उसको 'कुंवर कन्हाई' ने देख लिया। बस फिर क्या था ?

वह ढ़ोटा रिझवार रूप कौ मो मन भरी भुराई ।
भूल्यौ खेल और ठौरन मो द्वारे धूम मचाई ॥

इसके बाद वह नंद- ढ़ोटा की 'हुरयाई' (होली के ऊधम) का विशद वर्णन करती है और अंत में कहती है,

औसरु पाय निकसि कैं आई मो में कहा बुराई ?
विधि बाँधी जु गरे में शोभा यह मोहि नाच नचाई ॥
अब काहू ढिग बैठि रहौंगी वह पुर गयौ न जाई ।
कीजै कहा होहि जो राजा हू कौ सुत अन्याई ॥
तुम हो राज सुता जु न्याय की यह घर रीति सदाई ।
शिक्षा देहु कृपा करि मोकौं ज्यौं मन मिटै कचाई ॥

श्री राधा ने उसकी अद्भुत कहानी सुनकर उससे कहा 'तुम आज रात तो हमारे भवन में ठहरो। कल मैं नंदगाँव 'ढाँढ़िन' भेजकर यह पता लगा लूँगी कि तेरे पति का अपराध

है या तेरे सास-ससुर का या नृप-सुत का। धीरे-धीरे दिवस व्यतीत हो गया। श्री राधा ने 'साँवरी को अपने साथ बैठाल कर ब्यालू कराई। जब वे शयनकक्ष में जाने लगीं तो नव वधू ने प्रार्थना की, 'मुझको अकेले में नींद न आयेगी। आप मुझे निकट ही स्थान दें, मैं अनेक रोचक कहानियाँ सुनाकर आपका मनोमोद करूँगी। श्री राधा ने उसकी बात मान कर अपने कक्ष में ही उसके सोने का प्रबंध कर दिया।

'साँवरी' आदर पूर्वक श्री राधा के निकट जाकर उनके चरण पलोटने लगी। अवसर देखकर श्री राधा ने उससे कहा- आज तुमने नंदगाँव की जो घटना सुनाई है उसमें एक बात तो यह मेरी समझ में नहीं आई कि,

तू कारो कारौ जु नंद सुत कैसे प्रीति दृढ़ाई ।

फिर अपने प्रियतम का स्मरण आते ही गंभीर बनकर उन्होंने कहा 'और दूसरी बात यह है कि,

मुरलीधर कै व्रत अनन्य मो बिनु न और मन भाई ।

और;

कहत-कहत ही हिय भरि आयौ नैननि नीर बहाई ॥

यह देख सुनकर 'साँवरी' को मूर्च्छा आ जाती है। सखियाँ दौड़ पड़ती हैं और श्याम सुन्दर पहिचान लिये जाते हैं। श्री राधा स्वयं उठकर अनेक प्रेममय उपचारों से उनकी मूर्च्छा दूर करती हैं और परस्पर दोनों 'प्रियतम' प्रेम क्रीडा में निमग्न हो जाते हैं।

इस शैली में अलंकारों का प्रयोग सर्वत्र आवश्यक नहीं

होता । लीला की वस्तु-योजना ही लीला को अनुप्राणित और अलंकृत करती रहती है । राधावल्लभीय साहित्य की यह सामान्य प्रवृत्ति है । युगल के अदभुत प्रेम-रूपा के अलंकार-हीन किन्तु चमत्कार पूर्ण वर्णन चाचाजी के अनेक पदों में देखने को मिलते हैं। पावस-विहार का एक वर्णन देखिये,

दौरि लेहु छहियाँ वंशीवट की ।
आयौ मेह निकट प्यारी यौं, बोलनि नागर नट की ।।
रवकि चलीं भामिनि प्रीतम उर,बाहु ढ़रनि छवि अटकी ।
आगैं गौर पुंज पिय पाछैं, फरकनि पियरे पट की ।।
आतुर पवन सजल घन दामिनि, कौंधति है चट चटकी ।
बैन अधीर नैन चंचल जब, बूंद पात तरु खटकी ।।
खरे तरुमूल लाल अंसनि लगि,कुंवरि छबीली लटकी ।
झिझकत जब बौछार लगत जल, लखि शोभा संघट की ।।
उरझन प्रेम कौन विधि बरनौं, लीला रविजा तट की ।
वृन्दावन हितरूप बढ़ि परथौ, उपमा देतहिं सटकी ।।

इस शैली के सबसे अधिक अनुकूल पड़नेवाला अलंकार 'रूपक' है । चाचाजी ने अनेक सांग रूपक बाँधे हैं । निम्न-लिखित उदाहरण लंबा होते हुये भी दर्शनीय है,

राज निधि नवल प्रियातन राजै ।
फरहरात कमनीय वदन पर अंचल पवन विराजै ।।
भौंह कमान तिलक सर साधै जीतन मदन मवासी ।
एक तैं एक सुभट सुन्दर अंग महारथी मृदु हाँसी ।।
चंचल बंक दृगनि पर वारौं कोटिक काम तुरंग ।

मंद चलनि गज गतिहि लजावत करत लाल दृग पंग ।।
रूप गर्व कौ अचल सिंहासन छत्र सुहाग सदाई ।
मंत्री नेह कियौ बस अपने त्रिभुवन ईस कन्हाई ।।
देश सुदेस प्रेम प्रीतम सौं सकल सुखन की रासी ।
कजा अनेक रहत कर जोरै शक्ति सबै जाकी दासी ।।
गुन अति गहर कहत्र नहिं आबै परजा आज्ञाकारी ।
नव जोबन आनँद कौ वैभव विलसत पिय सँग प्यारी ।।
सुरत समर दल-मले मदन दल नूपुर निसान बजाई ।
वृन्दावन हित रूप स्वामिनी अखिल भुवन की राई ।।

चाचाजी को व्यतिरेक अलंकार भी बहुत प्रिय है और उसकी बड़ी सुन्दर योजनायें उनके अनेक पदों में मिलती हैं । एक उदाहरण देखिये;

भींजत कुंजनि तर छवि पावन ।
उत नव नीरद इतहि श्याम घन दुहुँ दिसि बहस बढ़ावत ।।
उत दामिनि इत भामिनि राधा छिन-छिन छबि सरसावत ।
उतहिं दुरत इत अचल विराजत मुसकनि हियहि सिरावत ।।
उतहिं बरसि अवनी करि सीतल गरज शिखंडनि भावत ।
इत मुरली मग ह्वै त्रिभुव कौं बरस अमीरस प्यावत ।।
उत मारुत अरि तें डरि विचरत इत नित नव दरसावत ।
वृन्दावत हित रूप परावधि विवि घन तड़ित लजावत ।।

चाचाजी ने अधिकतर प्रचलित उत्प्रेक्षाओं और उपमाओं का उपयोग किया है, किन्तु कहीं-कहीं अनूठी उत्प्रेक्षा और उपमाएँ मिल जाती हैं । उत्प्रेक्षाओं से लदा हुआ एक पद देखिये;

नीलाम्बर वदन ढाँपि पौढ़ी नव वाला ।
पिय समीप छवि अपार बाढ़ी तिहिं काला ।।
किधौं रूप जाल विंध्यौ राका शशि सजनी ।
किंधौं प्रात उदौ होत रोक्यौ रवि रजनी ।।
झीने पट स्वास हलत ऐसी छवि पाई ।
उडुगन पति ऊपर मनु रविजा बहि आई ।।
जगमगाय रह्यौ अधिक बेसर कौ मोती ।
मानौं जल जाप करत बेठ्यौ भृगु गोती ।।
मृदुल भुजा सीस रसिक लाल हिय समानी ।
हित वृन्दावन कहत जाहि वर विहार रानी ।।

चाचा जी के विस्तृत साहित्य में से कुछ उदाहरण दिये जाते हैं ।

नमो नमो-पावन पद संत ।
हरि तारे कोइक अनुरागी भक्तनि तारे जीव अनंत ।।
करुना कुशल जगत जुर हरनी पर उपकारी अति गुनवंत ।
कृष्ण रसाइन दै दुख मेटत कृपा सिंधु क्यौं पावै अंत ।।
तन तरवर तें पाप ताप सब झरैं भक्ति उलहन्त ।
वृन्दावन हित रूप महामति हरि धन धनिक उदार महंत ।।

कृष्ण नाम निज कल्पतरु मन सेय सदाई ।
तू विहंग बहुत भ्रम्यौ अब तजि चपलाई ।।
भक्ति महा फल सौं फल्यौ रहै बारह मासा ।
काल वधिक तिहिं वन नहीं चलि कीजे वासा ।।
छाया शीतल अति सुखद भागौत पुराना ।
तिहि शरनागत होत ही नसै ताप अजाना ।।
शाखा पत्र हरे भरे प्रभु चरित अपारा ।
पुहुप सुवास सुयश अमल पूर्‌यौ संसारा ।।

शुक सनकादिक शेष शिव नारद जहाँ भौंरा ।
जिहिं रस मत्त सदा रहैं याचत नहिं औरा ।।
श्री गुरु दियौ बताय कै अद्भुत अस्थाना ।
वृन्दावन हित रूप वलि करि बेगि पयाना ।।

विचारत ऐसे ही दिन जात ।
कब मिलि हौ व्रजजीवन प्यारे गोरे साँवल गात ।।
कहिबे में नियरे से लागत सुपनेहु नहिं दरसात ।
अब कछु निठुर भये या जुग में तातें मन पछितात ।।
करुनानिधि किहिं भाँति कहावौ सुनत नहीं सकुचात ।
वृन्दावन हित रूप प्रान पति सुनियौ मन दै बात ।।

रसना श्यमा श्यामहिं सुधि करि ।
नेह गली गहि पैंठ चौंप ससौं नैन कोष शोभा संपति भरि ।।
सुमति हंसिनी राखि सहेली दुरिमति दूरि कागनी परिहरि ।
वृन्दा विपिन विहार बाँकुरौ ताकौं सुमिरि हिये के हिय धरि ।।
मिथुन किशोर केलि वन कौतिक या सुख स्वाद गहर चसके परि ।
हे सजनी, रजनी जगि वितबौ लोभी नैन न जाहिं पलक टरि ।।
वह छवि भीर वहीर प्रेम की हीयें घुरि आवै तव गहवरि ।
लता एक गहि रहौं बिवस ह्वै आनँद भरि हग वारि चलै ढरि ।।
बोलै निकट हितू तब हित की बात बूझि है मोकौं अरबरि ।
वृन्दावन हित रूप जाऊँ वलि हे रसना अब इहि सुख अनुसरि ।

गौर तन चूनरि सुरँग लसी है ।
अति ही वेष सुदेश रीति सौं अँग-अँग अगसग सी है ।।
मानौं कनक खंभ के अंतर सरसुति धार धसी है ।
किधौं अनुराग जाल में कौतिक दामिनि आनि फसी है ।।
छोटी बूँदें खुभि रहीं ता मधि इहि निधि छवि दरसी है ।
अति मृदु गात परसि प्यारी के भाग्य मनाइ हँसी है ।।

पुनि तन बने मणिनु के भूषण तिनकी दुति निकसी है।
सब अँग मनहुँ भये रोमांचित गरुवे प्रेम डसी है।।
पवन परसि छूटत जब तन तैं सिर तैं कछुक खसी है।
तब रँग हानि सहति जल भींजत गाढ़ी कसनि कसी है।।
चाह चौगुनी पिय हिय देखन पावस रितु हुलसी है।
वृन्दाबन हित रूप जाउँ बलि यह छवि हिये बसी है।।

ललो चिरजीवनी तेरी।
अब या व्रज सुख सिंधु बढ़ैगौ सुनि असीस मेरी।।
हौं हूँ मचलि परचौ या पौरी मुख देखौं रहौं नेरी।
वृन्दाबन हित रूप भाग्य फल दैव दयौ एरी।।

किंकिणी दुंदुभी चंद्रिका धुज मनौं,
मदन गढ़ लैन कौं नवल नागरि चली।
कियौ प्रस्थान उत्साह मनकौं दियौ,
सुरत रन खेत सिज्या जु शोभित भली।।
अंग हरखे सुभट अगमने पग धरत,
परम कौतुक करत मन जु यह अतिबली।
लाल के भाल पर तेज अति जगमग्यौ,
डहडहे नैन ज्यौं खिले वारिज कली।।
सजी सैना जु अभिलाष नाना मनौ,
महल में अपूरब होयगी रँगरली।
कोक की कला सब लाजु अब होंयगी,
परैंगी सुविधि चित-वृत्ति रूपा अली।।
वलय कंकरण विजय सुजस अब गाइ हैं,
प्रेम वस निरखि बंदै मदन पग तली।
वृन्दाबन हित रूप राधिका लाल मिलि,
सेज निवसित भये वारि पुहपावली।।

श्री चन्द्रलाल गोस्वामी

श्री बनचन्द्र-सुता सुवंश आदरैं रसिक जन।
बानी सानी अमी वदन उच्चरत मुदित मन ।।
हित मारग रस-रीति अर्थ विस्तार विचक्षन।
कृपा द्रवित रहै हियौ सुमति संचरचौ भजन धन ।।
सुत गोवर्धन नाथ के, मूरति सुभव्य दृग देखिये।
श्री चन्द्रलाल लाली अधिक, सज्जनता हिये विसेखिये ।।
(चाचाजी—रसिक-परचावली २४२)

श्री चन्द्रलाल गोस्वामी चाचा हित वृन्दावनदास के सम-सामयिक थे और अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे। हिताचार्य के ज्येष्ठ पुत्र गो० वनचन्द्रजी की सुता किशोरी जी के वंश में इनका जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम गोस्वामी गोवर्धननाथ था। इनके सम्बन्ध में अन्य कोई बात अभी तक ज्ञात नहीं है। गोस्वामी जी के अनेक ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें से केवल दो में रचना-काल दिया हुआ है। वृन्दावनप्रकाश-माला की रचना सं० १८२४ में हुई है और गोस्वामी कृष्णचन्द जी रचित उप-राधासुधानिधि की टीका सं० १८३५ में पूर्ण हुई है। यह संस्कृत के भी अच्छे विद्वान थे और संप्रदाय के कई प्रौढ़ संस्कृत-ग्रन्थों के बड़े रमणीय भाषांतर इन्होंने व्रजभाषा-पद्य में किये हैं। गोस्वामी जी की लगभग संपूर्ण रचना कवित्त-सवैयों में है। लेखक ने इनके केवल दो पद देखे हैं जो हिताचार्य की 'बधाईयाँ' हैं।

पूर्ण भावुकता के साथ स्वाभाविक वचन-विदग्धता का योग इनकी वाणी में हुआ है। इनके अनेक कवित्त-सवैये व्रज-भाषा-साहित्य के सुन्दरतम कवित्त-सवैयों के साथ रखे जा

सकते हैं। इन छंदों में अनुप्रासों के विदग्ध प्रयोग के द्वारा तालमय सौंदर्य की सृष्टि होती है। गोस्वामी जी सौंदर्य-सर्जन की इस कला में पारंगत हैं। उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ का व्रजभाषा का हलका-फुलका रूप इन कवित्तों में दिखखाई देता है, लगभग वैसा ही जैसा पदमाकर आदि में है। संस्कृत ग्रन्थों के भाषान्तरों में भी गोस्वामीजी ने इन ही दो छंदों का, विरल दोहों के साथ, उपयोग किया है। इनकी वाणी में प्रेमाभक्ति और नित्य-बिहार की रसरीति का व्याख्यान बड़ा रोचक हुआ है। लीला से संबंधित छंद इनके कम हैं किन्तु हैं बड़े सुन्दर। राधावल्लभीय साहित्य में लाल स्वामी जी के बाद, वृन्दावन रस रीति के वर्णन में, एक मात्र कवित्त-सवैयों का उपयोग गोस्वामी जी ने ही किया है।

इनकी कुछ रचनायें नीचे दी जाती हैं:—

राधा कृष्ण गावैं रोम-रोम हरसावैं,
मोद झरी सी लगावैं पुलकावै अंग-अंग में।
बात यौं बनावैं तामें रूप लै दिखावैं,
आप छकैं औ छकावैं सुख पावैं या प्रसंग में॥
पामर पतित महा कपटी कदर्ज नर,
तिनहूँ कौं खैंचि बोरि देत प्रेम-रंग में।
कहत अभंग में यौं हिय की उमंग में,
जू मोहि राखौ सदा ऐसे रसिकन संग में॥
(अभिलाष बत्तीसी)

हिय अकुलात तरसात सरसात सदा,
बार-बार कहौं अजू कृपा बेगि कीजिये।
अंतराय पलहू कौ मैं तौ न सम्हार सकौं,
छिन-छिन माँझ मेरौ यह तन छीजिये॥

रूप सिंधु भींजिये यों कृपा रस पीजिये,
श्रौ कबहूँ न पतीजिये जू यही जस लीजिये ।
साँचे तौ श्रनेक तारे प्यारे लाल-बाल,
एक चंद झूँठे हू कौं बास वृन्दाबन दीजिये ।।
(श्रभिलाष बत्तीसी)

मन की गति तौ तुम जानत हौ तनसौं नाँहि काज कछू बनि श्राइबौ ।
जानत नाहिं धौं कौंन कृपा बल श्री हरिवंश कौ पंथ मिलाइबौ ।।
कैसे कहौं जु दयालुता रावरी जैसे श्रनुग्रह सौं हित छाइबौ ।
ऐसी करौ सतसंग के रङ्ग में श्रीवन-वास निरन्तर पाइबौ ।।
(श्रभिलाष बत्तीसी)

देवता पितर तुम सब मिलि सुनौं,
श्रास छाँड़ियौ हमारी यह बलि न तुम्हारी हैं ।
देवता पितर तौ हमारे श्री मुकुंद नित,
भई श्रभिलाष याके वेई श्रधिकारी हैं ।।
तुमहूँ सो चाहौ तऊ लहौ सब जननि सौं,
हानि लाभ हमैं नाहिं बात यौं विचारी है ।
सब भय छाँड़ि श्रब लाड़िली की श्राड़ लीहैं,
विपिन विहारी कौ भरोसौ हमैं भारी है ।।
(कर्णानंद श्लोक २२ का श्रनुवाद)

वृन्दावन वास श्याम-श्यामा कौ निवास जहाँ,
चित के हुलास जुत श्रासहि लगाइ हौं ।
रसिक उपासिक श्रनन्यनि कौ सङ्ग गहि,
वानी रस सानी नित प्रीति ही सौं गाइहौं ।।
कोऊ कहौ बुरौ फेरि कोऊ कहौ भलौ मोहि,
दोऊ सौं न काज हिय दंपति बसाइ हौं ।

यह तन पाय राधावर गुन गाय,
चंद हित कौ कहाय और कौन कौ कहाय हौं ।।
(वृन्दावन-प्रकाशमाला)

छुटत फुहारे ताकी अद्भुत अनूप शोभा,
पन्ना की झलक भयौ हरौ रंग नीर कौ ।
पानदान पीकदान धरे हरे पन्ना ही के,
हरौ ही दिखत कंठ धरचौ हार हीर कौ ।।
सखिनु समेत सब भूषन वसन हरे,
हरौ रंग दीखै उन भौंरनि की भीर कौ ।
ऐसी हरियारी सब बन में जु फैलि रही,
हरौ रङ्ग होइ गयौ सुखद समीर कौ ।।

गावत फिरत अनुराग भरे बाग ही में,
राग जमि रह्यौ भरि भाग बेला-बेली कौ ।
बैठि के झकोर तान तोरि के चलत आगै,
सोर नहिं होत तहाँ खग औ खगेली कौ ।।
तरु तन देखि-देखि हिय में विशेषि हित,
भाव ही बतावैं कर पकर सहेली कौ ।
हँसि-हँसि हेरि-हेरि उर-उर भेरि-भेरि,
रसिकनि प्यावत हैं दिव्य रस केली कौ ।।

श्याम घन तन द्युति दामिनि सुभामिनि हौ,
हित दिन-जामिनि हौ सुन्दर बरन हौ ।।
कुमति के घायक हौ, सोभा सब लायक हौ,
संत मन भायक हौ असरन सरन हौ ।।
सबनि के कारन हौ विपिन विदारिनि हौ,
ताप निर्वारनि हौ तारन तरन हौ ।

नेह के धरन छवि रूप के भरन,
चंद दुख के हरन हित सुख के करन हौ ॥
(समय पच्चीसी)

वह बन भूमि द्रुम लता रहीं झूमि ते तौ,
त्रिविध समीर सौं उठति हैं लहकि-लहकि ।
फूलीं नव कुंज तहाँ भँवर करत गुंज,
सदा सुख-पुंज रह्यौ सौरभ महकि-महकि ॥
कोकिल मयूर शुक सारौ आदि पक्षी सब,
दंपति रिझावत है गावत गहकि-गहकि ।
हित सौं जे देखैं नित तिनकी तौ कहा कहौं,
बात ही में चंद चित जात है बहकि-बहकि ॥
(समय पच्चीसी)

रूप के सरोवर में अली कुमुदावली हैं,
लाल हैं चकोर तहाँ राधा मुख चंद हैं ।
छवि की मरीचिन सौं सींचत है निस दिन,
कोटि-कोटि रवि-ससि लागैं अति मंद हैं ॥
इक टक रहैं मुख नाम सुख लहैं फिर,
कृपा-दृष्टि चहैं सुख रूप नँद-नंद हैं ।
जाकौं वेद गावैं मुनि ध्यान हूँ न पावैं,
तेतौ बलि-बलि जावैं हित फँसे प्रेम फंद हैं ॥
(भावना पच्चीसी)

पूरन सरद ससि उदित प्रकासमान,
कैसी छवि छाई देखौ विमल जुन्हाई है ।
अवनि अकास गिरि कानन में जल-थल,
व्यापक भई सु जिय लगत सुहाई है ॥
मुक्ता कपूर धूर पारद रजत आदि,
उपमा यह उज्ज्वल की मोहि नहीं भाई है ।

वृन्दाबन चंद चारु सगुन विलोकिबे कौं,
निर्गुन की ज्योति मानौ कुंजनि में आई है ॥
(भावना पच्चीसी)

नवल निकुंज बाग सरस तड़ाग तट,
कनक हिंडोरा मणि जटित प्रकाशमान ।
ता पर विराजत नबेली अलबेली बाल,
लाल कर डोरी लै झुलावत ह्वै सावधान ॥
ठौर-ठौर झूला चहुँ ओर सखी साज लिये,
गावत हैं लूहर औ हिंडोरे की रसीली तान ।
नेह लड़कान, रूप मेह बरसान,
पिय हिय तरसान, वारैं चंद हितु कोटि प्रान ॥
(भावना पच्चीसी)

कोटि सुख दुखन के नाना भाँति दायक हौ,
जो-जो तुम दीजै सोई हमकौं कबूल है ।
तुम देऔ और हम चाहैं कछु और,
यामें होत रसाभास मेरैं, बड़ी यह भूल है ॥
जो पै चित आई जाकौं दुख अब दीजिये जू,
सोतौ दुख हमें कोटि सुख समतूल है ।
यही बात सार निरधार प्यारे, रावरी जो–
इच्छा नहीं जानी तब जानिवे में धूल है ॥

हित हरिवंश बिनु हित की न रीति जानै,
कैसे वृषभानु नंदिनी सौं प्रीति करिये ।
कौनसौ है धर्म जासौं धर्मनि कौ भर्म जाय,
सुत व्रज-राज पाय कैसे ध्यान धरिये ॥
रसिक नरेसन की राह औ कुराह कौन,
कौन की उपासना सौं आस-सिंधु तरिये ।

जोपै नंद नंदन कौं चाहै जग बन्धन कौं,
तौ पै व्यास नंदन के पद अनुसरिये ॥

श्री हित रूपलाल काल के अन्य प्रमुख वाणीकार

श्री प्रेमदासजी:—यह श्री हित रूपलाल गोस्वामी के शिष्य थे और उच्च कोटि के रसिक संत थे। इनकी हित चतुरासी की टीका मूल का अनुसरण करने वाली सर्व श्रेष्ठ टीका मानी जाती है। यह टीका सं. १७९१ में पूर्ण हुई है। इस टीका में प्रत्येक पद का अर्थ करने के पूर्व प्रेमदासजो ने उस पद की 'कुंज' का विशद वर्णन किया है, जिससे पद में वर्णित लीला की पृष्ठभूमि को समझने में बहुत सरलता होती है। यह वर्णन व्रजभाषा गद्य में है और इसमें इनकी कवित्व शक्ति का अच्छा परिचय मिल जाता है।

चाचा वृन्दाबन दास जी कृत 'हरिकलाबेली' में लिखा है कि सं. १८१३ में वृन्दावन में यवनों का जो उपद्रव हुआ था उसमें घनानन्दजी आदि के साथ प्रेमदासजी भी मारे गये थे। इनका कोई ग्रन्थ तो लेखक ने नहीं देखा है किन्तु उत्सवों के पद अनेक मिलते हैं।

'फूल-रचना' के दो छंद नीचे दिये जाते है,—

फूलन सौं फूली कुंज फूलनि की सेज मंजु,
फूले तहाँ सुख पुंज श्यामा-श्याम रंग में।
फूल नैन रूप मूल हाँसि मांहि झरैं फूल,
भूषन दुकूल सोहैं फूलनि के अंग में।
फूली फिरै बैनी चारु फूलनि के डुलैं हारु,
फूल भरी धरी बाल लाल लै उछंग में।

प्रेमदासि हितवारी फूले हाव-भाव भारी,
केलि-बेलि फूली न्यारी छवि के तरंग में ।।

फूलनि कौ मुकट विराजै सीस साँवरे के,
प्यारी सजैं फूलनि की चंद्रिका नवीन हैं ।
फूलनि के भूषन वसन सौहैं फूलनि के,
फूलनि की फूली-फूली डारें कंर लीन हैं ।।
फूलनि सौं निर्त करैं फूले-फूले मन हरैं,
प्रेमदास हित फूली संग रंग भीन हैं ।
फूलनि की कुंज मंजु गुंज अलि पुंज-पुंज,
फूली-फूली गावै अलि बीन में प्रवीन हैं ।।

श्री लाड़िलीदास जीः—यह श्री घनश्याम लाल गोस्वामी के शिष्य थे और अठारहवीं शती के पूर्वार्ध में विद्यमान थे । इनकी मुख्य रचना 'सुधर्म बोधिनी' है जो सं. १८४२ में पूर्ण हुई है । इस ग्रन्थ में लाड़िलीदासजी ने, मुख्यतः सेवक वाणी के आधार पर, संप्रदाय के सिद्धान्त को सुश्रृंखलित करने का स्तुत्य प्रयास किया है । 'सुधर्म बोधिनी' के अनेक उद्धरण पीछे दिये जा चुके हैं । इस ग्रन्थ के अतिरिक्त लाड़िलीदास जी की अन्य रचनायें प्रश्नोत्तरी,पदावली, कामबन विलास और स्वप्न विलास हैं । पदावली का एक पद नीचे दिया जाता हैः—

हमारै नेह की उरझान ।
निपट अटपटी कोउ न समझै बिनु निज अलि रसखान ।।
हित सौं चन्द चकोर परस्पर हारे तन मन प्रान ।
तत्सुख रीति प्रीति की बिलसनि सहज परी यह बान ।।

नेह डोर सौं बँधे परस्पर अद्भुत भाँति बिकान ।
द्वै तन, एक स्वभाव, एक मन ह्वै विलसनि सुखदान ।।
रोम-रोम रमि रहे परस्पर गुथे प्रान सौं प्रान ।
चिदानन्द रस सार उभय तन प्रेम रसासव पान ।।
हम रस सिन्धु तरंग मनोरथ को करि सकै बखान ।
उदै होत छिन-छिन नव-नव रति मिलि विलसन रुचि मान ।।
मान-विरह रस केलि दुखद लखि झिझके चतुर सुजान ।
तहाँ सहायक मर्मी धीरा हित बिनु कोऊ न आन ।।
ज्यौं सरबत में मिर्च इलायची नीबू है रस दान ।
त्यौं रस मधु अदाय भ्रू-भंगी नेति-नेति सुख खान ।।
अंग-अंग मिलि स्वाद मदन रस तन असंग रस आन ।
तदाकार ह्वै महा भाव रस बिसरे केलि-कलान ।।
भाव रूप में अचल भये चित नित अखंड सुख मान ।
सखी सबै मन-वृत्ति हमारी लीन भईं तहाँ आन ।।
तहाँ जु सावधान हरिवंशी खेल खिलारी जान ।
फेरि जगाय किये ज्यौं के त्यौं निज दासी * बलि जान ।।

श्री ब्रज जीवन जी:–यह श्री हरिलाल गोस्वामी के शिष्य थे । इनकी विपुल वाणी प्राप्त होती है । इनके उत्सवों के भी अनेक पद मिलते हैं। इनकी मुख्य रचना 'हृदयाभरण' नामक ग्रंथ है, जिसमें १०४२ दोहे हैं। यह सं० १८६१ की आश्विन शुक्ला द्वितीया को पूर्ण हुआ है। इसमें विभिन्न अलंकारों के उदाहरण के रूप में दोहे दिये गये हैं। अलंकारों में उत्प्रेक्षा, रूपक, विषत, तद्गुण, प्रतीप, उपमा, विभावना, स्वभावोक्ति, भाविक आदि के उदाहरण दिये गये हैं ।

* पदों में लाड़िलीदास जी ने अपना नाम 'निजदासी' लिखा है ।

विशेष अलंकार का उदाहरण,

राधा मंगल नाम है, राधा मंगल रूप ।
राधा मूल सजीवनी, राधा केलि अनूप ।।
राधा कृपा कटाक्ष की लागी हिय बौछार ।
राधा गुन सुमिरन कथन छिन-छिन नित्य-विहार ।।
जाग्रत सुपने सैन में हिय राधा कौ ध्यान ।
अंतर-बाहर दिस-विदिस वही रूप मँडरान ।।

स्वभावोक्ति के उदाहरण,

लाल प्रेम उलही फिरै नव दुलही दिन रात ।
रँगरलियाँ अलियान सौं बूझत रस की घात ।।
गाय चरावत भानु की दिन भर नंद कुमार ।
जिनकौ पय पीबैं लली करै तिर्बाहि बहु प्यार ।।
बरबसु री बँसुरी करत परबसु री मन घेर ।
रस गँसुरी अँसुरी झरत सुनि बंसुरी की टेर ।।

समाधि अलंकार,

राधा पग मंजीर-धुनि परै कहूँ जो कान ।
कृत्य-कृत्य ह्वै जात पिय जीवन रसिक सुजान ।।

इसके अतिरिक्त, इस ग्रन्थ में षट् ऋतु विलास, व्रज की होली, निकुंज की होली, व्रज का बिहावला, निकुंज का बिहावला, दिवालीउत्सव, नन्दोत्सव, श्री हितजी के जन्मोत्सव आदि का सुन्दर वर्णन दोहों में ही किया गया है । ग्रंथ के अन्त में प्रेमतत्व का वर्णन, कृष्णगढ़ वाले नागरीदास जी के इश्क-चमन के ढंग पर, दोहों में किया है ।

इश्क शहर बाजार में लगी हुस्न की पैंठ ।
तोलत आशिक नैन में महबूबा दी ऐंठ ।।

इश्क कहर दरियाव है बिरला निबहत जाय ।
चढ़े चश्म किश्ती तऊ फिरि-फिरि गोता खाय ।।
इश्क शहर के बीच तू बेसिर होके आव ।
इश्क सजीवन है जड़ी धरि मन में यह भाव ।।

व्रज जीवन जी पंजाबी थे और उनकी वाणी में पंजाबी शब्दों का प्रयोग यत्र-तत्र मिल जाता है ।

सोना निगड़ नंद दा मायल करदा चित्त ।
नव कुड़िए नूँ प्यार सौं सजनी जीवौं नित्त ।।

व्रज जीवन जी के कुछ उत्सवों के पद भी मिलते हैं । एक झूला का पद दिया जाता है ।

रेखता

आई है सावन तीज सलौनी कल झुलाना होवेगा ।
झूलेंगी दूलह संग दुलहिनि कल झुलाना होवेगा ।।
सेहरे को लखि मेहरे तू सुनि नेहरा बरसाना होवेगा ।
हँसती कामिनि को देख दामिनि चहरा छिपाना होवेगा ।।
कलियों से यों अलियाँ कहैं कल दिल फुलाना होवेगा ।
औ' भौंरों के हलके सुनलो, तुम्हें खूब गाना होवेगा ।।
सुनि री कोकिल बनरे के रंग तुझको कुहकाना होवेगा ।
मैंनें, मयूर मुनियों को भी बाजे बजाना होवेगा ।।
झिल्ली, झींगुर तुम भी सुनो घुँघरू बजाना होवेगा ।
साँवरी नदी के हंसों को संगीत नचाना होवेगा ।।
डरपैंगी बनरी पैंगनि में जद गरे लगाना होवेगा ।
सदके जावैंगी सहचरी हर दिस फुलाना होवेगा ।।
बाँटैंगी वे बधाइयाँ क्या-क्या न पाना होवेगा ।
व्रज जीवना हित साधौं के क़दमों ठिकाना होवेगा ।।

श्री आनन्दी बाई:—यह श्री हित रूपलाल गोस्वामी के पुत्र श्री रसिकानन्द लाल गोस्वामी की शिष्या थीं। साहित्यिक दृष्टि से इनकी वाणी का अधिक महत्व नहीं है किन्तु उसमें प्रत्यक्ष अनुभव का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। आनन्दी बाई जी से पूर्व हित प्रभु की शिष्या गंगाबाई और यमुनाबाई ने भी बाणी-रचना की थी किन्तु वे अब प्राप्त नहीं हैं। इस दृष्टि से आनंदी बाई जी की वाणी का महत्व बढ़ जाता है। इनका 'निजु भाव विचार श्री हित शेष प्रकाश' नामक एक समय-प्रबंध और कुछ फुटकर रचनायें प्राप्त हैं। इनकी संपूर्ण रचना दोहे, चौपाईयों और छप्पयों में है। 'निजुभाव विचार' सं० १८४० में पूर्ण हुआ है।

अठारह सै चालीसिया संवत माधौ मास।
यह प्रबंध पूरन भयौ कृष्ण पंचमी सनोवास ॥

इनके कुछ चुने हुए दोहे दिये जाते हैं:—

रूप प्रेम रस गहर में बूड़े ललना लाल।
मदन मुदित मुख खिलि रहे पानिप बढ़ी रसाल ॥
सुहृद अली करि आरती डगमग जगमग होति।
श्री मुख लखौं कि आरती कै जुग मुख छवि जोति ॥
महकि सुगंध सने विवि अंगा, छवि पर वारौं कोटि अनंगा।
स्याम तमाल प्रिय कंचन बेली, बिच लपटी हित नेह नवेली ॥

श्री हितरूपलाल काल के अन्य उल्लेखनीय वाणीकार

श्री किशोरीलाल गोस्वामी, श्री रसिकानंद लाल गोस्वामी, वृन्दावन दास जी (चाचा जी से भिन्न) रतनदास जी, प्रियादास जी, श्री जोरीलाल गोस्वामी, मीठाजी, भजनदास जी,

श्री चतुर शिरोमणिलाल गोस्वामी, श्री सर्वसुखदास जी, श्री रंगीलाल गोस्वामी आदि ।

अर्वाचीन काल (१८७५-)

इस काल में भी रसिक-संत बराबर वाणी-रचना करते रहे हैं किन्तु पिछले 'कालों' की भाँति कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व संपन्न वाणीकार इस काल में नहीं हुआ है । स्वतन्त्र व्यक्तित्व की थोड़ी सी झलक बाबू भोलानाथ जी हितभोरी में दिखलाई देती है । उन्होंने उच्च अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी और साथ ही वे जन्म-जात भक्त और कवि थे । व्यक्तीकरण की आधुनिक शैलियों का प्रभाव उनके पदों में स्पष्ट लक्षित होता है । राधावल्लभीय साहित्य में, 'प्रेम की पीर' का गान करने वाले तो वे कदाचित् अकेले कवि हैं । उनके संबंध में उनके एक प्रशंसक ने कहा है—

जाके प्राननि संग प्रेम की पीड़ा आई ।
प्राननि ही में रमी कछुक नैननि में छाई ॥
पीड़ा ही में प्राननाथ के दरसन पाये ।
जुग-जुग के प्यासे नैना छवि देखि सिहाये ॥
सही सराहि-सराहि कै कठिन प्रेम की पीर ।
बिक जान्यौ बिनु मोलही हित भोरी मति धीर ॥

श्री भोलानाथ जी का जन्म वर्तमान मध्य प्रदेश के भेलसा नगर में सं. १९४७ के आषाढ़ कृष्णा ६ को हुआ था । भगवत् मुदित जी के रसिक अनन्य माल में गोस्वामी दामोदर वर जी (सं. १६३४-१७१४) के शिष्य जिन रसिक दास जी का चरित्र दिया हुआ है, वे भी भेलसा के ही रहने वाले थे

और आज भी वहाँ इस संप्रदाय के अनेक अनुयायी विद्यमान हैं ।

भोलानाथ जी के पिता का नाम छेदालाल जी था । वे सक्सेना कायस्थ थे । इनके एक भाई बैजनाथ जी सब जज हो गये, और दूसरे शंभुनाथ जी वकील थे । भोलानाथ जी को बाल्य काल से ही भगवत्-प्राप्ति की धुन थी और किशोरावस्था में ही वे योग्य गुरु की खोज में घर से निकल पड़े थे । उस समय उनके बड़े भाई बैजनाथ जी कोलारस, जिला शिवपुरी में नाज़िर थे । दस बारह दिन की खोज के बाद भोलानाथ जी नरसिंह पुर ज़िले के जंगलों में भटकते हुये मिले और अपने भाई के पास कोलारस लाये गये । बैजनाथ जी ने उनको कोलारस के गोपाल जी के मन्दिर के अन्यतम सेवाधिकारी पं० गोपीलाल जी से राधावल्लभीय संप्रदाय की दीक्षा दिलवादी । अपने गुरु की आज्ञा से उन्होंने गृहस्थ-जीवन व्यतीत करना स्वीकार कर लिया और विवाह करने को सहमत हो गये ।

भोलानाथ जी ने, प्रारम्भ में, मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त की और फिर बजरंग गढ़ में अध्यापक हो गये । अध्यापन-कार्य करते हुए उन्होंने इण्टर और बी. ए. पास किया । इसी काल में उन्होंने अखिल-भारतीय-रामायण प्रतियोगिता में भाग लेकर 'मर्यादा पुरुषोत्तम राम' पर लेख लिखा और उस पर प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया ।

उनकी प्रतिभा से आकृष्ट होकर छतरपुर–नरेश राजा विश्वनाथ सिंह जी ने उनको अपने पास बुला लिया और वहाँ वे कई वर्ष तक राजा साहब के धार्मिक परामर्शदाता के रूप

में काम करते रहे। अधिकांश समय में एकान्त भजन और पद रचना और निर्दिष्ट समय पर राजा साहब के पास जाकर धार्मिक चर्चा करना, यही उनका वहाँ कार्य था। राजा विश्वनाथ सिंह प्राचीन ग्रन्थों के प्रसिद्ध संग्राहक थे, और उन्होंने राधावल्लभीय वाणी ग्रन्थों का भी अच्छा संग्रह अपने पास कर लिया था। भोलानाथ जी को छतरपुर में रहते हुए अध्ययन का बड़ा सुयोग मिला और उन्होंने उस काल में वाणियों के साथ विभिन्न भारतीय दर्शनों का भी विस्तृत अनुशीलन कर लिया। वहाँ रहते हुए ही उन्होंने वकालत की और कुछ दिन बाद राज्य की नौकरी छोड़ कर भेलसा चले गये।

भेलसा में कुछ दिन वकालत करने के बाद वे कोलारस गये और वहाँ अपने भाई के पास रहकर वकालत करनी चाही किन्तु उनका मन वहाँ नहीं लगा और राजा साहब के निमन्त्रण पर पुनः छतरपुर चले गये। इस बीच में उनके पुत्र और पत्नी का देहान्त हो गया और थोड़े दिन बाद उनके पिताजी भी चले बसे। अब उनको कोई गार्हस्थिक बन्धन शेष नहीं रह गया और वे वृन्दाबन जाकर वहाँ स्थाई रूप से निवास करने लगे।

वृन्दाबन में कुछ दिनों तक तो इनके भाई शंभूनाथ जी इनको खर्च भेजते रहे किन्तु अल्प काल में उनके भाई का भी देहान्त हो गया और उनको प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता बन्द हो गयी। इस स्थिति में पड़कर कुछ दिनों तक

भोलानाथ जी ने सेवा कुंज में बन्दरों के द्वारा छोड़ी हुई चने की ठुड्डियाँ चबाकर जीवन-यापन किया और शांति पूर्वक भजन करते रहे। बाद में श्री राधावल्लभ जी के मन्दिर में उनके रहने और भोजन का प्रबन्ध हो गया और वहीं उन्होंने ४२ वर्ष की अल्पायु में अपनी जन्म तिथि आषाढ़ शु० ६, सं० १९८९ को निकुंज-गमन किया।

हम कह चुके हैं कि भोलानाथ जी वृन्दावन आने से पूर्व भी पद रचना करते थे और उनके उस काल के लगभग ६०० पद लेखक को कौलारस से प्राप्त हुए हैं। इनमें से अधिकांश पद 'विनय' के हैं और इनमें एक सच्चे भक्त हृदय की महान आकुलता भरी हुई है। वृन्दावन निवास-काल के पद अधिक प्रौढ़ और शांत है किन्तु प्रेम की नैसर्गिक पीड़ा उनमें भी व्यक्त हुई है। राधावल्लभीय संप्रदाय में नित्य संयोग की उपासना है किन्तु उसके साथ पूर्ण अतृप्ति भी विद्यमान रहती है। भोलानाथ जी के पदों में यह अतृप्ति उभर आई है और इसी ने उनके पदों में पीड़ा की गहरी छाया फैलादी है।

पद-रचना के अतिरिक्त भोलानाथ जी ने वृन्दावन में दो बड़े ग्रन्थों की भी रचना की जिनमें से एक 'सुधर्म बोधिनी' की बिपुल टीका है और दूसरा ब्रह्म सूत्र पर हिन्दी में भाष्य है। उनके थोड़े से पद यहाँ दिये जाते हैं।

ऐसी कृपा किन करहु किशोरी।
उर में गड़ै मनोहर मूरति मंद हास मुख थोरी ॥

हियरा नैन बान सौं बेधहु हँसि-हँसि भौंह मरोरी ।
घायल कर भटकावहु प्यारी, झूमत निधुबन खोरी ।।
जियरा टूक-टूक ह्वै जावै, इतनौ माँगत भोरी ।
इतनौ है पुरुषारथ मेरौ ।
जप तप योग याग नहिं जानौं साधन नियम बखेरौ ।।
इतनी बात बन परै मोसों कबहुँ अबेर-सबैरौ ।
भोरी ढ़ार-ढ़ार दृग आँसू नाम पुकारूँ तेरौ ।।

इतनौ तौ कबहूँ हँसि दैहौ ।
सुनहु कृपालु किशोरी राधे, अबसि कृपा की कोर चितै हौ ।।
तुम मोसों मिलौ, मिलौ न कृपा करि, मोकौं ढूंढत तौ भटकै हौ ।
तुम मेरी सुनौ, सुनौ न किसोरी, मोसों तौ नित नाम रटै हौ ।।
तुम मेरी बाँह गहौ, न गहौ री, भुज पसारि मोसों विनय करै हौ ।
तुम मेरे दृग पौंछौ, मत पौंछौ, मोसों नित दृग नीर ढ़रै हौ ।।
हौं नित नीच कहा सुख माँगौ, इतनी मेरी आस पुजै हौ ।

यौं सुधि लीजौ नवल किशोरी ।
वृन्दावन की ललित लतनि में गिनती कीजौ मोरी ।।
गोरी घटा साँवरी हिल मिल उमड़त प्रेम हिलोरी ।
कबहुँ-कबहुँ बलि सींचत रहियौ लाड़भरी दृग कोरी ।।
कबहूँ दिये ललित गलबहियाँ छाँह विरमियौ थोरी ।
कबहूँ झूला डारि झूलियौ रसिक रँगीली जोरी ।।
फूलि-फूलि कै चटकत कलियन खोलौं आँख करोरी ।
निशि वासर देखत न अघाऊँ इतनौ जाँचल भोरी ।।

मुख चन्द्र की यह चाँदनी नित कुंज में छाई रहै ।
छवि पान मत्त चकोर अँखियाँ देखि बौराई रहै ।।
यह कोर करुणासिन्धु की लहरी हिलोरत ही रहै ।
यह प्रेम की उमगनि उमँग जुत जीय बोरत ही रहै ।।

यह बंक चितवनि नैन की हियरा में नित धँसती रहै ।
यह चारु छूटी लटनि ऊपर मो सुरत फँसती रहै ।।
यह बाँह फरकीली सदा भुज दीन पकरत ही रहै ।
यह माधुरी के जाल तन-मति मेरी जकरत ही रहै ।।
नख-चंद की यह जोति हिय तम-तोम टारत ही रहै ।।
यह बान करुणा की सदा बिगड़ी सुधारत ही रहै ।।
यह आँख मेरी लाड़िले, मग रावरौ हेरत रहै ।
यह मेरी रसना चातकी रसघन तुम्है टेरत रहै ।।
जहँ-जहँ परै मम दीठ जागत रावरी छवि लखि परै ।
सोवते सपने न हिय सौं आपकी मूरति टरै ।।
भोरी हित जन दीन की बिनती अबसि यह मानिये ।
कोटि जन्मनि की भिखारिन, आपुनी पहिचानिये ।।
जो नैननि नैना अरुझाते ।
तौ लै स्वाति-बूँद सीपी लौं पलक मूँद रह जते ।।
डूबत अधिक-अधिक गहरे अति थाह न कबहूँ पाते ।
बाहिर कौ कछु दीख न परतौ अंधे लौं हहराते ।।
जियन-मरन कछु बूझि न परतौ सबही द्वन्द नसाते ।
हित भोरी कहा कहिये कैसैं केतौ काल बिताते ।।
जो नैननि नैना अरुझाते ।
तौ मेरी गति औरहि होती जो हित में हित आते ।।
भूख-प्यास नहिं सीत न गरमी दुख-सुख सकल सिराते ।
बाहिर पंथ दीख नहिं परतौ कर टटोर मग पाते ।।
श्रवण शब्द सुनते नहि, मुख सौं वचन कहत लड़खाते ।
सब तन शिथिल पुलक झरतौ जल ज्ञान सकल बहि जाते ।।
छिन-छिन अधिक-अधिक उमँगत हिय हुलसि-हुलसि बौराते ।
हँसि-हँसि अधिक-अधिक ही हँसते बार-बार बलि जाते ।।
जियत मरे बौरे मतवारे भोरी जगत हँसाते ।

कहा कहौं गति परम अटपटी का खोयौ का पायौ ।
पावन हारौ कहौ कौन जब आप तें आप हिरायौ ।।
छवि आई है दरद ह्वै हियरा दरद होय दुलरायौ ।
दरदहिं दरद मिलत दिन दूनौं दरद हिये अधिकायौ ।।
जल-थल-गगन विश्व सब भूल्यौ तन-मन-प्राण गवाँयौ ।
ज्यौं भीतर त्यौं बाहिर इक रस एक दरद ही छायौ ।।
किन अनुभव्यौ, कौन सो जान्यौ वचन कहत बहकायौ ।
हित भोरी हित कृपा कोर के मादक ही बौरायौ ।।

सुधि आवत मान मनैबे की ।
चंचल दृग थिर किये लड़ैती अवनी ओर चितैबे की ।
कर दै विमल कपोलनि प्यारी भृकुटी कुटिल चलैबे की ।।
कंज वदन मूंदै करुणानिधि सुन्दर ग्रीव झुकैबे की ।।
परि-परि पाँय मनावन हूँ की कर सौं ठेल हटैबे की ।
भोरी हौंसनि मरत किशोरी कहि रस बैन हँसैबे की ।।
हित कौ रूप न चित्त समावै ।
पानी प्यास गरल औ अमृत मादक कहत न आवै ।।
मारत सोई ज्यावत हाहा बरसत हू तरसावै ।
अति मीठौ अति नीखौ भोरी पीवत प्यास बढ़ावै ।।

रूपहि दृष्ट समाय रही री रूप हिराने नैना ।
बानी रूप हिरानी मुख सौं क्यों कहि आवै बैना ।।
रूपहि श्रवन विमोहे एसे शब्द न देत सुनाई ।
नासा गंध न सूँघ सकै री रूप जु घ्राण समाई ।।
तन कौ परस रूप हरि लीन्हौ शीत-उष्ण नहि कोई ।
कहा खात कछु जीह न जानत स्वाद रूप में खोई।।
अचल भयौ मन रूप समानौ सकल कल्पना त्यागी ।
फुरत विचार विवेक न कोई बुद्धि रूप में पागी ।।

चित चिन्तन हरि लियौ रूप नै कछू न आवै ध्यानै।
अहं भाव हू रूप समान्यौ को मैं, कहा न जानै ॥
अखिल विश्व लय भयौ रूप में जाग्रति रूप हरी है।
इक रस स्वप्न सुषुप्ति तुरीया रूपहि में धगरी है ॥
रूप को रूप फूल ही दीसत देखत तन-मन फूलै।
फूल कौ रूप भूल है कैधौं फूल अपनपौ भूलै।
भूलहि भूल अधिक अधिकावै रूप कौ स्वाद न पावै।
जल के दरस मरै जो प्यासौ कैसे तृषा बुझावै ॥
भूल के सिन्धु अथाह रूप-रस प्यास बढ़ै उर भारी।
समरथ श्री हित सजनी ताकी एक पिबावन हारी ॥
प्यास अनंत करौ हियरा में रूप अनंत पिवावौ।
भूल अनंत, माधुरी मादक, चाह अनंत जगावौं ॥
उछरि-उछरि कैं डूबत फिरि-फिरि डूब-डूब कै उछरै।
पीवत तृषित रहै हितभोरी जो हित कृपा करै ॥

दोहा

जिय तोहि एसी चाहिये सबही की सहि लेहि।
घट-घट में प्रभु रमि रह्यौ उत्तर काकौं देहि ॥
तन छूटिबे लौं हद्द है सहि लै मन धरि धीर।
क्यों इतनी ममता करै कोटिन छाँड़ि सरीर ॥
क्यों काहू कौं बावरे अपनौ दुःख सुनाय।
वह हिय में दुख पावई तेरी पीर न जाय ॥
रे मूरख क्यों चतुर बनि अरुझत बारंबार।
भलौ-भलौ कहि छाँड़िदे, बहु बातन व्यौहार ॥
हठ करि पक्ष न रोपिये, नहि करिये उपदेस।
सब सौं नमि नीचे रहौ छाँड़ि बड़प्पन लेस ॥

सब ज्ञानी, सबही चतुर, डर प्रेरक हित-चंद ।
कहैं-करैं सो सब भली, तू न बोल मति मंद ।।
कठिन पीर है प्रेम की बिरले जानें ताहि ।
जे जानै ते कहैं नहीं सहैं सराहि–सराहि ।।
जब सौं वह छवि हिय गड़ी हिय गति कही न जाय ।
नित सिरात, नित ही तपत, दूरि–दूरि जुरि जात ।।
हिय मेरौ प्यारी भयो नैना मोहन लाल ।
नैना अरुझे हीय सौं हित भोरी बेहाल ।।

ब्रजभाषा-गद्य-साहित्य

श्री हित हरिवंश गोस्वामी की ब्रजभाषा गद्य में लिखी हुई दो पत्रियाँ प्राप्त हैं जिनको हम पृष्ठ ३८१-८२ पर उद्धृत कर चुके हैं। राधावल्लभीय साहित्य में गद्य का सर्व प्रथम उपयोग श्री ध्रुवदास ने अपनी 'सिद्धान्त विचार लीला' में किया है। इस लीला में रचना-काल नहीं दिया है। किन्तु इसका निर्माण सत्रहवीं शती के उत्तरार्ध में हुआ है, यह निर्विवाद है। संप्रदाय के रहस्यमय प्रेम-सिद्धान्त के कथन के लिये, उस युग में, गद्य को सफलता पूर्व वाहन बनाना ध्रुवदास जी का ही काम था।

सिद्धान्त विचार लीला में प्रश्नों के उत्तर के रूप में प्रतिपाद्य विषय का विकास हुआ है। ध्रुवदास जी प्रश्न करते चलते हैं जैसे 'प्रेम नैम के लक्षण कहा?' 'कहा प्रेम, कहानेम!' 'एक ने कही प्रेम अरु काम में कहा भेद है, सो समझाइ देहु,' इत्यादि। प्रश्नों के उत्तर उन्होंने अपनी उसी मनोवैज्ञानिक शैली में दिये हैं जिसका उपयोग उन्होंने अपने पद्यमय प्रेम-वर्णनों में किया है। ध्रुवदास जी का गद्य उनके पद्य जैसा मनोहारी तो नहीं है किन्तु वह नितान्त गद्यात्मक भी नहीं है। उसमें सरसता और सजीवता विद्य-मान है। यह विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है कि ब्रज भाषा गद्य का ऐसा प्रौढ़ और शुद्ध रूप सत्रहवीं शती में अन्यत्र दिखलाई नहीं देता। दो उदाहरण देखिये;

'जहाँ नायक-नायिका बरनन कियो है, नायक अपनौ सुख चाहै नाइका अपनौ रस चाहै, सो यह प्रेम न होइ, साधारण

सुख भोग है। जब ताईं अपनौ–अपनौ सुख चाहिये तब ताईं प्रेम कहाँ पाईये। दोइ सुख, दोइ मन, दोइ रुचि, जब ताईं प्रेम कहाँ पाईये है। दोइ सुख, दोइ मन, दोइ रुचि जब ताईं एक न होंइ तब ताई प्रेम कहाँ ?

'सर्वोपरि साधन यह है जो रसिक भक्त हैं तिनकी चरन रज बंदै। तिन सौं मिलि किशोरी-किशोर जू के रस की बातैं कहै, सुनै निशि दिन अरु पल-पल उनकी रूप माधुरी विचारत रहै। यह अभ्यास छाँड़ै नहीं, आलस न करै। तौ रसिक भक्तनि कौ संग ऐसौ है आवश्यक प्रेम कौ अंकुर उपजै। जो कुसंग पशु तैं बचै, जब ताईं अंकुर रहै। तब ता भजनई जल सौं सींच्यौ करै बारंबार। अरु सतसंग को बार दृढ़ कै करै तौ प्रेम को बेलि हिय में बढ़ै। फूलै जड़ नीके गहै तौ चिन्ता कछु नाहीं यह ही यतन है।'

२. सत्रहवीं शती के उत्तरार्ध की एक अन्य गद्य-रचना दामोदर स्वामी जी का 'भक्ति-भेद-सिद्धान्त' है। इस छोटे से ग्रन्थ में भक्ति के भेदों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इसका गद्य भी साफ-सुथरा है। एक उदाहरण दिया जाता है:–

'जब प्रेम सहित नवधा करै तब लीला, गुन, रूप श्रवन मात्र ही, गान तैं, सुमिरन तैं, चितवन तैं अश्रु, पुलक, रोमांच गदगद, कंप स्वेद, जाड्य, मूर्छा तब प्रेम कहावै। हृदय में अलौकिक परमानंद सुख उपजै, ताके आगे सर्व सुख तुच्छ लगैं। धन, राज्य, जस, पुत्र-कलत्र सुख ये तौ नस्वर ही हैं, मुक्ति

सुख अविनासी हैं तेऊ तुच्छ लगैं, परमानंद के आगैं। तातैं सर्वोपर यही सुख है।'

३. अठारहवीं शती के आरंभ का एक ग्रन्थ 'हस्तामलक' प्राप्त है। इसके रचयिता श्री प्राणनाथ हैं। यह गोस्वामी दामोदर चन्द्र जो (१६३४–१७१४) के शिष्य थे। श्री दामोदर चन्द्र जी हित प्रभु के प्रपौत्र थे और उनके द्वितीय अवतार माने जाते हैं। इस ग्रन्थ में उक्त गोस्वामी जी के उपदेशों का संग्रह है अतः इस सम्प्रदाय में इसका बहुत मान है। इस में उपासना और रस से संबंधित विवादास्पद प्रश्नों पर चर्चा की गई है। हित चतुरासी के कठिन स्थलों को भी इस में खोला गया है। उदाहरण के लिये, हित चतुरासी के पद ५८ को 'भैंटि कै मेटि री माई प्रगट जगत भौ' पंक्ति में आये हुए 'प्रगट जगत भौ' का अर्थ इस ग्रन्थ में इस प्रकार लिखा है, 'जगत कहा ? जगत में मृत्यु कौ भय है सो दशमी अवस्था नायक जू की भैंटि कै मेटिये'। इसी प्रकार पद ४४ की 'नख युग ऊन बने तेरे तन' पंक्ति में आये हुए 'नख युग ऊन' का अर्थ लिखा है, 'नखबीस; युगचार घटे तौ १६ रहे ते शृंगार हैं।'

सखीभाव और रासलीला से सम्बंधित एक विवेचन देखिये।

'गोपिनु कौ प्रेम परबत समान है, औरनि कौ प्रेम कूप वापी, तड़ाग, सरिता तुल्य है। अरु इनके रूप कौ उनमान जनाऊँ। सर्वोपरि स्त्रीन में महालक्ष्मी कौ रूप है। ताके

नख छटा की पार्वती, ताके नख छटा की ब्रह्माणी , ताके नख छटा की इंद्राणी, ताके नख छटा कौ सिंघल द्वीप, ताकौ यह जंबू द्वीप। सो लक्ष्मी व्रजदेवीन की नख दुति कौं न पूजि सकै। ते व्रजदेवी श्री जुगल किशोर के स्वरूप कौं निजु विहार है ताके दरसबे की अधिकारी नहीं, जाते उनको सपत्नी भाव अचल भयो है। ललितादिक बिनु नित्य विहार के देखिबे कौ कोई अधिकारी नहीं। इनकौ प्रेम सिन्धु समान है, जामें अनंत गिरि समाहिं।

'सो यह सपत्नी भाव क्यों प्रगट भयो? जब वेद ने प्रभु की स्तुति करी तब किशोर रूप प्रभु कौ दरसन भयौ। तब कमनीय मूर्ति देखि कामिनी भाव उपजि आयो। जो श्री ठकुरानी जी संयुक्त दरसन होतौ तौ दासीभाव उपजतौ। तातैं श्री ठाकुरानी जी कौ केलि कौ दरसन नाहीं पावतु।'

'कोऊ कहै कि दरसन की अधिकारी नाहीं तौ कलपतरु तीर जु रासरस रच्यौ तहाँ गोपी बुलाईं। सो रास तौ श्री प्रियाजू विना होय नाहीं, परम सुख की दरस नहीं भई। ताकौ समाधान है। द्वै-द्वै गोपिनु में एक-एक रूप धरि खेलैं, तहाँ द्वै स्वरूप में एक गोपी भई। तौजु एक नाइका द्वै नाइक के स्वरूप कौं देखै तौ रसाभास होइ। तातैं वे अपने-अपने रस में ऐसी निमग्न भईं जु एक स्वरूप सौं एक सुख मानत भईं। ये न समझीं इतने स्वरूप प्रगट हैं। जो जानै सो आपही सौं संयुक्त जानै। मधि युगल किशोर अरु सहचरी तिन्हें कहां तैं देखैं ? अरु वे अपने सुख में इन्हें काहे कौं देखैं ? यौं नित्य विहार कौ लीला प्रकरण मिल्यौ है अरु न्यारौ है'।

४. अठारहवीं शती के पूर्वार्ध की एक अन्य गद्य रचना 'हित चतुरासी' की गोस्वामी रसिक लाल जी कृत टीका है। यह गोस्वामी जी श्री दामोदर चन्द्र जी के पौत्र थे। इन्होंने सं० १७३४ में यह टीका पूर्ण की है। इसकी भाषा 'हस्तामलक' से मिलती-जुलती है।

५. अनन्य अली जी के 'स्वप्न विलास' का उल्लेख पीछे किया जा चुकाहै। यह अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की रचना है। इसमें १५ प्रसंग हैं। प्रथम तीन प्रसंगों में अनन्य अली जी ने अपने संबंध में कुछ बातें लिखी हैं। तीसरे प्रसंग से उनके द्वारा देखे गये भजन-संबंधी स्वप्नों का वर्णन आरंभ हो जाता है। अनन्य अली जी का गद्य भी उनके पद्य की भाँति सीधा-साधा है। यहाँ एक छोटा सा स्वप्न दिया जाता है।

'इक दिन मोकौं जुर आयौ। तातैं मेरौ शरीर बहुत काहिल भयौ। कछु सुधि रही नहीं। तब हौं मानसी में लड़ैंती कौं ब्यारू करावनौ भूलिगयौ। तब मौकौं रात्रि आधो गयें पाछैं नींद आई। तब मोकौं सपने में कोऊ कुटी में, तैं पुकारत हैं, 'अनन्य अली तूं उठि हमकौं ब्यारू कराव' हम बड़ो बेरि के बैठि रहे हैं, बड़ी अबार भई है'। मैं सपने में सुनि कै जागि उठ्यौ, चौंकि परचौ। सावधान भयौ तब मोकौं सुधि आई। तब मैं सुमिरन करि मन लगाइ ब्यारू कराई।'

६. प्रेमदासजी कृत हित चतुरासी की गद्य टीका का उल्लेख भी पीछे हो चुका है। यह टीका सं.१७९१ में पूर्ण

हुई है। इसमें, प्रेमदासजी ने प्रत्येक पद के साथ एक 'आभास' लगाया है जिसमें कुंजों का वर्णन, श्याम-श्यामा के रूपों का वर्णन और पद से संबंधित विभिन्न रस-स्थितियों का वर्णन किया है। स्वभावतः इनका गद्य काव्यमय और प्रौढ़ है और उसमें उत्प्रेक्षाओं और रूपकों की भरमार है।

श्री राधा के रूप का एक वर्णन देखिये;—

'श्री लाड़िलीजू कैसी हैं ? जिनके अंगनि की छवि आगैं औट्यौ कंचन प्रतीत भाग है। महा मनोहर तनसुख की झूमक सारी झमकि रही है। तामें कंचन के फूल झिलमिलाइ रहे हैं। जिनकौ मुख मंद मुसिकानि सहित डहडहाइ रह्यौ है। तापर घूँघर वारी अलकैं छूटि रही हैं और नेत्रनि में सहज ही कटाक्ष की चितवनि है। जो सुवर्ण कौ कमल होइ अरु नवीन मकरंद कौं श्रवत होइ, फिर सौन्दर्यता कौ धाम हू होइ, तामें मत्त खंजन कौ जोरा खेलत होइ अरु मनोहर भ्रमरनि की माला सौं व्याप्त होइ, फिर कोटि-कोटि चन्द्रमनि की सौ प्रकास हू होय, तऊ कुंवरि जू के मुख के दास कौं न दीजिये।'

७.—श्री हित रूपलाल गोस्वामी रचित कई छोटे-बड़े ग्रन्थ व्रज भाषा गद्य में मिलते हैं जिन में से निम्न लिखित लेखक ने देखे हैं।

(१) 'सर्व शास्त्र सिद्धान्त भाषा,' इसका नाम 'गुणभेद भाव-भक्ति-विवेक रत्नावली' भी दिया हुआ है। यह उक्त गोस्वामीजी का सबसे बड़ा गद्य ग्रन्थ है। इस में भक्ति के भेदों की व्याख्या, प्रेम के पात्रों का वर्णन तथा भाव और रस का सुन्दर विवेचन किया गया है।

(२) संप्रदाय निर्णय:—इसमें राधा वल्लभीय संप्रदाय की गुरु परंपरा, धाम, इष्ट, उपासक, दशा, पुरी, द्वार, गोत्र, भूमि, रस, भाव आदिका निर्देश किया गया है। इसमें संप्रदाय की गुरु-परंपरा इस प्रकार दी हुई है—

श्री नित्य बिहारी युगलात्मक के नूपुर-रव तैं शब्द ब्रह्म की उत्पत्ति, शब्द ब्रह्म तैं श्री नारायणजी, तिनके नाभि कमल तैं श्री ब्रह्मा जी, तिन तैं श्री नारद जी, तिन तैं व्यास वेद जी, तिन तैं श्री शुकदेव जी, तिन तैं कश्यप ऋषि, तिन तैं अचलेश्वर ऋषि, अच्युतेश्वर ऋषि, श्रीधर ऋषि, पाणिधर ऋषि, तिन तैं हलधर ऋषि, गंगाधर ऋषि, तिन तै विजयभट्ट, कुलाजित् भट्ट, विद्याधर भट्ट, तिनतैं जालप मिश्र, प्रभाकर मिश्र, उवाकर मिश्र, जीवद मिश्र, हिमकर मिश्र, तिन तैं श्री व्यास मिश्र, तिन तैं बंशी रूप श्री हित हरिवंश गोस्वामि।'

८.-उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में श्री हरिलाल व्यास ने सेवक वाणी की प्रथम टीका व्रज भाषा गद्य में लिखी। व्यास जी संस्कृत के धुरंधर विद्वान और विलक्षण प्रतिभा संपन्न व्यक्ति थे। राधासुधानिधि पर इनकी 'रसकुल्या' टीका विद्वज्जनों द्वारा अत्यन्त समादृत है। यह टीका सं० १८३५ में पूर्ण हुई है। सेवक वाणी की टीका इसके पूर्व लिखी गई है। टीका के अंत में व्यास जी ने बतलाया है—

भयौ मनोरथ सुधानिधि टीका करन उपाइ।
श्री वृन्दावन धाम में वास भयौ सुखदाइ॥
आधी टीका बीच में भयौ मनोरथ एह।
सेवक वाणी अर्थ जुत कछु लिखिये निजु नेह॥

भाव बढ़ायौ रसिक जन निजु अनुमोदन काम ।
टीका लिखी द्वै मास में रसिक मोदिनी नाम ।।

इस प्रकार सेवक वाणी की यह टीका सं० १८३० और १८३५ के बीच में रची गई होगी । इसका गद्य संस्कृत-शब्द-बहुल और प्रौढ़ है तथा इसमें संस्कृत ग्रन्थों के उद्धरण पद-पद पर दिये हुए हैं । एक उदाहरण देखिये,

'जब इच्छा होइ इह रस जीवनि कौं महा दुर्गम है सो दिखाईये । तब कृपा करि अपनौ रस ब्रज लीला द्वारा प्रगट करैं । आप प्रगटैं तब धाम हू, परिकर हू, प्रगटैं । तहाँ अचिन्त्य शक्ति करि अप्रगट-प्रगट दोऊ लीला भई चलीं जाँइ, नित्यता में कछु क्षति नाँहि' ।

इस टीका के लगभग बीस वर्ष बाद गोस्वामी गोवर्धन नाथ जी के शिष्य महात्मा रतन दास जी ने ब्रज भाषा गद्य में सेवक वाणी की दूसरी टीका लिखी । इस टीका में मूल का शब्दार्थ स्पष्ट करने की उतनी चिन्ता नहीं रखी गई है जितनी सेवक जी के हार्द को स्पष्ट करने की की गई है । हित के परात्पर और सर्व व्यापक स्वरूप का दिग्दर्शन इस टीका में सुन्दर ढंग से कराया गया है । इस की भाषा सीधी-सादी किन्तु भाव व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ है । एक उदाहरण दिया जाता है—

'श्री हित पूर्ण प्रभू हैं । देखौ प्रसिद्ध हरि काहू के बस नहीं सो श्री हित जू के बस हैं और हरि काहू कौ करचौ न होइ सो श्री हित कौ करचौ होइ । जा जीव ने हितसौं हरि

की भक्ति करी ताके बस भये। फिर जा भक्त ने हित सौं हरि की भक्ति करी ताके बस भये। फेरि जा भक्त नै जैसौ भाव धरयौ ताके हेत तैसौई रूप धरि ताकौ मनोर्थ पूरन करत भये। देखौ श्री हित कौ प्रताप तौ यह, जो हरि जाके बस और हित को करयौ श्री हरि होय'।

९. **सेवक चरित्र**—श्री प्रिया दास कृत, रचना-काल सं० १८४१। इस ग्रन्थ का अधिक भाग पद्य में है किन्तु इसमें गद्य का अंश भी पर्याप्त है। इसमें सेवक जी की जन्म की बधाईयां हैं और इसमें प्रथम बार सेवक जी की जन्म-तिथि श्रावण शुक्ला ३ (हरियाली तीज) स्थापित की गई है। यह तिथि प्रियादास जी को स्वप्न में उपलब्ध हुई थी। उन्होंने इस घटना का वर्णन इस प्रकार किया है।

'तब हम उहाँते उठिकैं श्री महाराज दामोदर चन्द जू के रास में लता मन्दिर में आय बैठे। आगहन बदी १४ सं०१८-३६ हौं निमग्न भयौ। रास में परौ रहूँ। एक दिना ऐसौ कारन भयौ। सो सावन बदी ४ पिछलो रात कौं स्वप्न भयौ। गौर बरन है, तीस-बत्तीस बरस की अवस्था है, स्वेत धोती है, स्वेत ही पाग है और स्वेत ही उपरना है। पालथी मारैं, आसन पर बैठे हैं। आगै चौकी है। ता ऊपर श्रीमद् गिराजू कौ गुटका है। तामें आरूढ़ दसा सौं लौ लीन ह्वै रहे हैं, और उनके साम्हीं हौं बैठौ हौं। उनने वा गहर में ते निकस कै मेरी ओर देख्यौ। तब मोसौं कही कै

सेवकजू कौ जन्म-उत्सव सावन सुदी तीज के दिना है। सो तूं करि। तब मैंने दंडवत् करिकैं आज्ञा सिर धर लई'।

सेवक चरित्र में गोस्वामी कमल नयन जी (सं० १६९२-१७५४) के शिष्य अतिवल्लभ जी कृत हित चतुरासी के एक पद का अर्थ दिया हुआ है। यह गद्य में है और चमत्कार पूर्ण है। उदाहरण के लिये हम यहाँ पद की प्रथम पंक्ति का अर्थ उद्धृत करते हैं।

नयौ नेह नव रंग नयौ रस नवल श्याम वृषभान किशोरी।
(हि० च०)

नयौ नेह:—शृंगार रस के द्वै विभाग, एक संयोग एक वियोग। यह नयौ नेह एसौ जो संयोग में सदा रहै अरु बढ़नि वियोग सौं नाहीं, देखन सौं है। ज्यौं-ज्यौं देखै त्यौं-त्यौं बढै, नित नयौ रहै, बढ़ानि निघटै नाहीं।

नव रंग:—आप उज्ज्वल, श्याम कौं लाल करै, आप श्याम न होइ। ये तीनौ बात और रंगनि तें नई हैं, तातैं नयौ रंग।

नयौ रस:—रस कहे शृंगार रस। तकौ स्थाई भाव रति है। यह शृंगार लाला जू कौ स्वरूप है। या स्वरूप स्थाई प्रियाजी के रूप में है। हित संधित है, रति संधित नाहीं। यातैं नयौ रस है।

नवल श्याम वृषभान किशोरी:—प्रिया जी ने जा श्याम स्वरूप कौं अवलोकन कियौ सो काहू ने न देख्यौ।

अरु जा श्याम स्वरूप ने प्रिया जी कौं देख्यौ सो श्याम सदा एकसौ रह्यौ, माधुर्य रस निमग्न। बाल, कौमार, पौगंड, अवतार, अवतारी सब नव किशोर स्वरूप में हैं। परन्तु माधुर्य रस अत्यन्त बलवान, उनमें वे कोऊ रूप प्रकाश न होंहि। तातैं दास्यभाव, वात्सल्यभाव और सख्यभाव वारेन वह रूप न देख्यौ और जे उज्वल रस की अधिकारिनी व्रज में है तिन्हनि न देखे। यह श्याम कौ स्वरूप काहू के नेत्रनि पर न भयौ तातैं नवल है।'

'ऐसे ही श्री वृषभानु नंदिनी जू को स्वरूप नवल है, तादृश श्याम सोई तौ देखैं और कोऊ श्याम हू न देखैं।'

१०. **स्वप्न विलासः**—चाचा हित वृन्दावनदास कृत। इसमें रचना-काल नहीं दिया है। अनन्य अली जी के स्वप्नों से इन स्वप्न-वृत्तान्तों में भेद यह है कि इनमें रचयिता के जीवन से संबंधित कोई बात नहीं मिलती। चाचाजी को स्वप्न-काल में जिन लीलाओं का दर्शन हुआ है, उनका संग्रह उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में कर दिया है। इसकी भाषा सीधी-सादी और शैली वर्णनात्मक है। एक उदाहरण दिया जाता है,

'चंपकबरनी कौ फूल कौ सिंगार, पीत सारी, लाल लहँगा, सौंने के फूलनि की बूटी, श्याम कंचुकी सौं जमुना की पहल-कारी पर सोभा देखत हैं। जमुना में पुल बन्यौ है। तामें रंग-रंग के कटहरा बने है। ताके बीच जराऊ बँगला बन्यौ है। जमुना तैं कमल आदि लता फैलि कैं सब छायौ है। फूल-

फलि सब भूमि आइ झालरि भई है, ताकी जोति सब जल में, महल में, पहलकारी में फैलो है। तामें निज सखी प्रिया पीय दोऊ अकेले ठाड़े हैं।'

११. भावना सागरः—श्रीचतुरशिरोमणिलाल गोस्वामी कृत, रचना-काल सं० १८६१।

संप्रदाय के साहित्य में यह सबसे बड़ा स्वतंत्र गद्य-ग्रन्थ है। इसमें श्याम श्यामा के विवाह-विनोद का बड़ा विशद और रोचक वर्णन किया गया है। युगल के अद्भुत प्रेम और रूप एवं सखियों की अद्भुत तत्सुखमई सेवा का मार्मिक परिचय इस ग्रन्थ में मिलता है। स्थान-स्थान पर विभिन्न वाणीकारों के सुन्दर पद या पंक्तियाँ उद्धृत हैं जो वर्णन की सजीवता को बढ़ाते हैं। ग्रन्थ की भाषा सीधी-सादी है किन्तु अनुभूति की तीव्रता के अनुसार कहीं-कहीं वह गद्य-काव्य बन गई है। एक उदाहरण देखिये:—

'वह जु कोई परम अद्भुत अमोल मणिनु कौ हार ताहि, नीलाम्बर की ओट में सूँ हाथ निकारि जब वरमाला पहिराई ता समै सगरी बरात की दृष्टि वाही ओर ही। सबनि जानी कै प्रथम तौ नीलाम्बर रूपी नव घन तैं चन्द्रमान के कोटान-कोट समूहन के समूह उदै भये, न जानिये कोटानकोट समूहन के समूह बिजुरीन के, निश्चै न परी।'

'रूप के सहदाने बजन लगे, छबि की नौबत झरन लगी, कटाक्षन की न्यौछाबर हौंन लगी, बिहार की सैना चतुरंगिनी सजि कै ठाड़ी होत हित के नगर में बधाई बजत भई।'

१२. श्री हितानंद सागर:—स्वामिनी शरण जी कृत, रचना-काल, सं. १९६३।

इस ग्रन्थ में २६ लहरी हैं। इसमें हित-तत्व का विशद विवेचन है और रास-विलासादिक का वर्णन हित के विवर्तों के रूप में किया गया है। लीला में, प्रसिद्ध अष्ट सखियों के साथ, हित परिकर के व्यक्तियों की सखी रूप में अवतारणा की गई है। इसकी भाषा सरल और मुहाविरेदार है। एक उदाहरण देखिये:—

'तहाँ रूप गरबीली प्यारी जू में कोई प्रेम की गरुई अवस्था आइ गई है तासौं भृकुटी चढ़ि रही है। ताहि सखी देखि मान सौं जानि मनाइ रही है और अँगुरी उठाइ दिखाइ रही है कै तिहारौ प्यारौ तिहारे सिंगार के हेत प्रेम सौं फूल बीन रह्यौ है, तुम ऐसे प्यारे सौं मान करि रही हौ।...........अब भीतर श्रीहित अली जू, श्री सेवक अली और नागरीदासी जू, श्री नरबाहनी, ध्रुवदासी जू सहित बतरस मई मोद बढ़ाइ रही हैं[1]।'

———

१ उल्लिखित ग्रंथों के अतिरिक्त कई अन्य गद्य टीकायें प्राप्त हैं जिनमें श्री वृन्दावनदास (चाचा जी से भिन्न) कृत श्री राधा सुधानिधि की टीका (रचना-काल सं०१८२०) उल्लेखनीय है।

संस्कृत-साहित्य

राधावल्लभीय संस्कृत-साहित्य का आरंभ हित प्रभु की रचनाओं से ही होता है। संस्कृत में हित प्रभु की दो कृतियाँ प्राप्त हैं, राधा सुधानिधि और यमुनाष्टक। राधा सुधानिधि की ऐतिहासिक स्थिति का विवेचन पीछे हो चुका है। संस्कृत वाङ्मय में कदाचित् यह प्रथम ग्रन्थ है जो श्री राधा की वंदना से आरंभ होता है। इसके पूर्व किसी ग्रन्थ में यह बात नहीं देखी जाती। राधा सुधानिधि के वंगीय संस्करण में, इस ग्रन्थ को श्री प्रबोधानंद सरस्वती कृत सिद्ध करने के लिये, आरंभ में श्री चैतन्य-वंदना का एक श्लोक प्रक्षिप्त कर दिया गया है, जिससे इस ग्रन्थ की उपर्युक्त विलक्षणता नष्ट हो गई है।

राधा सुधानिधि में, हित प्रभु ने, अपने काल में प्रचलित श्री राधा के सब स्वरूपों का निर्देश किया है और उन सब के ऊपर उन के स्व-दृष्ट परात्पर प्रेम-स्वरूप को स्थापित किया है। यह स्वरूप अत्यन्त रहस्यमय है—मूर्त से विलक्षण, अमूर्त से विलक्षण। इसके वर्णन में कहीं तो हित प्रभु एक से एक सुन्दर और अर्थ-गर्भित विशेषणों का पुंखानुपुंख उपयोग कर देते हैं[1]। कहीं सुन्दर सांग रूपकों की अवतारणा कर देते

---

१ वैदग्ध्य सिन्धु रनुराग रसैक सिन्धु,
वात्सल्य सिन्धु रति सान्द्र कृपक सिन्धुः।
लावण्य सिन्धु रमृतच्छवि रूप सिन्धुः,
श्री राधिका स्फुरतु में हृदि केलि सिन्धुः॥

हैं[1] और कहीं मूर्त्त-अमूर्त्त को मिलाकर इस अनंत सौंदर्य सागर का अवगाहन करने की चेष्टा करते हैं[2]। उनकी श्री राधा में प्रेमोल्लास की सीमा, परम रस चमत्कार–वैचित्र्य की सीमा, सौन्दर्य की एकान्त सीमा, नव वय रूप लावण्य की सीमा, लीला माधुर्य की सीमा, औदार्य वात्सल्य की सीमा, सुख की सीमा, और रति-कलाकेलि-माधुर्य की सीमायें आकर मिलीं हैं[3]। उनकी श्री राधा का लावण्य परम अद्भुत है. रति कला चातुर्य अति अद्भुत है, कांति महा अद्भुत है, लीला गति अद्भुत है, दृगभंगी अद्भुत है, स्मित अद्भुत तम है, अरे, वे अद्भुतता की मूर्ति ही हैं[4]।

---

१ लसद्वदन पंकजा नव गभीर नाभि भ्रमा,
नितंब पुलिनोल्लसन्मुखर कांचि कांदबिनी।
विशुद्ध रस वाहिनी रसिक सिन्धु संगोन्मदा
सदा सुरतरंगिणी जयति कापि वृन्दावने॥

२ लक्ष्मी कोटि विलक्ष्य लक्षण लसल्लीला किशोरी शतै-
राराध्यं व्रज मंडलेति मधुरं राधाभिधानं परम्।
ज्योतिः किंचन सिंचदुज्ज्वल रस प्राग्भाव माविर्भवद्–
राधे चेतसि भूरि भाग्य विभवैः कस्याप्यहो जृंभते॥

३ प्रेमोल्लासैक सीमा परम रस चमत्कार वैचित्र्य सीमा,
सौन्दर्यस्यैक सीमा किमपि नववयो रूप लावण्य सीमा।
लीला माधुर्य सीमा निजजन परमौदार्य वात्सल्य सीमा,
सा राधा सौख्य सीमा जयति रति कला केलि माधुर्य सीमा॥

४ लावण्यं परमाद्भुतं रति–कला–चातुर्य मत्यद्भुतं,
कांतिः कापि महाद्भुता वरतनो र्लीला गतिश्चाद्भुता।
दृग्भंगी पुनरद्भुताद्भुततमा यस्याः स्मितंचाद्भुतं,
सा राधाद्भुत मूर्तिरद्भुत रसं दास्यं कदा दास्यति॥

श्री राधा के चन्द्र मुख का, उनके अद्भुत धम्मिल्ल (केशों) का, कवर भार का, सीमंत का, कोमल बाहु लताओं का, उरोजों का, कटि का, जघन स्थली का और चरण-द्वयी[1] का बड़ा सुन्दर वर्णन, हित प्रभु ने इस ग्रन्थ में किया है। इसी प्रकार, उनकी निरुपम भ्रू-नर्तन-चातुरी, लीला खेलन चातुरी, वचन-चातुरी, संकेतागम-चातुरी, नव-नव क्रीड़ा कला चातुरी का जय जयकार उन्होंने पद-पद पर किया है[2]।

श्री राधा के रूप गुण वर्णन के साथ, हित प्रभु ने, इस ग्रन्थ में युगल उपासना की राधापद्धति का निर्माण किया है। चाचा हित वृन्दावन दास ने हित प्रभु को अनेक स्थलों पर 'राधा पद्धति प्रचुर कर्ता' लिखा है। हित प्रभु की उपासना में श्री राधा की प्रधानता देखकर अनेक लोग उनको राधिका उपासक मान लेते हैं किन्तु यह बहुत मोटी भूल है। वे सच्चे युगल उपासक हैं। युगल उपासना की दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं,एक 'कृष्ण पद्धति' जो गौड़ीय संप्रदाय में दिखाई देती है और दूसरी 'राधा पद्धति' जो श्रीहित हरिवंश गोस्वामी द्वारा प्रचलितकी गई है। विधि–निषेधादिक शास्त्र–मर्यादाओं का परित्याग इस पद्धति का एक विशेष अंग है। यह त्याग इतना संपूर्ण है कि वैष्णव-शास्त्रों

---

१ कामं तूलिकया करेण हरिणा चालक्तकै रंकिता।
नाना केलि विदग्ध गोप रमणी वृन्दे तथा वंदिता॥
या संगुप्ततया तथोपनिषदां हृद्येव विद्योतते।
सा राधाचरणद्वयी मम गति र्लास्यैक लीलामयी॥

२ रा सु. नि, श्लोक ६३, ६, ७१, १५६, १५६, ११६, १५३।

के विधि निषेधादिक भी इसके क्षेत्र से बाहर नहीं समझे गये हैं ।[1]

राधा सुधानिधि पर निम्नलिखित महानुभावों की टीकायें प्राप्त हैं ।

श्री संतराम जी (ब्रज भाषा), श्री लोकनाथ जी (ब्रज भाषा), श्री तुलसीदास (ब्रजभाषा), श्री हरिलाल व्यास (संस्कृत, लघुव्याख्या, मध्य व्याख्या, रसकुल्या) श्री हितदासजी (ब्रजभाषा) श्री कृपालाल गोस्वामी (संस्कृत) श्री वृन्दावन दासजी (ब्रजभाषा) श्री लाड़िली लाल गोस्वामी (ब्रजभाषा) श्री मनोहर वल्लभ गोस्वामी (ब्रजभाषा) श्री स्वामिनी शरण जी (ब्रजभाषा) श्री भोलानाथजी (ब्रजभाषा गद्य और पद्य) श्री युगल वल्लभ गोस्वामी (ब्रजभाषा) श्री वैजनाथ जी (ब्रजभाषा)

श्री हिताचार्य की दूसरी संस्कृत रचना यमुनाष्टक है । श्री वल्लभाचार्य ने भी एक यमुनाष्टक की रचना की है और उसमें यमुना को श्री कृष्ण को पटरानी माना है । हित प्रभु ने यमुना को श्याम श्यामा के हृदय में प्रवाहित होने वाले उज्जवल रस का बाहर उच्छलित होने वाला रूप माना है[2] ।

---

१ रा. नि. ७७, ८०, ८१, ८२

२ ब्रजेन्द्र सूनु राधिका हृदि प्रपूर्य मारणयो,
मंहा रसाब्धि पूरियोरिवाति तीव्र वेगतः ।
बहि समुच्छलन्नव प्रवाह रूपिणी महं,
भजे कलिन्द नंदिनीं दुरंत मोह भंजिनीम् ।

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीः—यह श्री हिताचार्य के कृपा-पात्र थे और इनका विषद चरित्र भगवत् मुदित जी कृत रसिक अनन्यमाल में दिया हुआ है। प्रबोधानन्द सरस्वती नाम के एक महात्मा चैतन्य संप्रदाय में भी हुये हैं और उनका श्री चैतन्य-चन्द्रामृत नामक एक सुन्दर काव्य-ग्रन्थ प्रसिद्ध है। श्री चैतन्य के प्रति एकान्तिक निष्ठा और असीम अनुराग इस ग्रन्थ के प्रत्येक छंद से व्यक्त होता है। कवि कर्णपूर ने अपनी 'गौरगणोद्देश दीपिका' (रचना-काल सं० १६३३) में इनको तुंगविद्या सखी का अवतार माना है[1]। श्री जीव गोस्वामी के नाम से प्रचलित 'वैष्णव-वंदना' में इनको 'चन्द्रामृत' का कर्ता और गोपाल भट्ट गोस्वामी का गुरु लिखा है[2]। देवकीनन्दन सेन और द्वितीय वृन्दावनदास की वैष्णव-वंदनाओं में भी इनका उल्लेख मिलता है। श्री गोपाल भट्ट ने अपने भगवत्-भक्ति विलास के मङ्गलाचरण में प्रबोधानन्द को अपना गुरु लिखा है[3]।

यहाँ तक तो स्थिति बिलकुल स्पष्ट है किन्तु जब यह जानने की चेष्टा की जाती है कि यह प्रबोधानन्द कौन थे, तब

---

१ तुङ्गविद्या व्रजे यासीत् सर्व शास्त्र विशारदा।
सा प्रबोधानन्द यतिर्गौरोद्गान सरस्वती ॥१६३॥

२ प्रबोधानंद सरस्वतीं वंदे विमलां यया मुदा।
चन्द्रामृतं रचितं यत् शिष्यो गोपालभट्टः ॥

३ भक्तेर्बिलासांश्चिनुते प्रबोधानंदस्यशिष्यो भगवत्प्रियस्य।
गोपालभट्टो रघुनाथदासं सन्तोषयन् रूप सनातनं च ॥

बड़ी असंगत और परस्पर विरोधी बातें सामने आती हैं। सर्व प्रथम तो यह देखकर आश्चर्य होता है कि श्री चैतन्य के सम-सामयिक किसी इतिहासकार ने प्रबोधानन्द का इतिवृत्त नहीं लिखा है। यहाँ तक कि सत्रहवीं शती के उत्तरार्ध में रचे जाने वाले श्रीकृष्णदास कविराज कृत श्री चैतन्य चरितामृत में सरस्वती पाद के संबंध में कोई सूचना नहीं मिलती। कविराज महाशय ने तो अपने ग्रन्थ के दशम परिच्छेद में दिये हुये श्री चैतन्य के 'शाखा—वर्णन' में भी प्रबोधानन्द का नाम नहीं दिया है!

अठारहवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में नरहरि चक्रवर्ती ने अपने भक्ति रत्नाकर में प्रथमवार सरस्वती पाद का परिचय दिया है। इस ग्रन्थ के अनुसार यह श्री गोपाल भट्ट के पितृव्य और शिक्षा-गुरु थे। गोपालभट्ट के पिता वेङ्कटभट्ट तीन भाई थे। उनसे बड़े भाई का नाम त्रिमल्लभट्ट था और छोटे का प्रबोधानन्द। तीनों भाई लक्ष्मीनारायण के उपासक थे। श्री चैतन्य अपनी दक्षिण यात्रा में इनके यहाँ चार महीने ठहरे थे और उनकी कृपा से भट्ट बन्धुओं के हृदय में राधा-कृष्ण के प्रति एकान्त रति उत्पन्न हुई थी।

इसी काल की एक अन्य रचना मनोहरदास कृत 'अनुरागवल्ली' से मालूम होता है कि श्री चैतन्य के त्रिमल्ल भट्ट के घर से बिदा होने के कुछ दिन बाद यह भट्ट गोष्ठी तीर्थ-यात्रा के लिये निकली थी और पुरी पहुँचकर महाप्रभु के दर्शन किये थे। श्री चैतन्य ने इनको घर लौटकर भजन-

साधन करने का आदेश दिया था। इसके बाद काल क्रम से तीनो भाइयों का देहान्त होगया और उनकी पत्नियाँ भी आगे-पीछे दिवंगत हो गयीं[1]। गोपाल भट्ट गोस्वामी सब का समाधान करके वृन्दावन वास करने चले गये[2]।

भक्ति रत्नाकर और अनुराग-वल्ली के इस विवरण में श्री विमान बिहारी मजूमदार के अनुसार एक गुरुतर समस्या अमीमांसित रह गई है। उन्हीं के शब्दों में 'श्री चैतन्य ने त्रिमल्लभट्ट के घर में प्रबोधानन्द पर कृपा की थी। उस समय वे निश्चित रूप से गृही थे क्योंकि संन्यासी होकर अपने भाइयों के साथ एक घर में रहने का नियम नहीं है और अनुराग-वल्ली में तीनों भाइयों की तीन पत्नियों का भी उल्लेख हुआ है। इसके बाद वे कब सरस्वती संप्रदाय भुक्त संन्यासी हुये? रामचन्द्र, परमानन्द, दामोदर, सुखानन्द, गोविन्दानन्द, ब्रह्मानन्द प्रभृति 'पुरी'; नरसिंह, पुरुषोत्तम, रघुनाथ प्रभृति 'तीर्थ' और सत्यानन्द आदि 'भारती' दशनामी संप्रदाय भुक्त होने के बाद श्री चैतन्य के कृपापात्र बने थे। किन्तु श्री चैतन्य की कृपा लाभ करने के बाद, रूप-सनातन की भाँति गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय में योग न देकर, प्रबोधानंद सरस्वती-संप्रदाय में योगदान कैसे दे सकते थे? श्री चैतन्य

---

१ क्रम-क्रम तीन भाईयेर सिद्धि प्राप्त हईल।
ता सभार घरनी अग्रपश्चात् पाइल॥ (अ. व. पृ. ७)

२ सर्व समाधान करि उदासीन हईया।
वृन्दावने आइलैन प्रेमेमत्त हईया॥ (अ. व. पृ. ७)

चन्द्रामृत ग्रन्थ का पाठ करने से मालूम होता है कि श्री चैतन्य का चरणाश्रय प्राप्त करने के पूर्व प्रबोधानन्द 'माया-वादी' थे[२]। इससे यह निश्चित होता है कि श्री चैतन्य के श्री चरण दर्शन से पूर्व ही उन्होंने संन्यास अवलम्बन कर लिया था और फिर स्वरूप दामोदर की भाँति गौर-प्रेमसिंधु में निमज्जित हुए थे। इस सिद्धान्त को यदि युक्तिसह माना जाय तो श्री चैतन्य के तिरोभाव के १६३ वर्ष बाद रची जाने वाली अनुरागवल्ली का विवरण भ्रान्त मानना होगा[१]।'

भक्ति रत्नाकर और अनुरागवल्ली के रचयिताओं ने अपने प्रबोधानंद संबंधी विवरण को एक बात से और भी अप्रामाणिक बना दिया है। इन दोनों ग्रन्थों में गोपाल भट्ट गोस्वामी को कृष्ण कर्णामृत की कृष्णवल्लभा टीका का रचयिता बतलाया गया है। किन्तु टीकाकार ने इस टीका के द्वितीय श्लोक में स्वयं को द्राविड़ नृसिंह भट्ट के पुत्र हरिवंश भट्ट का सुत बतलाया है।[२] यदि श्री गोपाल भट्ट इस टीका के अनुसार हरिवंश भट्ट के पुत्र सिद्ध होते हैं तो त्रिमल्ल–

---

२ श्री चैतन्य चन्द्रामृत श्लोक १६, ३२, ४२।

१ श्री चैतन्य चरितेर उपादान, पृ० १६८—१६६

२. श्री मद्द्राविड़ नीवृदम्बुधि विधुः श्रीमान्नृसिंहोभवद्,
भट्ट श्री हरिवंश उत्तम गुण ग्रामैकभूस्तत्सुतः।
तत्पुत्रस्य कृति स्त्विवयं वितनुतां गोपाल नाम्नो मुदा,
गोपीनाथ पदारविन्द मकरंदा नन्दि चेतोऽलिनः॥

वेङ्कट–प्रबोधानंद वाली बात सर्वथा मिथ्या हो जाती है और सरस्बती पाद के परिचय का भ्रान्त आधार भी नष्ट हो जाता है।

श्री प्रबोधानंद के संबंध में सम्प्रति यह बात बहुत अधिक प्रसिद्ध है कि इनका पूर्व नाम प्रकाशानंद था। काशी में श्री चैतन्य द्वारा पराजित किये जाने पर यह उनके अनुयायी बन गये थे और महाप्रभु ने ही उनको प्रबोधानंद नाम प्रदान किया था। किन्तु प्रकाशानंद वाली घटना का उल्लेख मुरारी, कवि कर्णपूर, जयानंद और लोचनदास ने अपनी रचनाओं में नहीं किया। इस घटना का विस्तृत वर्णन बृन्दावनदास के चैतन्य भागवत और कृष्णदास कविराज के चैतन्य चरितामृत में मिलता है। किन्तु इन दोनों ग्रन्थों में कहीं भी प्रकाशानंद और प्रबोधानंद को एक व्यक्ति नहीं बतलाया गया है। चैतन्य चरितामृत में प्रबोधानंद कृत श्री चैतन्य चन्द्रामृत का एक भी श्लोक उद्घृत नहीं किया गया है। प्रकाशानंद ही यदि प्रबोधानंद होते तो उनका श्री चैतन्यानुराग प्रदर्शित करने के लिये कविराज गोस्वामी चंद्रामृत के एक-दो श्लोक अवश्य उद्धृत करते। इतिहासज्ञों द्वारा नितान्त अप्रामाणिक माने जाने वाले 'अद्वैत प्रकाश'[1] के सत्रहवें अध्याय में हमको

१. ईशान नागरकृत अद्वैत प्रकाश की आलोचना विमानबिहारी मजूमदार ने अपने चैतन्य चरितेरउपादान नामक ग्रंथ में की है और इसकी 'कृत्रिमता' के पाँच प्रवल कारण उपस्थित किये हैं। (देखिये पृ० ४३३–४६५)

प्रथमवार यह जानने को मिलता है कि प्रकाशानंद ही बाद में प्रबोधानंद बन गये थे ! अतः इस दिशा से भी प्रबोधानंद सरस्वती के सम्बन्ध में कोई विश्वसनीय बात हाथ नहीं आती ।

इसके विपरीत हम जिन प्रबोधानन्द का परिचय यहाँ दे रहे हैं उनके राधावल्लभीय होने के बिलकुल सम-सामयिक प्रमाण उपलब्ध हैं । श्री हरिराम व्यास प्रबोधानंद सरस्वती के समकालीन थे । 'साधुनि की स्तुति' में उन्होंने श्री प्रबोधानंद की प्रशंसा में भी एक पद लिखा है और उसमें उनको श्री हित हरिवंश का कृपापात्र बतलाया है ।

प्रबोधानंद से कवि थोरे ।
जिन राधावल्लभ की लीला-रस में सब रस घोरे ।
केवल प्रेम बिलास आस करि भव-बंधन दृढ़ तोरे ।।
सहज माधुरी बचननि रसिक अनन्यनि के चित चोरे ।
पावन रूप नाम गुन उर धरि विषय-बिकार जु मोरे ।।
चारु चरन नखचंद विम्ब में राखे नैंन चकोरे ।
जाया-माया गृह-देही सौं रविसुत बंधन छोरे ।।
लोक वेद सारङ्ग अङ्ग के सेत हेत के फोरे ।
यह प्रिय व्यास आस करि श्रीहरिवंशहि प्रति कर जोरे ।।

दूसरा उल्लेख हिताचार्य के द्वितीय पुत्र श्री कृष्णचन्द्र गोस्वामी के कर्णानन्द की टीका में मिलता है । यह ग्रन्थ

सं० १६३५ में पूर्ण हुआ है। इसकी टीका के संबंध में ग्रंथकार ने लिखा है कि मैंने ग्रन्थ-रचना के साथ ही टीका लिखना आरम्भ कर दिया था, उसकी पूर्ति श्री प्रबोधानन्द ने की है।

कर्णानन्दाभिधो ग्रन्थः कृष्णदासेन निर्मित ।
तट्टीका च तदारब्धा श्री प्रबोधेन पूरिता ॥

श्री प्रबोधानंद का तीसरा उल्लेख स्वामी चतुर्भुजदास के राधा-प्रताप यश में मिलता है। चतुर्भुजदास जी श्रीहिताचार्य के बड़े पुत्र गोस्वामी बनचन्द्र जी के शिष्य थे। उन्होंने लिखा है कि श्री हितहरिवंश ने श्री राधा के कृष्णाराध्या रूप का सर्व प्रथम प्रकाश किया। उनके बाद श्री प्रबोधानंद ने इस रसरीति का प्रचार किया और फिर श्री बनमालीदास (श्रीबनचन्द्र गोस्वामी) ने उसी का निर्वाह किया।

आगम निगम सिंधु मथि लह्यौं, श्री हरिवंश कृपा करि कह्यौ ।
पुनि परबोधानन्द जु लही, रस सागर लीला कथि कही ।
श्री राधा सु प्रताप यश ॥
श्री बनमालीदास सु रीति, निर्वाही दिन-दिन अति प्रीति ।
भजन भक्ति अगनित करत ॥
(द्वादशयश)

इन सम-सामयिक उल्लेखों के अतिरिक्त श्री हिताचार्य की सभी उपलब्ध शिष्य-परम्पराओं में प्रबोधानंद सरस्वती का नाम मिलता है। भगवत् मुदितजी ने सरस्वती पाद का चरित्र उनके वृन्दावन-आगमन से आरंभ किया है, उनका पूर्ववृत्त

इतना ही दिया है कि वे संन्यासी थे और काशी से बृन्दाबन आये थे। वे सब दिशाओं को जीतकर आये थे और द्वितीय सरस्वती माने जाते थे। वे महापण्डित होते हुये भी बड़े अविनीत थे।

प्रबोधानन्द हुते संन्यासी, जाके गुरु मत सून्य उदासी।
दुतिय सरस्वती सब दिशि जीती, पण्डित बड़े, बड़े अविनीती।
काशी तैं वृन्दाबन आये, एक मास रहि अति सुख पाये।

वृन्दावन में इन्होंने सब ठाकुरद्वार (मन्दिर) देखे और सब आचार्यो से मिले किंतु इनका मन कहीं जमा नहीं।

सबही ठाकुरद्वारे देखे, औद सबै आचारज पेखे।
सबके मत नीके करि जानै, पै प्रबोध के मन नहिं आनै।

वृन्दावन में एक मास रहने के बाद वे मथुरा चले गये और वहाँ एक कुटी में रहने लगे। हित प्रभु के एक शिष्य परमानंददास जी (राजा परमानंद) उनको एक दिन कहीं मिल गये। दोनों में नित्य विहार की चर्चा छिड़ गई और उससे दोनों को सुख मिला। किन्तु प्रबोधानंद जी का मन किसी बात को मानने को तैयार नहीं होता था। चर्चा में मानसरोवर का भी उल्लेख हुआ और उस स्थान का अत्यंत रसमय वर्णन सुनकर प्रबोधानंद जी के चित्त का कुछ आकर्षण उसके प्रति हुआ। वे वैशाख की पूर्णिमा को मानसरोवर गये और वहाँ रात को रह गये। वहाँ उनको जो अनुभव हुआ उसका वर्णन भगवत् मुदित जी ने इस प्रकार किया है'

गोधन देखि परमसुख पायौ, पाछैं ठौर उदास जनायौ ।
घरी द्वैक रात जब गई, रीती भूमि भयानक भई ।
पाछैं सिंह-सिंहनी धाये, तिनकी गरज सुनत संकाये ।
पाछैं नाग अरु नागिन देखे, डर्यौ न विषधर भयद अलेखे ।
पाछैं पवन बुहारी दई, बादर उलह्यौ बरसा भई ।
सीतल मंद सुगंध समीर, आनँद बाढ़यौ सकल सरीर ।
प्रबोधानंद कौं निद्रा आई, सुसप्ति मगन तन दसा भुलाई ।
कुंजबिहारी यहै बिचारी, यह ह्याँ को नाहीं अधिकारी ।
अबहीं याकै बहुत कचाई, रसिक संग बिनु भरम न जाई ।
मथुरा कुटी माँझ पहुँचायौ, मानसरोवर रहन न पायौ ।

अपनी कुटी में प्रातःकाल जब उनकी आँख खुलीं तब उनके संशय छिन्न हो चुके थे और नित्य बिहार में उनकी सहज प्रतीति जाग्रत हो चुकी थी । वे दौड़े हुये परमानंददास जी के पास गये और उनको मानसरोवर के अपने अनुभव सुनाकर उनसे नित्य विहार-रस दान करने की प्रार्थना की । परमानंददास जी ने इस रस का दाता श्री हिताचार्य को बतलाया ।

तब परमानंद के मन भाये, या रस के दाता जु बताये ।
श्री हरिवंश चरण जब सेवै, तब या रस के जानै भेवै ।

यह सुनकर श्री प्रबोधानंद बृन्दावन गये किंतु हितप्रभु को उनसे मिलने का अधिक उत्साह नहीं हुआ । परमानंददास जी के समझाने पर वे प्रबोधानंद जी से मिलने को तो तैयार होगये किंतु यह कहा कि 'हम गृहस्थ हैं और यह संन्यासी हैं । अतः यह हम पर अपने मन में ही प्रेम-भाव रखते रहें ।'

परमानन्द प्रबोध हित कही, सो विनती हित जू मन गही।
ये संन्यासी हम हैं गेही, मन करि भाव धरौ जु सनेही।

प्रबोधानंद जी सेवा के द्वारा अपने विश्वास को सुदृढ़ बनाकर नित्य विहार की शिक्षा के अधिकारी बनें और उन्होंने हितप्रभु की स्तुति में एक अष्टक की रचना की[1]। अष्टक को सुनकर हितप्रभु का हृदय करुणार्द्र बन गया और उन्होंने उनको वृन्दावन रस रीति का प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया। प्रबोधानद जी की अभिलाषा पूर्ण होगई और सुख का सागर उनके नेत्रों के सामने लहराने लगा। दीपक के योग से दीपक प्रकट हो जाता है और दोनों में निःसंदिग्ध रूप से एक ही धर्म-प्रकाश–विद्यमान रहता है।

दीपक सौं लगि दीपक होई, एकै धर्म न संसै कोई।

प्रबोधानंद जी ने रसिक अनन्य धर्म की परिपाटी ग्रहण करके नित्य विहार रस का वर्णन किया और रसिक-जनों के हृदयों का सिंचन किया। उन्होंने अनेक 'कुञ्ज–रहस्य ग्रंथों' की रचना की और वृन्दावन-निष्ठा को सुदृढ़ बनाया।

रसिक अनन्य धर्म परिपाटी, जानि गही हितजी की घाटी।
नित विहार रस वर्णन कियौ, रसिक जननि कौ सींच्यौ हियौ।
निपट रहस्य केलि कलि गाई, वृन्दावन निष्ठा सु दृढ़ाई।
कुंज रहस्य ग्रन्थ बहु कीने, अर्थनि जानत रसिक प्रवीने।

---

१ इस अष्टक की गोस्वामी सुखलाल जी कृत संस्कृत टीका प्राप्त है। (अठारहवीं शती)

श्री परबोधानन्द की बानी वेद प्रमान ।
रसिक अनन्यनि कौं सुखद भगवत् मुदित सुजान ।।

उपर्युक्त विवरण से नीचे लिखे ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध होते हैं:—

१. प्रबोधानंद जी काशी से वृन्दावन आये थे और दशनामी सरस्वती संन्यासी थे। वे बड़े विद्वान् और दिग्विजयी पण्डित थे ।

२. वृन्दावन में वे सब आचार्यों से मिले किंतु कहीं भी उनका चित्त नहीं जमा ।

३. अन्त में वे परमानंददास जी को लेकर हितप्रभु से मिले और उनकी कृपा का संपादन किया ।

४. हितप्रभु ने उनको संन्यासी वेष में ही रहकर रसोपासना करने का आदेश दिया और वृन्दावन रस रीति का प्रत्यक्ष अनुभव उनको करा दिया ।

५. उन्होंने संपूर्ण रूप से हितजी की रस-परिपाटी का अनुसरण किया और अनेक ग्रन्थों की रचना करके वृन्दावन निष्ठा को सुदृढ़ बनाया ।

वास्तव में, इन प्रबोधानंद जी द्वारा रचित ग्रन्थों में वृन्दावन-निष्ठा का चरम रूप दिखलाई देता है[1] । संप्रदाय की

---

१ वृन्दारण्ये वरं स्यां कृमिरपि परतो नो चिदानंद देहो ।
रङ्कोऽपि स्यामतुल्यः परमिहन परत्राद्भुतानंभूतिः ।।
शून्योऽपि स्यामिह हरिभजन लवेनाति तुच्छार्थ मात्रे ।
लुब्धोनान्यत्र गोपीजन रमणपदाम्भोज दीक्षा सुखेऽपि ।।
(द्वितीय शतक—१)

परंपरा में श्री हरिराम व्यास को 'भक्त-अनन्य', सेवक जी को गुरु-अनन्य' और प्रबोधानंद जी को 'धाम-अनन्य' माना जाता है, 'धाम अनन्य प्रबोधजू।' इनके जीवन की घटनाओं को देखते हुये इनका धाम-निष्ठ होना ही स्वाभाविक लगता है।

वृन्दावन महिमामृत किंवा वृन्दावन शतकों में प्रबोधानंद जी ने अपनी इस निष्ठा का बड़ा सुंदर और विशद गान किया है। कहा जाता है कि इन्होंने सौ शतकों की रचना की थी किंतु अब १७ शतक ही प्राप्त हैं। यह कुल शतक सन् १९३३–३७ में प्रकाशित हुये थे[1]। श्री श्यामलाल हकीम ने वृन्दावन से प्रथम चार शतक नागरी अक्षरों में हिंदी भाषांतर सहित प्रकाशित किये हैं। इनमें से प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ, पंचम और सत्रहवें शतकों में श्री चैतन्य वंदना अथवा श्री चैतन्यस्मरण के श्लोक लगे मिलते हैं। चतुर्थ और पंचम शतकों में एक ही

भावार्थः—वृन्दारण्य में कीड़ा बनकर भी रहना मुझे अन्य स्थानों में चिदानन्दमय शरीर धारण करके रहने की अपेक्षा श्रेष्ठ लगता है; यहाँ परम रङ्क बनकर रहना अन्य स्थानों में अनन्त ऐश्वर्यशाली बनकर रहने की अपेक्षा अच्छा है। वृन्दावन में मैं चाहे सर्वथा भजन-शून्य होकर रहूँ किन्तु अन्य स्थानों में गोपीजनवल्लभ के चरणकमल-रस के आस्वाद सुख से पूर्ण बनकर भी नहीं रहना चाहता।

१ यामिनी मोहनसेन और भगवानदास बाबाजी महाशय ने वृन्दावन से सत्रहों शतक बंगला भाषांतर सहित सं० १९९०–१९९३ में प्रकाशित किये थे।

श्री परबोधानन्द की बानी वेद प्रमान ।
रसिक अनन्यनि कौं सुखद भगवत् मुदित सुजान ।।

उपर्युक्त विवरण से नीचे लिखे ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध होते हैं:—

१. प्रबोधानंद जी काशी से वृन्दावन आये थे और दशनामी सरस्वती संन्यासी थे। वे बड़े विद्वान् और दिग्विजयी पण्डित थे ।

२. वृन्दावन में वे सब आचार्यों से मिले किंतु कहीं भी उनका चित्त नहीं जमा ।

३. अन्त में वे परमानंददास जी को लेकर हितप्रभु से मिले और उनकी कृपा का संपादन किया ।

४. हितप्रभु ने उनको संन्यासी वेष में ही रहकर रसोपासना करने का आदेश दिया और वृन्दावन रस रीति का प्रत्यक्ष अनुभव उनको करा दिया ।

५. उन्होंने संपूर्ण रूप से हितजी की रस-परिपाटी का अनुसरण किया और अनेक ग्रन्थों की रचना करके वृन्दावन निष्ठा को सुदृढ़ बनाया ।

वास्तव में, इन प्रबोधानंद जी द्वारा रचित ग्रन्थों में वृन्दावन-निष्ठा का चरम रूप दिखलाई देता है[1] । संप्रदाय की

---

१ वृन्दारण्ये वरं स्यां कृमिरपि परतो नो चिदानंद देहो ।
रङ्कोऽपि स्यामतुल्यः परमिहन परत्राद्भुतानंभूतिः ।।
शून्योऽपि स्यामिह हरिभजन लवेनाति तुच्छार्थ मात्रे ।
लुब्धोनान्यत्र गोपीजन रमणपदाम्भोज दीक्षा सुखेऽपि ।।
(द्वितीय शतक–१)

परंपरा में श्री हरिराम व्यास को 'भक्त-अनन्य', सेवक जी को गुरु-अनन्य' और प्रबोधानंद जी को 'धाम-अनन्य' माना जाता है, 'धाम अनन्य प्रबोधजू।' इनके जीवन की घटनाओं को देखते हुये इनका धाम-निष्ठ होना ही स्वाभाविक लगता है।

वृन्दावन महिमामृत किंवा वृन्दावन शतकों में प्रबोधानंद जी ने अपनी इस निष्ठा का बड़ा सुंदर और विशद गान किया है। कहा जाता है कि इन्होंने सौ शतकों की रचना की थी किंतु अब १७ शतक ही प्राप्त हैं। यह कुल शतक सन्१९३३-३७ में प्रकाशित हुये थे[1]। श्री श्यामलाल हकीम ने वृन्दावन से प्रथम चार शतक नागरी अक्षरों में हिंदी भाषांतर सहित प्रकाशित किये हैं। इनमें से प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ, पंचम और सत्रहवें शतकों में श्री चैतन्य वंदना अथवा श्री चैतन्यस्मरण के श्लोक लगे मिलते हैं। चतुर्थ और पंचम शतकों में एक ही

भावार्थः—वृन्दारण्य में कीड़ा बनकर भी रहना मुझे अन्य स्थानों में चिदानन्दमय शरीर धारण करके रहने की अपेक्षा श्रेष्ठ लगता है; यहाँ परम रङ्क बनकर रहना अन्य स्थानों में अनन्त ऐश्वर्यशाली बनकर रहने की अपेक्षा अच्छा है। वृन्दावन में मैं चाहे सर्वथा भजन-शून्य होकर रहूँ किन्तु अन्य स्थानों में गोपीजनवल्लभ के चरणकमल-रस के आस्वाद सुख से पूर्ण बनकर भी नहीं रहना चाहता।

१ यामिनी मोहनसेन और भगवानदास बाबाजी महाशय ने वृन्दावन से सत्रहों शतक बंगला भाषांतर सहित सं० १९९०-१९९३ में प्रकाशित किये थे।

'स्मरण' श्लोक दोहरा दिया गया है[1]। सत्रहवें शतक में 'वंदना' के दो श्लोक हैं।

किंतु इन शतकों में वृन्दावन और उससे संबंधित रास-विलास का वर्णन जिस प्रकार से हुआ है वह इनको गौड़ीय संप्रदाय के किसी व्यक्ति द्वारा रचित सिद्ध नहीं करता। इनमें संपूर्णतया वृन्दावन रसरीति का अनुसरण किया गया है। राधा वल्लभीय रस-पद्धति के निम्नलिखित मौलिक तथ्य इस रचना के आधार बने हुये हैं।

१. श्री राधा-कृष्ण का नित्य संयोगी, नित्य बिहारी और नित्य वृन्दावनस्थ रूप। युगल-स्वरूप का निरूपण करते हुये श्री प्रबोधानंद ने छठे शतक में कहा है, 'जो परम ऐश्वर्य से अथवा अन्य रस से परिचित नहीं हैं, जो वृन्दावन से न तो कहीं अन्यत्र गमन करते हैं और न कहीं अन्यत्र से वृन्दावन में आये हैं,जो किशोरावस्था को छोड़कर अन्य वय को प्राप्त नहीं होते, जो एक क्षण के लिये भी क्रीड़ा से विरत नहीं होते, ऐसे अनिर्वचनोय मिथुन (युगल) वृंदावन में आनंद करते हैं[2]।'

---

१ दूर चैतन्य चरणाः कलिराविरभून्महान्।
कृष्ण प्रेम कथं प्राप्यो विना वृन्दावने रतिम्॥
(४-२९ और ५-१००)

२ ऐश्वर्यं परमञ्चवेत्ति न मनाङ् नान्यश्च कश्चिद्रसं,
न स्थाने परतः कदात्वनुगतं नोवा कुतोऽप्यागतम्।
कैशोरादपरं वयोनहि कदाप्यासादयन्नक्षणं,
क्रीडातोऽविरतं तदेक मिथुनं वृन्दावने नन्दति॥ (६-९)
ऐसा ही एक श्लोक नवम शतक में मिलता है। (९-६८)

२. भोग्य रूपा श्री राधा का सहज प्राधान्य । श्री प्रबोधानंद ने उन 'महायोगियों' का स्मरण किया है जो वृन्दावन के स्थावर-जङ्गम को सच्चिद्घन रूप मानते हुये श्री राधा के चरण-कमलों की छाया में सदैव निवास करते रहते हैं[1] ।

३. ललिता आदिक सब सखियों का शुद्ध श्री राधा किंकरी रूप । श्री रूप गोस्वामी कृत 'उज्ज्वल नीलमणि' में सखियों का नायिकात्व भी माना गया है[2] । कुछ सखियाँ ऐसी हैं जो नायिकात्व की अपेक्षा नहीं रखतीं और केवल सख्य का अवलम्ब लिये रहती हैं । उनको नित्य सखी कहते हैं । उनके नाम कस्तूरी, मणि मंजरी आदि हैं । शतकों में यह भेद स्वीकृत नहीं है । राधावल्लभीय सिद्धांत में युगल की परस्पर दो रीतियाँ सखी

---

१ श्री वृन्दावनतद्गत स्थिर चरान् स्वानन्द सच्चिद्घनान्,
त्रैगुण्यास्पृश आप्लुतान् हरि रसोद्वेलामृतैकाम्बुधौ ।
पश्यन्तो विलसन्ति सन्त इहकेऽप्याश्रित्य सर्वात्मना,
श्री राधाचरणारुणाम्बुज दलच्छायां महायोगिनः ॥
(१२–११)

२ सखीत्वं नायिकात्वं च ललितादीनां सर्वासामेव,
समये समये स्यादेवेति ।

(उ० नी० (निर्णयसागर संस्करण) आनन्दचंद्रिका टीका,
पृष्ठ २१८)

के रूप में एक बनती हैं। श्री प्रबोधानंद सखियों को इसीलिये, 'द्वयैक्यं' (दोनों का एक रूप) कहते हैं[1]।

४. वृन्दावन की रति रूपता। हम देख चुके हैं[2] कि श्री प्रबोधानंद तीन बृन्दावन मानते हैं, गोष्ठ वृन्दावन, गोपियों का क्रीड़ा-स्थल वृन्दावन और राधाकुञ्ज वाटी वृन्दावन। तीसरे को उन्होंने रति-रूप बतलाया है और इसी से संबंधित लीला का वर्णन तथा इसी के माहात्म्य का कथन उन्होंने इन शतकों में किया है। वृन्दावनात्मिका रति ही आस्वादित होने पर वृन्दावन रस कहलाती है। वृन्दावन रस का आस्वाद केवल सखीगण ही नहीं करतीं, स्वयं वृन्दावनेश्वरी भी करती हैं। बारहवें शतक में सरस्वती जी ने श्री राधा को 'वृन्दावन–रस–मत्ता' कहा है[3]।

श्री चैतन्य महाप्रभु के कृपापात्र कवि कर्णपूर श्री प्रबोधानंद सरस्वती के सम-सामयिक थे। इनका 'आनंद

---

१ जयति जयति राधा प्रेम सारैरगाधा,
जयति जयति कृष्ण स्तद्रसापार तृष्णः।
जयति जयति वृन्दं सत्सखीनां द्वयैक्यं,
जयति जयति वृन्दाकाननं तत्स्वधाम ॥ (६–४५)

२ (पृ० १६३)

३ श्रीमद् वृन्दावन रस मत्ता राधाऽसाधारण रति मत्ता।
श्री कृष्णेऽत्युन्मद रति तृष्णे लीलाधत्ते स्मरण शीला॥
(१२–३२)

वृन्दावन चम्पू' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है। इसमें गौड़ीय पद्धति के अनुसार वृन्दावन का और वहाँ की लीला का वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ के प्रथम स्तवक में वृन्दावन का अत्यंत रमणीय वर्णन करने के बाद कवि कर्णपूर ने बतलाया है कि इस वृन्दावन में व्रजपुर-पुरंदर की एक राजधानी है, 'यत्र काचन राजधानी व्रजपुर: पुरंदरस्य', जिसके राजा-रानी नंद-यशोदा हैं। इस राजधानी में अनेक गोप और गोप-कन्याएँ निवास करती हैं। गोप-कन्याओं में श्री राधा और चंद्रावली सर्वश्रेष्ठ हैं। द्वितीय स्तवक में श्रीकृष्ण की जन्म लीला का वर्णन है और फिर शेष बीस स्तवकों में उनकी बाल्य, कौमार और कैशोर लीलाओं का वर्णन श्रीमद्भागवत के आधार से हुआ है।

इस ग्रन्थ के साथ तुलना करने पर ज्ञात होता है कि वृन्दावन महिमामृत की रचना इससे बिलकुल भिन्न आधार पर हुई है। आनंद वृन्दावन चम्पू में जिस वृन्दावन का वर्णन है वह सरस्वती जी का 'गोष्ठ वृन्दावन' है। इस वृन्दावन की लीलायें नित्य होते हुये भी 'स्वारसिकी' हैं, प्रगट लीलानुसारिणी हैं। सरस्वतीपाद का वृन्दावन 'रसमयी राधा निकुंज वाटी' है और उसमें होने वाली लीलायें प्रगट लीलानुसारिणी नहीं हैं। वे इस वृन्दावन को अपने गिनाये हुये अन्य सब वृन्दावनों से तो श्रेष्ठ मानते ही हैं, वहाँ क्रीड़ा

करने वाले श्रीकृष्ण के स्वरूप को भी उनके अन्य सब स्वरूपों से श्रेष्ठ मानते हैं [1]।

इस प्रकार ग्रन्थ का अन्तरङ्ग परीक्षण उसको सर्वथा राधावल्लभीय रचना सिद्ध करता है। ध्रुवदास जी ने भी अपनी 'भक्त नामावलि' में श्री प्रबोधानंद को 'वृन्दावन-रस-माधुरी' का गायक बताया है[2] और अपने ब्रज भाषा 'वृन्दावन शतक' की प्रेरणा सरस्वती जी से ग्रहण की है।

---

१ धन्योलोके मुमुक्षुर्हरिभजन परो धन्य-धन्यस्ततोऽसौ,
धन्यो यः कृष्णपादाम्बुजरति परमो रुक्मिणीशः प्रियोऽतः।
याशोदेय प्रियोऽतः सुबल सुहृदतो गोपकान्ता प्रियोऽतः,
श्रीमद्वृन्दावनेश्वर्यति रस विवशाराधकः सर्वमूर्घ्नि:॥
(२–३४)

इस लोक में जो मुमुक्षु हैं वे धन्य हैं, जो हरि-भजन परायण हैं वे धन्य धन्य हैं। उनसे भी उत्कृष्ट वे हैं जिनकी रति श्रीकृष्ण के चरण कमल में हैं। उनसे भी अधिक धन्य रुक्मिणी पति श्रीकृष्ण के भक्त हैं। उनसे भी अधिक प्रशंस्य वे हैं जो यशोदानंदन श्रीकृष्ण के प्रिय हैं। उनसे भी अधिक धन्य सुबल आदि गोपों के सखा श्रीकृष्ण के प्रिय हैं। उनसे अधिक धन्य वे हैं जो गोपीजनों के वल्लभ श्रीकृष्ण का भजन करते हैं। किन्तु श्री वृन्दावनेश्वरी के परम-रस में विवश बने हुए श्रीकृष्ण की आराधना करने वाले सर्वश्रेष्ठ हैं।

२ युगल प्रेमरस अवधि में परचौ प्रबोध मन जाइ।
वृन्दावन रस माधुरी गाई अधिक लड़ाइ॥

किंतु कुछ शतकों में श्री चैतन्य-स्मरण के श्लोक लगे देखकर बुद्धि चक्कर में पड़ जाती है। राधा सुधानिधि के वंगीय संस्करण में भी श्री चैतन्य-वंदना के श्लोक लगे हुये हैं किंतु वे सब आधुनिक हैं और राधा सुधानिधि की प्राचीन प्रतियों में नहीं मिलते। वृन्दावन शतकों के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। हम देख चुके हैं कि एक शतक पर श्री भगवत् मुदित की टीका मिलती है। यह सं० १७०७ में पूर्ण हुई है। इसमें श्री चैतन्य स्मरण के चार श्लोक मिलते हें। राधावल्लभीय संप्रदाय के श्री चन्द्रलाल गोस्वामी ने पाँच शतकों का व्रजभाषा पद्य में अनुवाद किया है। इनमें से तीन शतकों में श्री चैतन्य स्मरण के श्लोक लग रहे हैं। इस टीका में रचना-काल नहीं दिया है किंतु यह विक्रम को उन्नीसवीं शती के पूर्वार्ध में रची गई है, यह निश्चित है। ऐसी स्थिति में दो विकल्प सामने आते हैं,

१, या तो वृन्दावन शतककार प्रबोधानंद और श्री चैतन्य चंद्रामृतकार प्रबोधानंद को एक मानकर गौड़ीय संप्रदाय के अनुयायियों ने शतककार के निकुञ्ज गमन के थोड़े दिन बाद ही उनके कुछ शतकों में श्री चैतन्य स्मरण के श्लोक लगा दिये हैं।

२. अथवा जिन प्रबोधानंद ने श्रीहित प्रभु की कृपा प्राप्त की थी वे पहिले श्री चैतन्य के भी कृपापात्र रह चुके थे। भगवत् मुदित जी कृत श्री प्रबोधानंद के चरित्र से ज्ञात होता है कि सरस्वती पाद काशी से वृन्दावन आये थे

और महापंडित होने के साथ पूरे अविनीत थे। प्रकाशानंद के संबंध में भी श्री कृष्णदास कविराज ने चैतन्य चरितामृत में यही बात लिखी है। श्री चैतन्य की कृपा से ही प्रकाशानंद भक्ति-रस की ओर उन्मुख हुये थे और उन्हीं की प्रेरणा से वे वृन्दावन आये थे। वृन्दावन में वे एक अन्य महान् विभूति (श्री हित प्रभु) की ओर आकर्षित हो गये और उनके द्वारा प्रवर्तित रस रीति को ग्रहण करके भजन और काव्य-रचना करने लगे। श्री चैतन्य ने उनको राधाकृष्णोपासना की ओर खींचा था, अतः श्री प्रबोधानंद द्वारा उनकी वंदना करना स्वाभाविक है। किंतु, जिन्होंने उनको वृन्दावन संबंधी नवीन दृष्टि प्रदान की थी उन श्रीहित हरिवंश की वंदनाएँ भी उनके ग्रन्थों में अवश्य रही होंगी।

अतः यह तो निर्विवाद है कि श्री प्रबोधानंद के ग्रन्थों में व्यापक परिवर्तन किये गये हैं। श्री सुशीलकुमार दे ने भी लिखा है कि संस्कृत ग्रन्थों की अनेक रिपोर्टों और कैटलौगों में श्री प्रबोधानंद के वृन्दावन शतकों का उल्लेख हुआ है किंतु इन शतकों के जितने भाग अभी तक प्रकाशित हुए हैं उनमें भिन्न श्लोक दिखलाई देते हैं[1]।

---

1. "...... But the parts of the latter work, which have so far been printed, do not contain this Series of verses.

Early history of the Vaisnava Faith & movement in Bengal. Pp. 98–99 Foot note.

प्रबोधानंद जी ने श्री हिताचार्य की वंदना कहीं की न हो, सो भी बात नहीं है। उनका एक श्री हरिवंशाष्टक प्राप्त है जिस पर अठारहवीं शती की एक संस्कृत टीका उपलब्ध है। इस अष्टक से सरस्वतीपाद की श्रीहित प्रभु के प्रति अगाध श्रद्धा और उपकार्य बुद्धि प्रगट होती है। शतकों में लगे हुये श्री चैतन्य-स्मरणों में से कई में यह कहा गया है कि कर्ता को वृन्दावन तत्व की प्राप्ति श्री चैतन्य से हुई है[1]। किंतु हम देख चुके हैं कि कवि कर्णपूर कृत, 'आनंद वृन्दावन चम्पू' में वृन्दावन संबंधी भिन्न दृष्टिकोण ग्रहण हुआ है और यही स्थिति श्री सनातन गोस्वामी रचित बृहद् भागवतामृत तथा अन्य प्रारंभिक गौड़ीय ग्रन्थों की है।

श्री प्रबोधानंद की रचनाओं के पाठ के संबंध में अभी बहुत अनुसंधान अपेक्षित है और तभी उपर्युक्त दो विकल्पों में से कोई एक स्थिर हो सकेगा।

प्रबोधानंद जी का दूसरा ग्रन्थ संगीत–माधवम् है। गीत-गोविंद की भाँति यह गीति-काव्य है। इस में राधा-सुधानिधि के दो श्लोक थोड़े से परिवर्तन के साथ उद्धृत मिलते हैं[2]। कुछ

---

१ देखिये, २–६५ और १६–२, ३ वृ० श०

२ अहो मुखरनूपुर प्रकर किङ्किणी डिंडिमः,
स्तनादि वरताड़नैर्नखरदंत घातैर्युतः।
सुदुर्द्धरमदान्धयो र्नवनिकुञ्ज पुञ्जाजिरे,
तदद्भुत किशोरयोः सुरत संगरोजृम्भते ॥ (सं० मा० २–६)

श्लोकों में राधा सुधानिधि की पंक्तियाँ रखी मिलती हैं[1]। राधा सुधानिधि की ही भाँति इस ग्रन्थ में श्यामसुन्दर से उनकी प्रिया

अनंग जय मङ्गलध्वनित किंकिणी डिंडिम.,
स्तनादि वर ताड़नैर्नखरदंत घातैर्युतः ।
अहो चतुर नागरी नव किशोरयोर्मंजुले,
निकुंज निलयाजिरे रतिरणोत्सवो जृम्भते ॥ (सु० नि० २२४)

गता दूरे गावो दिनमपि तुरीयांशमभजद्,
बयंक्षुत्क्षामाः स्मस्तव च जननी वर्त्म नयना ।
अकस्मात्तूष्णीके सजल नयने दीन वदने,
त्वयि त्यक्त्वा खेलां नहि-नहि वयं प्राणिणिषव ॥
(सं० मा० ४-८)

गता दूरे गावो दिनमपि तुरीयांशमभजद्,
वयं दातुंक्षांतास्तव च जननी वर्त्मनयना ।
अकस्मात्तूष्णीके सजल नयने दीन वदने,
लुठत्यस्यां भूमौ त्वयि न हि वयं प्राणिणिषवः ॥ (सु.नि. २२८)

१ अथ श्री गोविन्दे विकसदरविन्देक्षण लसत्,
कृपादृष्ट्याः पूर्णं प्रणयरस-वृष्ट्यास्नपपति ।
स्थिता नित्यं पार्श्वे विविध परिचर्यैक चतुरा,
न केषां चिद्दृश्यं रसिक मिथुनं साश्रित वती ॥
(सं० मा० ३-१३)

दुकूलं बिभ्राणामथ कुच तटे कंचुक पटं,
प्रसादं स्वामिन्याः स्व करतल दत्तं प्रणयतः ।
स्थितां नित्यं पार्श्वे विविध परिचर्यैक चतुरां,
किशोरीमात्मानं किमिहं सुकुमारीं नु कलये ॥ (रा० नि० ५२)

के चरण प्रदान करने को प्रार्थना की गई है।[1] श्री प्रबोधानंद ने इस ग्रंथ में स्वयं को 'रसिक सरस्वती' लिखा है, और अपने गीतों को उन रसिकों के लिये अवश्य गेय बतलाया है, जिनके हृदय में 'वृन्दावन रस' के आस्वाद की लालसा है[2]। नित्य विहार के उपासकों में 'रसिक' शब्द आरम्भ से ही बहुत प्रचलित है और अत्यन्त गौरवयुक्त माना जाता है। हित प्रभु ने भी एक पद में अपने नाम के साथ रसिक शब्द लगाया है, 'जै श्री हितहरिवंश रसिक सचु पावत देखत मधुकर केली'। नाभाजी ने अपने छप्पय में स्वामी हरिदासजी की 'छाप' ही 'रसिक' बतलाई है, 'रसिक छाप हरिदास की'। ग्रन्थ के अन्त में सरस्वती पाद ने अपने गान को 'हितसार' बतलाया है, 'इति हितसार सरस्वती गीतं, जनयतु कञ्चन भाव मधीतम्।'

प्रबोधानंद की तीसरी रचना निकुंज विलासस्तव है। बत्तीस श्लोकों के इस स्तोत्र में श्यामाश्याम की निकुञ्ज-लीला का वर्णन राधावल्लभीय परिपाटी से किया गया है। गौड़ीय साहित्य में यह स्तोत्र निकुंजरहस्य-स्तव के नाम से प्रसिद्ध है और श्री रूप गोस्वामी रचित माना जाता है। श्री जीव

---

१ माधव रसमय परमानंद।
निज दायिता पददास्य रसे मामभिषेचय सुखकंद ॥(सं.मा.३–११)
आनंदमूर्ते ! निज वल्लभायाः,
पादारविन्दे कुरु किंकरीं माम्। (सं० मा० ३–१२)

२ रसिक सरस्वति गीतमहाद्भुत् राधारूप रहस्यं,
वृन्दावनरस लालस मनसा मिदमुपगेयमवश्यम्। (सं०मा० २–११)

गोस्वामी ने श्री सनातन और रूप गोस्वामी के ग्रंथों की सूची दी है उसमें श्री रूप गोस्वामी के तेरह ग्रन्थ गिनाये गये हैं। भक्ति रत्नाकर में श्री रूप गोस्वामी के १७ ग्रन्थों के नाम दिये हुये हैं। इन दोनों सूचियों में निकुंज रहस्य-स्तव का नाम नहीं है। श्री रूप गोस्वामी के ६४ स्तोत्रों का संकलन श्री जीव गोस्वामी ने 'स्तवमाला' नाम से किया है किंतु इस में भी निकुंज रहस्य स्तव नामक कोई स्तोत्र नहीं है। निकुंज रहस्य स्तव और निकुंज विलास स्तव का पाठ बिलकुल एक है। लेखक ने राधावल्लभीय गोस्वामी व्रजवल्लभलाल जी के यहाँ निकुंज विलास स्तव की एक हस्तलिखित प्रति देखी है जिसमें उसको श्री प्रबोधानंद कृत बतलाया गया है।

श्री प्रबोधानंद कृत श्री हरिवंशाष्टक का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। इसमें हिताचार्य को वंशी का अवतार[1] और सखी का स्वरूप बतलाया गया है।

श्रीकृष्णचन्द्र गोस्वामीः—यह हित महाप्रभु के द्वितीय पुत्र थे और इनका जन्म सं० १५८६ में हुआ था। यह संस्कृत के बड़े प्रौढ़ विद्वान और छंद शास्त्र के पूर्ण मर्मज्ञ थे। इनकी अनेक संस्कृत-रचनाएँ प्राप्त हैं किंतु उनमें से केवल

---

१ त्वमसिहि हरिवंश श्यामचन्द्रस्यवंशः,
परम रसद नादैर्मोहिताशेष विश्वः।
अनुपम गुण रत्नैर्निर्मितोसि द्विजेन्द्र,
मम हृदि तव गाथा चित्र रेखेव लग्ना॥

'उपराधा-सुधानिधि' ही अभी तक प्रकाशित हुई है। नवीन भावों की उद्‌भावना में गोस्वामी जी अत्यन्त कुशल हैं। इनकी रचनाओं से गम्भीर पाण्डित्य और सूक्ष्म रसज्ञता प्रकट होती हैं।

१. कर्णानंद गोस्वामी जी की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इस पर उनकी स्वयं की संस्कृत टीका और श्री रसिकलाल गोस्वामी तथा चन्द्रलाल गोस्वामी की व्रजभाषा टीकायें प्राप्त हैं। यह ग्रन्थ शकाब्द १५०० (सं० १६३५) की कृष्णाष्टमी को पूर्ण हुआ है[1]। इस ग्रन्थ की प्रसन्न गम्भीर कथन शैली और कोमल पदावली दर्शनीय है। यह मुक्तक काव्य है। इस में श्यामाश्याम के प्रेम-रूप के वर्णन के साथ इष्ट-निष्ठा का बड़ा सुन्दर कथन हुआ है[2]। जिस राधा-पद्धति की स्थापना राधा सुधानिधि में हुई है, उसको इस ग्रंथ में पल्लवित किया गया है। श्याम श्यामा के एक से एक सुन्दर चित्र इस

---

१ कृष्णाष्टम्यां शकाब्दे गगन-गगन-बाणेन्दु संख्ये व्यतीते।

२ धनाभिमानस्तु धन प्रियाणां रूपभिमानः प्रमदोत्तमानां।
विद्याभिमानस्तु यथाद्विजानां तथैव मे कृष्ण कृपाभिमानः॥
क. नं. ४०

सर्वाम्नाय शिखा विबोध विभव व्यावृत्त तर्क भ्रमे,
ज्ञातं त्वं पद तत्पदार्थ मनने केषांचिन्दन्तर्मनः।
ब्रह्मस्फूर्तिमुपैतु, नस्तु रविजा रोधस्फुरद्वांजुल—
प्रासादे निवसंश्चकास्तु हृदये श्रीराधिका वल्लभः॥

ग्रन्थ में भरे पड़े हैं[१]। ग्रन्थ के उत्तरार्ध का विस्तार विभिन्न छंदों के उदाहरण देकर हुआ है। एक अक्षर वाले छंद का उदाहरण दिया है, 'वंदे, राधां', दो अक्षर वाले स्त्री-छंद का उदाहरण है, 'कृष्णोभूयात्, बह्वी तृष्णा', तीन अक्षर वाला नारी छंद, 'राधायाः प्राणेशं, ध्यायमो निर्बाधम्'। चार अक्षर वाला मृगी छंद, 'सादरं वल्लभं, राधिकाया भजे'। चार अक्षर वाले छंदों की अन्य दो जातियाँ कन्या और तरणिजा सोदाहरण दी हुई हैं। पाँच अक्षर वाले छंद की दो जातियाँ दी हैं पंक्ति और प्रिया। छः अक्षर वाले छंद की शशिवदना और सोमराजी। सात अक्षर वाले छंद की मधुमती, कुमार ललिता और मदलेखा। आठ अक्षर वाले छंद की चित्रपदा, माणावक और विद्युन्माला; नौ अक्षर वाले छंद की भुजंग शिशुसृता, समानिका, प्रमाणिका, मणिमध्या और भुजंग संगता; दस अक्षर वाले छंद की रुक्मवती, मत्ता,[२] त्वरित गति

---

१ पुरट पटल कान्तिर्माधुरीणांधुरीणा,
प्रणय रस निमग्ना सर्व चातुर्य सीमा।
व्रतति वितति गेहे प्रेयसा श्लिष्ट मूर्तिः,
प्रविशतु हृदि राधा बाधिताशेष वृत्तिः॥ क. नं. ५०
श्यामांभोरुह कोषगर्भपुवषं किंजल्क गौरांवरं,
नील ग्रीव शिखंड मंडितकचं गंडस्फुरत्कुंडलम्।
किञ्चिद्वक्रिम शोभि हारलतिक पर्यायलोलांगुलिम्,
तिर्यक् कंठममंदवेणु निरतंध्यायामि राधाधवम्॥ क. नं. ५४
२ राधाकृष्ण प्रणय पराणां तद् गाथाभिः सफलित वाचाम्।
रोमोत्थाने विषम तनूनां पादाम्भोजे भवतु रतिर्मे॥

और मनोरमा; ग्यारह अक्षर के छंद की इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, सुमुखी, शालिनी, वातोर्मि, भ्रमर विलसिता, अनुकूला, रथोद्धता, स्वागता, दोधक, मोटनक और श्येनी; बारह अक्षर वाले छन्द की चन्द्रवर्त्म,[1] वंशस्थ, इन्द्रवंशा, जलोद्धत, भुजंगप्रयात, तोटक, स्रग्विणी, वैश्वदेवी, प्रमिताक्षरा, द्रुतविलम्बित, मंदाकिनी, कुसुम विचित्रा, तामरस,[2] मालती, मणिमाला और जलधरमाला, तेरह अक्षर के छन्द की प्रहर्षिणी, रुचिरा, मत्तमयूर, चंडी, मंजुभाषिणी, चन्द्रिका, कलहंस, प्रबोधिता और मृगेन्द्रमुख; चौदह अक्षर के छन्द की असंबाधा, वसंततिलका, अपराजिता, प्रहरण, कलिका, वासंती, लोला और नांदीमुख; पन्द्रह अक्षर वाले छन्द की शशिकला, स्रक्, मणिगुणनिकर, मालिनी, लीला खेल, विपिनतिलकं, तूणकं, चन्द्रलेखा और चित्रा; सोलह अक्षर के छन्द की चित्रं, ऋषभगजविलसितं, चकिता, पंचचामरम्, मदनललिता, वाणिनी, प्रवरललिता, अचलधृति[3] और गरुड़रुतम्; सत्रह अक्षर वाले छन्द की शिखरिणी, पृथ्वी, वंशपत्रपतितं, मन्दा-

---

१ बर्हं चन्द्र चय चुंबितचिकुरा तार हारवलितोरसि मधुरा ।
राधिकांस निहितैक भुजलता कृष्णमूर्तिरुदयान्ममहृदि किं ।।

२ व्रजयुवती जनलोचन पेयं कथमपि नो मुनिभिर्हृदिनेयं ।
ममखलु निश्चलताधिषणेयं यदसित गौरमहोननुगेयम् ।।

३ जयजय तरणि दुहितृ तटरुचिकर जयजय पशुप युवति धृत रसभर ।
जयजय तनु रुचिलघयितजलधर ननुमदगणित विगुणमपि परिहर ।।

क्रान्ता, हरिणी, नर्द्दक, कोकिलकं, हारिणी और भाराक्रान्ता;[१] अठारह अक्षर वाले छन्द की कुसुमितलता वेल्लिता, नंदन, नाराच, चित्रलेखा और शार्दूल ललिता; उन्नीस अक्षर वाले छन्द की मेघस्फूर्जिता, लोला, शार्दूलविक्रीडिता, सुरसा और फुल्लादाम, बीस अक्षर वाले छन्द की सुवदना, गीतिका, चित्र-वृत्त और शोभा; इक्कीस अक्षर वाले छन्द की स्रग्धरा, सरसी अथवा सिन्धुरमिति; बाईस अक्षर वाले छंद की हंसी और मदिरा; तेईस अक्षर वाले छंद की अद्रितनया और मत्ता, चौबीस अक्षर वाले छंद की तन्वी; पच्चीस अक्षर वाले छंद की क्रौंचपदा; छब्बीस अक्षर वाले छंद की भुजंग विजृंभित जातियों के लक्षण और उदाहरण इस ग्रंथ में दिये गये हैं। सत्ताईस अक्षर या उससे अधिक अक्षरों वाले 'दंडक' की चार जातियों, चंडवृष्टि प्रताप, अर्णव, व्याल और जीमूत, के उदाहरण इस ग्रन्थ में मिलते हैं।

लेखक ने कर्णानंद की एक प्रति देखी है जो दक्षिण के गोलकुंडा नगर में लिखी गई है[२]।

---

१ चित्रं ज्योतिः, सुमधुरमुखं, स्फुरच्छिखि पिच्छकं,
राधासक्तं, नवघननिभं, वने परितो व्रजत्।
वंशी नादामृत रसचित्तं, सदा मम मानसे,
लोकातीतं स्फुरतु सुलभं गुरोरनुकम्पया ॥

२ कर्णानंदाभिधो ग्रंथो व्यलिखद्वाडवोत्तमः।
श्रीवत्सराज सन्मान्यो गोलकुंडा पुरे वरे ॥
यह प्रति वृन्दावन में श्री ब्रजवल्लभलाल गोस्वामी के पास है।

२. उपसुधानिधि—सत्तर श्लोकों के इस छोटे से स्तोत्र ग्रन्थ में श्रीराधा के स्वरूप का सुन्दर वर्णन किया गया है। यह प्रकाशित हो चुका है। इसकी भाषा प्रसादगुण युक्त और कथन-शैली सुलझी हुई है।[1] इस पर श्री चन्द्रलाल गोस्वामी की ब्रजभाषा पद्य टीका प्राप्त है।

३. राधानुनय-विनोद काव्य—उपसुधानिधि जितना सरल और भक्तिभावपूर्ण है उतना ही यह ग्रन्थ क्लिष्ट और काव्यकलापूर्ण है। मालूम होता है कि इसकी रचना ही काव्य-कला के प्रदर्शन के हेतु हुई है। इसके अनेक श्लोकों में श्रीहर्ष के नैषध-चरित जैसी आकर्षक और चातुर्यपूर्ण शब्दयोजना दिखलाई देती है।[2]

---

१ शृंगाररस माधुर्य सार सर्वस्व विग्रहे ।
नमोनमोजगद्वंद्ये वृन्दावन महेश्वरी ॥
यस्याः पदरसानंदा कोट्यंशेनापि नो समाः ।
सर्वे प्रेमानंदरसाः सैव त्वं स्वामिनी मम ॥
सर्वेधर्मा ममाधर्मा सर्वसाधुमसाधु मे ।
न यत्र लभ्यते राधे त्वत्पादाम्बुज माधुरी ॥

२ मृगदृशां सुरत श्रम जन्मना परिसरस्तनयोः कलितोम्बुना ।
कुसुम संतति संतत संगिना न मरुतामरुतामगमन्नसः ॥
(सर्ग ४-६)

हृदयमस्फुटदंग निघर्षणान्मधुलिहामधि केतकि केतकी ।
यदवलोकनतोपि तु रागिणां तदमितादमिता रसपद्धतिः ॥
(सर्ग ४-८)

इस काव्य में ५ सर्ग हैं। आरंभ में वृन्दावन का सुन्दर वर्णन मिलता है।[1] इसके बाद श्रीराधा का मान-वर्णन, दूती का वृषभानुपुर गमन, वृषभानुपुर का विस्तृत वर्णन, मान मोचन के निमित्त सखी की अनुनय-विनय और अन्त में श्रीकृष्ण के रूप का वर्णन है। पंचम सर्ग में एक ही अक्षर से निर्मित पाँच श्लोक हैं।[2] इस ग्रन्थ पर अनन्त भट्ट की सुन्दर टीका प्राप्त है।

४. आशाशत स्तव—उपसुधानिधि की भाँति यह भी स्तोत्र काव्य है, किंतु उससे अधिक प्रौढ़ और सरस है। इसमें श्रीराधा के रूप-माधुर्य का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है[3]।

श्री वृन्दावनदास गोस्वामी :— यह श्री कृष्णचन्द्र गोस्वामी के पुत्र थे और अपने पिता के समान

---

१ भूतं यत्र प्रगट परमानंद संपन्न रूपं,
मायाभंग भ्रमित मतिभिर्नैव बुद्धं यथावत्।
वृन्दारण्यं परमकुतकं स्थावरं जंगमं च,
तन्मारीच प्रकर रुचिरं प्रेम संपत्ततोपि ॥ (सर्ग १-३)

२ यांयां ययौ य या यं यं याये याया ययायियः।
येया येया यया यां यां याय्यि यायि ययौ ययिः॥
(सर्ग ५-५)

३ अमित कनक चन्द्र ज्योति रास्यं सुहास्यं,
मधुर-मधुर लास्यं वश्य कृष्णालि रस्यं।
व्रजयुवति नमस्यं प्रेम बीथी रहस्यं,
भवतु परमुपास्यं धाम राधाभिधानः॥

ही कवि हृदय, विद्वान और अनुभवी महात्मा थे। इनका एक ही ग्रन्थ अध्वविनिर्णय प्राप्त होता है, जिसमें केवल ५१ श्लोक हैं। यह प्रकाशित हो चुका है। अध्वविनिर्णय में गोस्वामी जी ने अपने एक अन्य ग्रन्थ 'सेवा विवेक'[1] का उल्लेख किया है, किंतु वह अब नहीं मिलता। हित मालिका नामक एक अन्य ग्रंथ भी इनका रचा बताया जाता है, किन्तु वह जिस रूप में प्राप्त है उसको प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। वृन्दावन के एक संग्रहालय में लेखक ने दो अन्य ग्रन्थ—'महागूढ़ ध्यानम्' और 'रहस्यात्मक ध्यानम्' देखे हैं, जो श्री वृन्दावनदास गोस्वामी रचित ही अपने को बतलाते हैं, किन्तु इनकी भाषा और रचना-शैली अत्यन्त शिथिल और दोषयुक्त है अतः इनकी प्रामाणिकता भी संदिग्ध है।

अध्वविनिर्णय की रचना-शैली बड़ी सुन्दर और भाषा प्रसाद गुणयुक्त है। इस छोटे से ग्रंथ में राधावल्लभीय उपासना मार्ग का सम्पूर्ण दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की गई है। उपासना क्रम में 'भावना' को सर्वोपरि स्थान दिया गया है और राधा-वल्लभीय प्रकार की भावना का बड़ा मनोरम वर्णन इस ग्रंथ में किया गया है। विषयासक्त होने के कारण यदि मन भावना

---

१ ग्रन्थे सेवा विवेकाख्ये विशिष्य लिखितो मया।
परिचर्य्या प्रकारस्तु गुरुचर्य्या समानुगः ॥ (अ० वि० २६)

में न लगे तो प्रगट सेवा की व्यवस्था दी गई है। धनोपार्जन की कठिनता के कारण या चित्त की कलुषता के कारण; अपनी असमर्थता के कारण या देश-काल की विषमता के कारण यदि प्रगट सेवा न बन सके तो नाम—स्मरण की शरण लेने का आदेश दिया गया है। विषयावेश के कारण अशान्त बने हुये मन को शान्ति प्रदान करने के लिये सर्वश्रेष्ठ साधन श्रीमद्भागवत् बतलाया है। गोस्वामीजी ने सब अवतारों के चरित्ररूपी शाखाओं वाले उस श्रीमद्भागवत कल्पवृक्ष की वंदना की है जिसका फल नंदनदन हैं ।[1] ग्रन्थकर्ता की राय में श्रीमद्भागवत को राधावल्लभीय भावना के विरुद्ध नहीं समझना चाहिए। जिस प्रकार कभी दाहिने और कभी बाँये मार्ग से चलने वाली गंगा समुद्र की ओर ही जाती है, उसी प्रकार श्रीमद्भागवत की कथा भी केवल श्रीकृष्ण-गामिनी है।[2] सब अवतारों की लीलाओं को सुनकर और उनके तात्पर्य को समझ कर अवतारी (श्रीराधावल्लभ लाल) की निकुंज-रसमयी लीलाओं का ही ध्यान करना चाहिये।[3] किंतु पूर्व संस्कारों के बल से अथवा महानुभावों

---

१ सर्वावतारचरितं बहुशाख सुरद्रुमम् ।
श्रीमद्भागवतं वन्दे यत्फलं नंदनंदनः ।। (अ० वि० ३८)

२ सव्यापसव्यतो यान्तीत्यपि गंगाब्धि यथा ।
श्रीमद्भागवतीयापि कथैवं कृष्णगामिनी ।। (अ० वि० ४३)

३ श्रुत्वा सर्वावतारेहां तस्यास्तातपर्य मुद्धरन् ।
नित्यां स्वारसिकीमेव ध्यायेत्तामवतारिणः ।। (अ० वि० ४५)

के अनुग्रह से जिनको अपने इष्ट के चरित्रों से अतिरिक्त अन्य कुछ अच्छा नहीं लगता, उनको ग्रन्थकार ने नमस्कार किया है'[1] ।

अध्वविनिर्णय पर प्रियादासजी (पटना वालों) की विस्तृत संस्कृत टीका प्राप्त है ।

श्री व्रजलाल गोस्वामी:—इनका जन्म सं० १७१५ माघ कृष्णा द्वितीया को हुआ था । यह संस्कृत और व्रजभाषा दोनों में अच्छी रचना करते थे । संस्कृत में इनकी तीन रचनाएँ मिलती हैं—सेवा विचार, प्रेम चन्द्रोदय नाटक और मनः प्रबोध ।

(१)'सेवा विचार किंवा सेवा शतक' सेवा-संबंधी ग्रन्थ है। इसकी रचना सं० १७५५ में हुई है । इसमें उपासना संबंधी अनेक बातों का समावेश हुआ है । उक्त ग्रन्थ में से अनेक उद्धरण पीछे दिये जा चुके हैं । इस पर स्वयं ग्रंथकर्ता की और श्री रंगलाल गोस्वामी की संस्कृत टीकाएँ प्राप्त हैं ।

(२) 'प्रेम चन्द्रोदय नाटक' की रचना सं० १७४५ में हुई है । इसमें राजा अज्ञान-प्रपंच और राजा प्रेमचन्द्र की सेनाओं के बीच के युद्ध का वर्णन है और अन्त में राजा प्रेमचन्द्र की विजय दिखलाई गई है । अज्ञान-प्रपंच का 'खल' मंत्री है, कलि परम बन्धु है, अधर्म सेनापति है, काम, क्रोध प्रभृति छः प्रकार की सेनायें हैं; स्तेय, वध, अनृत, राग, द्वेष आदि कुमार प्रधान

---

१ यस्मै संस्कारवशतो यद्वा महदनुग्रहात् ।
न रोचते निजेष्टस्य वृत्तादन्यन्नमामि तम् ॥ (अ० वि० ४६)

हैं और म्लेच्छ देश राजधानी है । प्रेमचन्द्र राजा का मंत्री सत्संग है, विज्ञान बन्धु हैं, धर्म सेनापति है; श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन नामक नौ कुमार प्रधान योद्धा हैं । वस्तु-विचार, सन्तोष, ज्ञान और विनय नामक शौर्यशाली मंत्री पुत्र हैं एवं क्षमा और मैत्री नामक मन्त्री की दो स्वरूपवती कन्यायें हैं । शम, दम, ध्यान, नियम, यम, आसन और प्रत्याहार योद्धा हैं; दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय, संयमादि सेनाचर हैं; ब्राह्मण और वैष्णवगण सहायक हैं; मथुरा, बृन्दाबन, काशी और प्रयाग राजधानी हैं और उत्कल प्रभृति देश विश्राम स्थान है ।

नाटक की वस्तु का विकास द्वितीय अंक से होता है । सेनानायक लोभ अयोध्या नगरी पर आक्रमण करके वहाँ के सेनापति सन्तोष को मार भगाता है । अयोध्या निवासी अत्यंत त्रस्त होकर दक्षिणाचार्य नामक ब्राह्मण को राजा प्रेमचन्द्र के पास भेजते हैं । मार्ग में दक्षिणाचार्य की भेंट विष्णु-भक्ति द्वारा प्रेषित दूत सत्याचार्य के साथ होती है। सत्याचार्य उसको सान्त्वना देते हुए राजा प्रेमचन्द्र के पास ले जाते हैं । वहाँ दक्षिणाचार्य गंगातीरवासी और रेवातीरवासी अनेक व्यक्तियों को अत्यन्त दीन-हीन स्थिति में राजा के पास आता देखता है । राजा प्रेमचन्द्र इस आकस्मिक उत्पात का वृत्तान्त सुनकर अपने मन्त्री सत्संग के साथ मन्त्रणा करते हैं । मंत्री उनको इस महा संकट काल में राधा मधुसूदन की आराधना करने का परामर्श देता है ।

इन पंक्तियों के लेखक ने इस नाटक की जो प्रति देखी है वह अपूर्ण है और उसमें केवल दो अंक[1] हैं। कुछ वर्षों पूर्व उसने निकुंज-प्राप्त श्री श्यामलाल गोस्वामी के पास इसकी पूर्ण प्रति देखी थी किन्तु अब वह प्राप्त नहीं हो रही है।

(३) श्री ब्रजलाल गोस्वामी की तीसरी रचना मनः प्रबोध है। इसमें केवल ६७ श्लोक हैं। मंगलाचरण के श्लोकों को छोड़कर शेष श्लोकों में ध्रुवदास जी के उपदेशात्मक दोहों का संस्कृत भाषान्तर उपस्थित किया गया है। ध्रुवदास जी का दोहा है,

कबहूँ तौ थोरौ भजन कबहूँ होत विसाल।
मन कौ धीरज छुटै नहीं गहै न दूजी चाल॥

इसका संस्कृत रूपान्तर है,

कदापि भजनं किंचित्कदापि चभवेन्महत्।
न त्यजन्मनसो धैर्यं न चान्य च्चरितं चरेत्॥

श्री हरिलाल व्यासः—यह श्री हित रूपलाल गोस्वामी के पुत्र श्री किशोरीलाल गोस्वामी के शिष्य थे। इनकी संस्कृत में कोई स्वतन्त्र रचना तो नहीं मिलती किन्तु राधा सुधानिधि की प्रसिद्ध 'रसकुल्या' टीका इनही की कृति है। इस टीका में इनकी असाधारण प्रतिभा और रसज्ञता का परिचय मिलता है। टीका के आदि में १५७ श्लोकों की एक प्रस्तावना लग

---

१. यह प्रति वृन्दावन में श्री ब्रजवल्लभलाल गोस्वामी के पास है।

रही है जिसमें राधा सुधानिधि के कतिपय श्लोकों पर की जाने वाली शंकाओं का निराकरण किया गया है। रसकुल्या टीका सं० १८५३ में पूर्ण हुई है। इस बृहद् टीका के अतिरिक्त राधा सुधानिधि पर इनकी एक संक्षिप्त टीका 'लघुव्याख्या' नाम से प्राप्त है। श्रीकृष्णचन्द्र गोस्वामी कृत दोनों अष्टपदियों पर भी इनकी विद्वत्ता पूर्ण विवृति मिलती है।

श्री शंकरदत्तजी (शंकर कवि):—यह श्रीचतुर शिरोमणि लाल गोस्वामी के शिष्य थे। लेखक ने इनके तीन ग्रन्थ देखे हैं—श्री हरिवंश वंश प्रशस्ति, अलंकार शंकर और सप्त श्लोकी व्याख्या।

श्री हरिवंश वंश प्रशस्ति में कवि ने नारायण से लेकर अपने गुरु तक का वंश-वर्णन बड़े विस्तार पूर्वक और कवित्व-पूर्ण ढंग से किया है। पीछे के सर्गों में हित प्रभु के प्रधान शिष्यों का चरित्र लिखा है और अन्तिम—अठारहवें-सर्ग में अपने वंश का परिचय दिया है। यह ग्रन्थ सं० १८५४ में पूर्ण हुआ है।[1]

अलंकार शंकर में छन्दों और अलंकारों का विशद वर्णन है। इसमें छः रत्न हैं और इसकी रचना सं० १८६७ में हुई है।

---

१. वेद बाण वसुक्ष्माभिर्संमिते वैक्रमाब्दके।
फाल्गुणे द्वादशी शुक्ले ग्रन्थ पूर्ति रभूविच्छुभा ॥

श्री प्रियादास (रीवाँ वाले)—यह प्रसिद्ध वाणीकार गोस्वामी चन्द्रलाल जी के शिष्य थे[1] और रीवाँ के रहनेवाले थे। इन्होंने अपने ग्रन्थों में, प्रधानतया श्रीमद्भागवत के आधार पर सामान्य भक्ति–सिद्धान्त का बड़ा विशद, मौलिक और विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है। इनका एक ग्रंथ 'सुसिद्धान्तोत्तमः' श्री सरयूप्रसाद मिश्र ने सं० १९५७ में प्रयाग से प्रकाशित किया था, किंतु अब वह अलभ्य है। इस ग्रन्थ के 'परमानंद प्राप्ति कारण वर्णनम्' नामक पंचम 'विश्राम' की ३४वीं कारिका में श्री प्रियादास ने बतलाया है कि उन्होंने श्रीद्भागवत के आधार पर चार ग्रन्थों की रचना की है[2]। प्रकाशक ने इस श्लोक पर एक पाद टिप्पणी दी है कि प्रियादास जी ने वेदान्तसार की रचना सं० १८६४ में और श्रुति तात्पर्यामृत की रचना सं० १८७० में की थी। लेखक ने यह दोनों ग्रंथ नहीं देखे किंतु उसके पास उपर्युक्त श्लोक में उल्लिखित तीसरे ग्रंथ भक्ति-प्रभा की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति है।

भक्ति-प्रभा ग्रंथ सं० १८७१ की आषाढ़ बदी ८ शनिवार को पूर्ण हुआ है। इसमें भी भक्ति का विशद व्याख्यान हुआ है। इसमें ४ मयूखें हैं। प्रथम मयूख में भक्ति का परत्व और नित्यत्व निरूपित हुआ है। द्वितीय मयूख में परा और

---

१ चन्द्रलाल गुरुं वंदे मनसोदैवतं परम्।
शब्दज्ञानविहीनैर्यः कारयेद् ग्रन्थमुत्तमम्॥ (सु० सि० १–१)

२ एतस्मादुत्तमाच्छास्त्राज्जातं ग्रन्थ चतुष्टयम्।
तत्व निश्चय वेदान्तसार भक्ति प्रभादिकम्॥ (सु० सि० ५–३४)

अपराभक्ति का वर्णन, तृतीय मयूख में भागवत धर्म का परिचय दिया गया है और चतुर्थ मयूख में परमानंद का वर्णन किया है।

सुसिद्धान्तोत्तम प्रियादास जी का चतुर्थ और सर्वाधिक प्रौढ़ ग्रन्थ है। यह पाँच 'विश्रामों' में विभक्त है। प्रथम विश्राम में विश्व-कारण का निर्णय किया गया है। द्वितीय विश्राम में द्विविधि भक्ति वर्णन है। तृतीय विश्राम में जीव के दासत्व का निरूपण है। चतुर्थ विश्राम में सुमत का निर्णय है और पंचम विश्राम में परमानन्द प्राप्ति के कारण का वर्णन किया है। सुसिद्धान्तोत्तम से मालुम होता है कि श्री प्रियादास का भक्ति-ग्रन्थों के साथ वेदान्तशास्त्र पर भी पूर्ण अधिकार था और उन्होंने भक्ति के पक्ष में अनेक मौलिक तर्क इस ग्रन्थ में उपस्थित किये हैं। महामना पं० मदनमोहन मालवीय के पिता श्रीब्रजनाथ चतुर्वेदी इस ग्रन्थ पर बहुत प्रीति रखते थे और मालवीय जी ने उन्हीं के पास से इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति इसके प्रकाशक श्रीसरयूप्रसाद मिश्र को उपलब्ध कराई थी[1]।

उपर्युक्त चारों ग्रन्थों पर ग्रन्थकार ने टीकायें की हैं और उनमें अपने गंभीर पांडित्य और विवेचन शक्ति का परिचय दिया है।

लेखक के पास उनके एक अन्य ग्रन्थ 'वैष्णव सिद्धान्त' की प्रतिलिपि है। इसमें ५३ कारिका हैं और भक्ति की सर्व-साधना-मूर्धन्यता सिद्ध की गई है।

---

१ देखिये सुसिद्धान्तोत्तम (प्रकाशित) पृष्ठ ५१६ की पाद टिप्पणी।

श्री रंगीलाल गोस्वामीः–उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में संप्रदाय के संस्कृत-साहित्य को जिन दो महानुभावों ने समृद्धता प्रदान की उनमें से एक हैं श्री रंगीलाल गोस्वामी और दूसरे श्री प्रियादास पटना वाले। श्री रंगीलाल गोस्वामी संस्कृत के अच्छे विद्वान और सुकवि होने के साथ उच्चकोटि के महात्मा थे। इनके जीवन का उत्तर भाग बड़ौदा में व्यतीत हुआ जहाँ इन्होंने राधावल्लभ जी का एक विशाल मन्दिर निर्माण कराया और वहीं सं० १९०९ में निकुंज-प्रवेश किया। इनके कुछ ही ग्रन्थ वृन्दावन में प्राप्त हैं, अधिकांश ग्रन्थ अहमदाबाद और महमदाबाद में इनके वंशधरों के पास हैं। वृन्दावन में प्राप्त ग्रन्थों का ही यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

द्विदल निर्णय:—सौ श्लोकों के इस छोटे से ग्रन्थ में गोस्वामी जी ने संप्रदाय के श्री राधा सम्बन्धी दृष्टिकोण को पौराणिक ढंग से स्पष्ट किया है। इस ग्रन्थ की रचना गुरु-शिष्य-संवाद के रूप में हुई है। शिष्य पूछता है कि अनेक श्रुति-स्मृतियों में ब्रह्म को निर्गुण, निराकार और अद्वितीय बतलाया गया है तो आप उसको कैसे सौन्दर्य-वात्सल्य आदि गुणों से विभूषित और युगल स्वरूप बतलाते हैं? गुरु उत्तर देते हैं कि ब्रह्म में केवल प्राकृत गुणों का निषेध किया गया है, दिव्य गुणों का नहीं। वह राधा और कृष्ण के युगल रूपों में नित्य प्रगट होते हुए भी उसी प्रकार एक हैं, जैसे आँखें दो

होते हुए भी एक होती हैं, जैसे जल और तरंग दो होते हुए भी एक हैं। शिष्य पूछता है कि फिर भी कृष्ण पुरुष हैं और स्त्री का आकार वाली राधा उनकी शक्ति हैं, इन दोनों का भेद कैसे बन सकता है ? गुरु ने उत्तर दिया कि यदि स्त्री के आकार मात्र से शक्ति की कल्पना करोगे तो लीला के लिये मोहनी रूप धारण करनें वाले श्री कृष्ण को भी शक्ति मानना होगा।[1]

दूसरी बात यह है कि श्री राधा की रमा, गौरी आदि शक्तियाँ बतलाई गई हैं और शक्ति की शक्ति मानना युक्ति युक्त नहीं है। अतः मुकुन्द से अभिन्न रूपिणी श्रीराधा शक्ति न होकर शक्तिमती हैं। शिष्य ने पूछा कि फिर अनेक वैष्णव श्री राधा को शक्ति रूप में और भक्त रूप में क्यों मानते हैं ? गुरु ने उत्तर दिया कि श्री राधा हरि विभिन्न भक्तों के विभिन्न भावों के अनुकूल लीला करते हैं। कहीं श्री राधा की शक्ति रूप में और कहीं भक्त रूप में लीला दिखलाई देती है किन्तु इनमें विरोध नहीं मानना चाहिये क्योंकि श्री राधा अचिन्त्य स्वरूपा हैं। भगवान मुकुन्द के गोवर्धन-पूजा करने पर भी जिस प्रकार उनकी ईश्वरता नष्ट नहीं होती, उसी प्रकार श्री राधा की लीलाओं को भी समझना चाहिये।[2]

---

१. स्त्र्याकार मात्राद्यदि शक्ति कल्पनां करोषि तस्यामिदमप्यसांप्रतम्।
लीलार्थं माविष्कृत दिव्य मोहिनी रूपस्य कृष्णस्य कथं नु शक्तिता॥

२. मुकुन्दस्य गोवर्धनाराधानादौ यथाभक्तता पीश्वरत्वं न हंति।
रसं प्रत्युतो जृम्भयत्यद्भुतं सा तथा राधिकाया अपीयंस्वलीला॥

युगल स्वरूप से संबंधित इस नये प्रकार के सिद्धांत को सुनकर शिष्य को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा कि अन्य वैष्णवों की परिषदों में मैंने सुना है कि कोटि कंदर्प लावण्य, आनंद मात्र सर्वाङ्ग श्री कृष्ण ही पुरुषोत्तम हैं। आरम्भ में वे अकेले ही थे। वे दर्पण में अपना मुख देखकर मुग्ध हो गये और उनके मुख से कामोद्दीपक वाष्प निकल गया। उस में तुलसी की गंध आई जिसको सूंघकर उनके हृदय में रमणेच्छा का उदय हुआ और जब उन्होंने अपने समान अन्य रूप का चिंतन कर लिया तभी वे पूर्ण मनोरथ हुये। इस प्रकार उस एक रूप (पुरुषोत्तम रूप) से ही दूसरा दल उत्पन्न हो गया। पुरुषोत्तम रूप स्वामी होने के कारण दूसरा दल स्वामिनी कहलाया।

गुरु ने कहा कि जो वैष्णव जैसा कहते हैं वह ठीक है किंतु इसमें कई अनुपम पत्तियाँ हैं। पहली बात तो यह है कि आरम्भ में यदि एकमात्र पुरुषोत्तम ही थे तो दर्पण कहाँ से आया और दूसरी बात यह है कि तुलसी के अनस्तित्व में यह निर्णय कैसे हुआ कि उनके मुख से निकलने वाली गंध तुलसी की थी! हम तो यह कहते हैं कि भगवान स्वभावत: द्विदलात्मक हैं, युगल रूप हैं। वे गौर वर्ण हैं, और अपनी प्रिया के मोहक कटाक्षों का चिंतन करते-करते श्याम बन गये हैं।

श्री राधा को स्वकीया-परकीया मानना भी कल्पना मात्र है।

अवेहि ते स्वरूपे द्वे यन्नित्यं शुद्ध चिन्मयं।
यत्स्थूलं सूक्ष्म देहादि व्यतिरिक्त मभौतिकम् ॥

व्रजानन्दामृतम्:—इसमें राधा-कृष्ण की व्रज-लीला का वर्णन है। ग्रन्थ के अंत में ग्रंथ कर्ता ने बतलाया है कि बंगाल देशीया उनकी धात्री परमेश्वरी ने उनको बाल्यकाल में जो कथायें सुनाई थीं, तथा अन्य महानुभावों के मुख से उन्होंने जो कुछ सुना था, उसी को उन्होंने इस ग्रन्थ में लिखा है[1]। इस ग्रन्थ की रचना सं० १९०७ में हुई है।

उत्सव बोध:—इसमें संप्रदाय में माने जाने वाले उत्सवों का निर्णय किया गया है। इसकी रचना सं० १९०५ में हुई है।

इनके अतिरिक्त गोस्वामी जी की राधा सुधानिधि की प्रेम-तरंगिणी टीका, सेवा विचार की टीका, आनंद चन्द्रोदय नाटक, मन: प्रबोध काव्य, भक्ति हंस, माहेश्वर पंचरात्र सार, विनय पंच विंशति और राधा-भक्ति लहरी नामक रचनायें प्राप्त हैं।

श्री प्रियादास शास्त्री:—यह गोस्वामी सनेहीलाल जी के शिष्य थे और पटना के रहने वाले थे। संस्कृत में इनकी

---

१ एवं बंगालदेशीया नाम्ना श्री परमेश्वरी।
मद्धात्री विपदुद्धर्त्री बाल्ये मां समशिक्षयत् ॥
तदेवाद्य मया बुद्धि स्मृत्वा-स्मृत्वा प्रहर्षितः।
तथा महानुभावा नां मुखादपि मुहुश्रुतम् ॥

छोटी-बड़ी लगभग बीस रचनायें लेखक ने देखी हैं, जिनमें तीन टीकायें हैं और शेष मौलिक ग्रंथ हैं। लगभग तीस वर्षों तक यह बराबर ग्रन्थ रचना करते रहे। सूत्र विमर्षिणी सं० १८९५ में और उत्सव निर्णय सं० १९२४ में रचा गया है। संप्रदाय के इतिहास, भक्ति-सिद्धांत और रस-रीति पर स्वतन्त्र रचनाएँ करने के साथ इन्होंने ईशावास्योपनिषद और ब्रह्म-सूत्र पर विद्वत्तापूर्ण भाष्यों की रचना की है जिनमें मंत्रों तथा सूत्रों के साधारण अर्थ लिखने के साथ उनके आंतर अथवा गुह्य अर्थ भी लिखे हैं। यह अर्थ नित्य बिहार परक हैं और आश्चर्य की बात यह है कि इनमें किसी प्रकार की खींच-तान नहीं की गई है।

यहाँ शास्त्रीजी के प्रधान ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

निज मत दर्पण:—इस छोटे से ग्रन्थ में पाँचो वेदान्त सिद्धांतों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन करने के बाद श्री हिताचार्य के मत का निरूपण किया गया है। इस मत में प्रेम-लक्षणा भक्ति साध्य और श्रवण–कीर्तनादिक उसके साधन बतलाये हैं। ज्ञान दशा में भी सेव्य-सेवक संबंध की स्थिति मानी है। शास्त्रीजी ने दो प्रकार का द्वैत माना है, वास्तविक और माया जनित। मायाकृत द्वैत में भय होता है वास्तविक में नहीं।

सुश्लोक मणिमाला:—इसकी रचना सं० १९१४ में हुई

है। यह रसिक अनन्यमाल का संस्कृत भाषान्तर है किन्तु चरित्रों का वर्णन कवित्व पूर्ण ढङ्ग से किया गया है।

हित कथामृत तरंगिणी:—इस ग्रन्थ में हितप्रभु का चरित्र वर्णित है। प्रथम तरंग में हित-अवतार का उपक्रम वर्णन, द्वितीय में वंश-वर्णन, तृतीय में नृसिंहाश्रम जी से वर-प्राप्ति का वर्णन, चतुर्थ में प्रादुर्भाव-वर्णन और पञ्चम में बाल-लीलाओं का वर्णन है। आरम्भ में वृन्दाबन[1] का और युगल स्वरूप[2] का चमत्कार पूर्ण वर्णन किया है।

महोत्सव निर्णयम्:—इसमें हित—पद्धति के अनुसार उत्सवों का निर्णय किया गया है। इसकी रचना सं० १९१३ में हुई है। इसमें हितप्रभु का जन्म सं० १५३० और श्री बनचन्द्र गोस्वामी का सं० १५५९ लिखा हुआ है।

---

१ समस्य वेदान्त नितान्त गूढ़माहात्म्य मानंदघनं वरेण्यम्।
ज्योतिः स्वरूपं मनसाप्यचिन्त्यं तद् ब्रह्म वृन्दावनमेव साक्षात्॥
वैकुण्ठ लोकादपि यद्गरिष्टं नारायण श्रीमुखगीत कीर्तिः।
विशुद्ध शृंगाररस प्रधानं निजानुकम्पाभर मात्र लभ्यम्॥
निकुंज देवी कुच कुम्भ युग्मं संलग्न कश्मीर सुरञ्जितेन।
हरि तरंगेण च रंजयंती रसात्मिका यत्र विभाति कृष्णा॥

२ सनातनौ नित्य नवीन रूपौ, निरस्ततृष्णौ सतत सतृष्णौ।
व्याप्तौ निकूंजैक विराजमानौ, निरस्तभेदौ युगलस्वरूपौ॥

ईशावास्योपनिषद्भाष्य:—आरम्भ में भाष्यकार ने बतलाया है कि वे इस उपनिषद् का काण्व शाखीय पाठ ग्रहण न करके माध्यंदनीय शाखा का पाठ स्वीकार करेंगे क्यों कि संप्रदाय के आचार्य शुक्ल यजुर्वेद की माध्यंदनीय शाखा को मानने वाले हैं। इस भाष्य में प्रत्येक मंत्र के दो अर्थ किये गये हैं आंतर और बाह्य। उदाहरण के लिये सांतवे मंत्र का आंतर अर्थ दिया जाता है,

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोह कः शोकः एकत्व मनुपश्यतः ॥७॥

पूर्वं श्रुत्या श्रीकृष्णस्य अनुकूल नायकत्वं वर्णितम्। इदानीं निकुंजे मनागपि तयोर्विरहजो मोहः शोकश्च न भवति इत्याहा यास्मिन् इत्याद्या, विजानतः श्रीकृष्णस्य, कथं भूतस्य, एकत्वं प्रियया सह अनुपश्यतः। यस्मिन् यदा निकुंजे सर्वाणि भूतानि आत्मा श्री राधिका एव अभूत, तत्र विरहजो मोहःकः, शोकश्चकः, कोपिनैवेति भावः।......... एतेन अन्यासां व्रज गोप्यादीनां कथंचित् विरहो भवतु नाम, श्री राधाकृष्ण योस्तु कदापि विरहो न अस्ति, इति सिद्धान्तः सूचितः। कदाचित् तादृश भानं वैचित्य मात्रं। यथोक्त श्रीमदाचार्य चरणैः, अङ्कस्थितेपि दयिते किमपि प्रलापं हा मोहनेति ॥

भावार्थ:—पूर्व श्रुति में श्री कृष्ण का अनुकूल नायकत्व वर्णित हुआ है। अब निकुंज में राधा कृष्ण के बीच में विरहज मोह और शोक नहीं है, यह बतलाया जाता है। अपनी प्रिया के साथ एकत्व मानने वाले श्रीकृष्ण के, निकुंज

में, सम्पूर्ण देहादिक-आत्मा-श्री राधिका ही बन गये हैं, वहाँ विरहज मोह और शोक कहाँ रह सकते हैं? इससे यह सिद्धांत सूचित किया गया है कि श्री कृष्ण का अन्य गोपियों से विरह हो सकता है किन्तु श्री राधा से कभी नहीं होता, यदि कभी वैसा भास होता है तो बह प्रेम-वैचित्य है। जैसा कि राधा-सुधानिधि में श्रीमदाचार्य चरण ने कहा है, 'निकुंज की सीमा में वे श्यामामणि श्री राधा सर्वोत्कर्ष रूप से विद्यमान हैं जो प्रियतम के अंकस्थित होने पर भी 'हा मोहन' इस प्रकार का मधुर प्रलाप अकस्मात कर उठती हैं।'

श्री व्यासनन्दन भाष्य.—इस भाष्य को प्रियादास जी पूर्ण नहीं कर सके और यह ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के केवल तीन पादों पर ही मिलता है। इसको त्रिपदी भाष्य भी कहते हैं। इसमें भी प्रत्येक सूत्र के दो अर्थ किये गये हैं। चौथे सूत्र का निगूढ़ अर्थ यहाँ उद्धृत किया जाता है।

तत्तुसमन्वयात्। १-१-४ ब्र. सू.

निगूढ़ पक्षेतु प्रथमाधिकरणे ब्रह्मपदेन 'योसौ परंब्रह्म गोपालः' 'गूढ़ं परंब्रह्म मनुष्य लिङ्गम्' इत्यादि प्रतिपादितं। कृष्णाख्यं ब्रह्म जिज्ञास्य मुक्तं तत्केवलं राधा सहितं वा किं? तावत् प्राप्तं केवल मेव तस्मात् 'कृष्ण एव परोदेवस्तंध्यायेत्तंरसेत्,' 'कृष्णो ह वै परमं दैवतं,' इत्यादि श्रुतिषु केवलस्यैव प्रोक्तत्वाद् इति। सिद्धान्त माह, तत्तुसमन्वयात्, तद्राधाख्य तत्वसमन्वयात्। यत्सत्वे यत्सत्व मन्वयः, सं, सम्यगन्वयः समन्वयस्त स्मात्, तुकारः समुच्चये। 'एकोदेवो नित्य लीलानुरक्तः एका काकी न रमते, द्वितीय मैक्षत् स

पतिः पत्नी चाभवता' मित्यादि ।श्रुतिषु पत्नी रूप श्री राधाख्य तत्व सत्वे एव तद्देवत्व सत्वमित्यन्वयात् । दिव्धातोः क्रीड़ार्थत्वादेकाकिनः क्रीड़ाया एवाभावादिति । समुपसर्गेणान्वयस्यैव सम्यक्त्वमुक्त भवति। राधाया अभावे लीलाया एवाभाव, इति व्यतिरेक संभवेपि कदाचिद पितदभावस्यैव वक्तुमशक्यत्वेन व्यतिरेकस्या समीचीनत्वात् ।

भावार्थः—अब इस सूत्र का निगूढ़ अर्थ लिखा जाता है। प्रथम अधिकरण में नराकृति परब्रह्म का प्रतिपादन हुआ है। प्रश्न यह होता है कि जिस कृष्ण नामक परब्रह्म की जिज्ञासा करने को वहाँ कहा गया है, वह अकेला है या राधा सहित है ? अनेक श्रुतियों ने अकेले श्री कृष्ण का ही ध्यान और आस्वाद करने को कहा है। किन्तु सिद्धान्त पक्ष यह है कि वह कृष्ण-ब्रह्म सदैव राधा नामक तत्व के समन्वय में ही रहता है ! एक की स्थिति के कारण दूसरे की स्थिति को 'अन्वय' कहते हैं और सम्यक् (भली प्रकार से) अन्वय, समन्वय कहलाता है। सूत्र में समन्वय शब्द के पहले लगा हुआ 'तु' अक्षर दोनों के (राधा कृष्ण के) समुच्चय को द्योतित करता है। श्रुति में एक एसे लीलानुरक्त देव का वर्णन मिलता है जो अकेला रमण न कर सकने के कारण पति-पत्नी रूप में विभक्त हो गया है। अतः पत्नी रूप श्री राधा नामक तत्व की उपस्थिति के कारण उस देव का देवत्व स्थित है क्यों कि दिव्धातु का अर्थ क्रीड़ा है और एकाकी क्रीड़ा करना असंभव है। अन्वय शब्द का यही अर्थ है और 'सं' उपसर्ग के द्वारा

उसका सम्यक्त्व कहा गया है। राधा के अभाव में लीला का अभाव है, यह व्यतिरेक यद्यपि संभव है किन्तु कभी इस प्रकार का अभाव होता नहीं है अतः व्यतिरेक का कथन असमीचीन है।

हितमतार्थ चन्द्रिका:—सुन्दर मंगलाचरण[1] से आरंभ होने वाले इस ग्रन्थ में अन्य मन्त्रों से वैष्णव मंत्रों की श्रेष्ठता, वैष्णव गुरु के लक्षण, वैष्णवों के पंच संस्कार[2] और उन संस्कारों का राधावल्लभीय संप्रदाय में गृहीत रूप, श्री राधा कृष्ण का परात्परत्व, श्री राधा के स्वरूप का मार्मिक विवेचन, श्री राधा का स्वकीयात्व प्रतिपादन और अन्त में श्री हिताचार्य का सब आचार्यों में श्रेष्ठत्व स्थापित किया गया है। ग्रन्थ की रचना सं० १९०५ में हुई है।

अध्वविनिर्णय की टीका:—इक्यावन श्लोक के छोटे से ग्रन्थ की शास्त्री जी ने यह बहुत विस्तृत टीका लिखी है। इसमें संप्रदाय के उपास्य तत्व और उपासना का बड़ा विशद और शास्त्रीय विवेचन किया गया है। इस टीका की रचना सं० १९२१ में हुई है।

---

१. योस्त्यालंबन रूपोपि रसिको रस रूपकः।
हृदयोद्दीपनोमेऽस्तु श्री राधा वल्लभो वर ॥

२. माला मुद्रा तथा नाम मंत्रं पुण्ड्र तथैव च।
अमीह पंच संस्कारा मयात्र परिकीर्तिताः ॥

लेखक की देखी हुई शास्त्री जी की अन्य रचनाओं के नाम हैं, टीका यमुनाष्टक, टीक फुटकर वाणी, सेवा दर्पणम्, त्रिलक्षण भक्ति मीमांसा, मतबोध, तिथि निर्णय, प्रियाचरण चिह्न तात्पर्यम्, उत्सव निर्णय सारम् और भागवत प्रथम श्लोक व्याख्या[1]।

राधामोहन दासः--इनके दो ग्रंथ 'श्री राधावल्लभ भाष्यम्' और श्रीमद्भागवतार्थ दिग्दर्शनम् लेखक ने देखे हैं[2]। द्वितीय ग्रन्थ की पुष्पिका में इन्होंने स्वयं को राजा जयसिंह देव का पुत्र लिखा है और अपना अपर नाम बलभद्र बतलाया है[3]। भाष्य की भूमिका में इन्होंने अपने गुरु का नाम गोस्वामी चन्द्रलालजी, रूपलाल जी और मोतीलाल जो लिखा है और प्रियदास जी (रीवाँ वालों) को भक्ति प्रबोधक बतलाया है[4]।

---

१. श्री राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली में प्रियदास जी की ३७ रचनाओं की सूची दी हुई है।

२. यह दोनों ग्रन्थ अहमदाबाद में श्री राधा प्रताप गोस्वामी के संग्रहालय में हैं।

३. श्री महाराजाधिराज श्री महाराजा श्री राजा जयसिंहदेव सुत अनन्त श्री राधावल्लभस्य कृपा पात्रास्यधिकारी श्री राधामोहन दास अपर नाम श्री बलभद्रः।

४. चन्द्रलालं रूपलालं मोतीलालं गुरुं तथा।
प्रियदासं तथाऽऽचार्यं वंदे भक्ति प्रबोधकम्॥

भूमिका का आरम्भ श्री राधा की वन्दना से होता है और द्वितीय श्लोक में हित स्वरूप श्री हित हरिवंश की वंदना है, जिनको भाष्यकार ने, वंशी स्वरूप और 'गोपी संप्रदाय' का प्रकाशक लिखा है[1]।

यह भाष्य ब्रह्मसूत्र के चारों अध्यायों पर है और इसमें यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि गोपी संप्रदाय के अनुसरण से ही राधाकृष्णात्मक ब्रह्म का साक्षात्कार होता है[2]। इसमें जीव और जगत के संबंध में सामान्य वैष्णव पक्ष ही ग्रहण किया गया है। यह भाष्य सं १८९४ माघ कृष्णा १ गुरुवार को पूर्ण हुआ है।

"श्रीमद्भागवत दिग्दर्शनम्" में प्रथम स्कंध से द्वादश स्कंध तक की कथाओं का संक्षिप्त वर्णन संस्कृत गद्य में किया गया है। इसमें रचना काल नहीं दिया गया है।

---

१. हितादि हरिवंश च वन्दे तद्हितकारणम्।
वंशी स्वरूपिणं गोपी संप्रदाय प्रकाशनम्।।

२. गोपी संप्रदानुसरणे नैव राधाकृष्णात्मक ब्रह्म साक्षात्कार इति सिद्धान्तितम्।

श्री प्रियालाल गोस्वामी—यह प्रयाग-प्रवासी विद्वद्वर श्री प्रियतमलाल गोस्वामी के पुत्र थे। इनका एक ही ग्रन्थ 'राधाराद्धान्त तरंगिणी' लेखक ने देखा है। इसमें चौदह तरंग हैं। प्रथम तरंग में गुरु-स्वरूप का कथन, द्वितीय तरंग में दीक्षा-वर्णन, तृतीय तरंग में ऊर्द्ध्व पुण्ड्र और मुद्राओं का माहात्म्य-कथन, चतुर्थ तरंग में तुलसी माला और वैष्णव-संस्कारों का वर्णन, पंचम में प्रसाद-महिमा, षष्ठ में वैष्णव-माहात्म्य, सप्तम में श्री वृन्दाबन-महिमा, अष्टम में राधाकृष्ण का ऐक्य-निरूपण, नवम में स्व संप्रदाय कथन, दशम में श्री हिताचार्य का वर्णन, एकादश में श्री हितप्रभु के वंश का वर्णन और श्री किशोरीवल्लभ का प्रादुर्भाव वर्णन, द्वादश में अपने पूर्वजों का वर्णन, त्रयोदश में वार्षिक उत्सवों का वर्णन और चतुर्दश में आह्निक पूजनादिक का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना सं १९१६ में हुई है[1]।

श्री वंशीलाल गोस्वामी—यह श्री बनचन्द्र गोस्वामी के, तृतीय पुत्र श्री नागरवर गोस्वामी की पुत्री के यशस्वी वंश में उत्पन्न हुए थे। इनका केवल एक ही ग्रन्थ 'राधेय सिद्धान्त' लेखक ने देखा है। यह अत्यन्त प्रौढ़ संस्कृत गद्य में लिखा हुआ है और इसमें श्री राधा का परात्परत्व स्थापित किया गया है। इसकी रचना सं० १९०९ में हुई है[2]।

---

१ स्कन्दास्येन्दु नवेन्दु वत्सर वरे माघेसिते पंचमी।

२ यह ग्रंथ अहमदाबाद में श्री राधाप्रताप गोस्वामी के संग्रहालय में है।

संप्रदाय के संस्कृत ग्रन्थों की खोज अभी तक बिलकुल अधूरी है। अतः संस्कृत-साहित्य का ऊपर दिया हुआ परिचय भी सर्वथा अपूर्ण है। यहाँ मुख्यतः उन्हीं ग्रन्थों का परिचय दिया गया है, जो वृन्दाबन के संग्रहालयों में उपलब्ध हैं। संप्रदाय के व्रजभाषा साहित्य में जिस प्रकार श्री हिताचार्य के जन्म की अनेक 'बधाइयाँ' मिलती हैं, उसी प्रकार संस्कृत में श्री हरिवंशाष्टक और श्री हिताष्टक प्राप्त हैं। अष्टक कारों में श्री बनचन्द्र गोस्वामी, श्री प्रबोधानंद सरस्वती, श्री कृष्णचन्द्र गोस्वामी, श्री लोकनाथ जी, श्री भागवतावतंस जी, श्री जयवल्लभ गोस्वामी, श्री मनोहरदास जी, श्री प्रेमदास जी, श्री गोपाल पंडित, श्री चतुरशिरोमणिलाल गोस्वामी, श्री शिव-प्रसाद जी, श्री रंगीलाल गोस्वामी, श्री ललितवल्लभ गोस्वामी, श्री प्रियतमलाल गोस्वामी और श्री प्रियालाल गोस्वामी के नाम उल्लेखनीय हैं।

राधावल्लभीय संप्रदाय अपने संस्कृत साहित्य की ओर से, ज्ञात होता है, आरम्भ से ही उदासीन रहा है। परिणा-मतः अनेक संस्कृत ग्रन्थ या तो सर्वथा नष्ट हो गये हैं, या संप्रदाय के संग्रहालयों में अनुपलब्ध हो गये हैं। कुछ दिन पूर्व लेखक को विश्वस्त सूचना मिली थी कि बड़ौदा के पुस्तकालय में श्री बनचन्द्र गोस्वामी के किसी शिष्य द्वारा रचित 'वृषभानुजा' नामक संस्कृत नाटक संग्रहीत है, जो संभवतः बम्बई से प्रकाशित हुआ था किन्तु अब अनुपलब्ध है। लेखक ने महमदाबाद में श्री रणछोड़लाल गोस्वामी के

संग्रहालय में श्री बनचन्द्र गोस्वामी के ही एक अन्य शिष्य परमानंददास जी कृत 'भक्ति दीप' की एक प्रति देखी थी जो बीच में कई जगह से खंडित है। इसके ९६ पृष्ठों में से केवल ४० पृष्ठ प्राप्त हैं। इसमें प्रौढ़ संस्कृत गद्य में भक्ति का मौलिक विवेचन किया गया है।

जिनकी कृपा-कटाक्ष सौं लह्यौ कछुक विश्राम।
जयश्री श्यामलाल युग चरण में मेरी कोटि प्रणाम॥

नामानुक्रमणिका

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६३	५	हति-धर्म	हित धर्म
६८	१	(सं० १५६८)	(सं० १५६८)
१६०	३	समाया	समाय
१६७	१३	उनके	उनकी
२४०	१०	हाँ	तहाँ
२४२	२१	परसहीं	दरसहीं
२५०	१३	हेतु	हेत
२५०	१६	वाँसुरीं	नासुरी
२५३	३	राधिका	राधिकां
२६८	१२	रज	रस
२७०	११	गततरवितनाया	गत रवितनया
२६६	१०	नित्य	नित्य-नित्य
३०३	१६	सुरभि	सुरभिलैं
३६०	२२	सुसंस्कृरिता—	सुसंस्कारिता
३६५	१	जातो है	जाता है
३६६	२२	मिलि सरस	सरस मिलि
३७१	६	पिय वन	वन पिय
३८०	६	कपि	पिक
४०६	१२	पुलनि	पुलिन
४३६	२	सननि	सैननि
४७६	१६	कसी	कैसी
४७८	६	मनि	मनि कवनी
४८४	१६	बौच	बीच
४८८	१४	रिझावर	रिझवार
४८८	२३	फबा	फबी
४६०	२५	सुगिरि	सुमिरि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५०१	२२	लगता	लगती
५०१	२३	अतीद्रिन्य	अतीन्द्रिय
५०४	४	कामनी	कमनी
५०५	१२	मन्द्र	मनु
५१२	११	श्यमा	श्यामा
५१२	१२	ससौं	सौं
५१२	२२	अगस सी	अगस गसी
५१२	२५	दूंदैं	बूदैं
५१२	२५	निधि	विधि
५१७	२३	विदारिन	बिहारिनि
५२०	१	बन्धन	बंदन
५२२	२३	विषत	विषम
५२३	१२	तिबहिं	तिनहिं
५३१	१४	जते	जाते
५३२	१८	नीखौ	नौखौ
५३४	६	दूरि दूरि	टूटि-टूटि
५४०	८	भाग	मात्र
५४८	१६	कृपक	कृपैक
५६१	१६	कलि	कल
५६२	२०	परत्राद्भुतानंभूतिः	परत्राद् भुतानंदभूति
५६६	२१	स्मरण	स्मर रण
५७५	१५	रूपभिमानः	रूपाभिमानः
५८२	१६	गंगाब्धि	गंगाब्धिगा
५८६	१८	रभूर्विच्छुभा	रभूच्छुभा
५६०	२१	गोवर्धनाराधानादौ	गोवर्धनाराधन
५६५	११	इत्याहा यास्मिन	इत्याह यस्मिन